॥ श्रीहरिः ॥

1955

जीवनचर्या-विज्ञान

[गृहस्थ-जीवनमें रहनेकी कला]

गीताप्रेस, गोरखपुर

1955

॥ श्रीहरिः ॥

जीवनचर्या-विज्ञान

[गृहस्थ-जीवनमें रहनेकी कला]

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

स्वामी शंकरानन्द सरस्वती

जीवनचर्याका सन्देश

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥

आप सबके मध्यमें विद्वेषको हटाकर मैं सहृदयता, संमनस्कताका प्रचार करता हूँ। जिस प्रकार गौ अपने बछड़ेसे प्रेम करती है, उसी प्रकार आप सब एक-दूसरेसे प्रेम करें।

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम्॥

पुत्र पिताके व्रतका पालन करनेवाला हो तथा माताका आज्ञाकारी हो। पत्नी अपने पतिसे शान्तियुक्त मीठी वाणी बोलनेवाली हो।

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया॥

भाई-भाई आपसमें द्वेष न करें। बहन-बहनके साथ ईर्ष्या न रखें। आप सब एकमत और समान व्रतवाले बनकर मृदु वाणीका प्रयोग करें।

येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः।
तत्कृणमो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः॥

जिस प्रेमसे देवगण एक-दूसरेसे पृथक् नहीं होते और न आपसमें द्वेष करते हैं, उसी ज्ञानको तुम्हारे परिवारमें स्थापित करता हूँ। सब पुरुषोंमें परस्पर मेल हो।

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोमि॥

श्रेष्ठता प्राप्त करते हुए सब लोग हृदयसे एक साथ मिलकर रहो, कभी विलग न होओ। एक-दूसरेको प्रसन्न रखकर एक साथ मिलकर भारी बोझेको खींच ले चलो। परस्पर मृदु सम्भाषण करते हुए चलो और अपने अनुरक्तजनोंसे सदा मिले हुए रहो।

समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः॥

अन्न और जलकी सामग्री समान हो। एक ही बन्धनसे सबको युक्त करता हूँ। अतः उसी प्रकार साथ मिलकर अग्निकी परिचर्या करो, जिस प्रकार रथकी नाभिके चारों ओर अरे लगे रहते हैं।

सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोम्येकश्नुष्टीन्त्संवननेन सर्वान्।
देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायंप्रातः सौमनसो वो अस्तु॥

समान गतिवाले आप सबको संमनस्क बनाता हूँ, जिससे आप पारस्परिक प्रेमसे समान भावोंके साथ एक अग्रणीका अनुसरण करें। देव जिस प्रकार समानचित्तसे अमृतकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार सायं और प्रातः आप सबकी उत्तम समिति हो। [**अथर्ववेद ३।३०।१—७**]

निवेदन

मनुष्यका यह स्वभाव है कि वह सुखपूर्वक जीवन जीना चाहता है, जीवनपर्यन्त सुखके लिये प्रयासरत भी रहता है; परंतु विडम्बना यह है कि वह सुख दूसरोंमें खोजता है अर्थात् पति पत्नीसे सुख चाहता है, पत्नी पतिसे सुख चाहती है, पिता पुत्रसे सुख चाहता है, पुत्र पितासे सुख चाहता है। भाई दूसरे भाईसे, एक मित्र दूसरे मित्रसे अपेक्षाएँ करते हैं। किसी कारणसे जब उनकी इच्छाएँ पूरी नहीं होतीं तो उन्हें स्वाभाविक रूपसे क्रोध आता है, राग-द्वेष प्रारम्भ हो जाता है। जिनसे हमारी कामनाएँ पूरी हो जाती हैं, उनमें राग और जिनसे कामनाएँ पूरी नहीं होतीं, उनसे द्वेष हो जाता है। यह सब अज्ञानताके कारण होता है। यह राग-द्वेष ही हमारे जन्म-मरणके बन्धनका हेतु है अर्थात् संसारकी इस भवाटवीमें भटकते रहनेका कारण है।

अपने शास्त्र कहते हैं कि चौरासी लाख योनियोंमें भटकता हुआ प्राणी भगवत्कृपासे तथा अपने पुण्य-पुंजोंसे मनुष्ययोनि प्राप्त करता है। मनुष्य-शरीर प्राप्त करनेपर उसके द्वारा जीवनपर्यन्त किये गये अच्छे-बुरे कर्मोंके अनुसार पुण्य-पाप और सुख-दुःख आगेके जन्मोंमें भोगने पड़ते हैं—**'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्'**। शुभ-अशुभ कर्मोंके अनुसार ही विभिन्न योनियोंमें जन्म होता है। पापकर्म करनेवालोंका पशु-पक्षी, कीट-पतंग आदि तिर्यक् योनि तथा प्रेत-पिशाच आदि निम्न योनियोंमें जन्म होता है। पुण्य-कर्म करनेवालेका मनुष्ययोनि, देवयोनि आदि उच्च योनियोंमें जन्म होता है। मानव-योनिके अतिरिक्त संसारकी जितनी भी योनियाँ हैं, वे सब भोग-योनियाँ हैं, जिनमें अपने शुभ तथा अशुभ कर्मोंके

अनुसार पुण्य-पाप अर्थात् सुख-दुःख भोगना पड़ता है; केवल मनुष्य-योनि ही है, जिसमें जीवको अपनी विवेक-बुद्धिके अनुसार शुभ-अशुभ कर्म करनेकी सामर्थ्य प्राप्त होती है।

अतः मनुष्य-जन्म लेकर प्राणीको अत्यन्त सावधान रहनेकी आवश्यकता है, कारण; इस भवाटवीमें अनेक जन्मोंतक भटकनेके बाद अन्तमें यह मानव-जीवन प्राप्त होता है, जहाँ प्राणी चाहे तो सदा-सर्वदाके लिये अपना कल्याण कर सकता है अथवा भगवत्प्राप्ति कर सकता है अर्थात् जन्म-मरणके बन्धनसे भी मुक्त हो सकता है, परंतु इसके लिये अपने सनातन शास्त्रोंद्वारा निर्दिष्ट प्रक्रियाका अनुपालन करना पड़ेगा।

वस्तुतः हमारे शास्त्र परमात्मप्रभुकी आज्ञा हैं तथा प्राणिमात्रके कल्याणके संविधान हैं। भगवान् कहते हैं कि जो मेरी आज्ञाका उल्लंघन करता है, वह मेरा द्वेषी है तथा वैष्णव होनेपर भी मेरा प्रिय नहीं है—

श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे यस्ते उल्लंघ्य वर्तते।
आज्ञाच्छेदी मम द्वेषी मद्भक्तोऽपि न वैष्णवः॥

(वाधूलस्मृति १८९)

श्रीमद्भगवद्गीतामें अर्जुनकी जिज्ञासापर कि कर्तव्यका निर्णय कैसे किया जाय? भगवान्ने कहा—कर्तव्य (क्या करना चाहिये) और अकर्तव्य (क्या नहीं करना चाहिये)-की व्यवस्थामें शास्त्र ही प्रमाण हैं, यह समझकर तुम्हें शास्त्रविधिसे नियत कर्म ही करना चाहिये—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥

(गीता १६। २४)

भगवान् तो यहाँतक कहते हैं कि जो पुरुष शास्त्र-विधिका त्यागकर अपनी इच्छासे मनमाना आचरण करता है; वह न सिद्धिको प्राप्त होता है, न उसे सुख मिलता है और न उसे परमगति ही प्राप्त होती है—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥

(गीता १६। २३)

शास्त्रकी परम्परामें इन सभी क्रिया-कलापोंके लिये विधि-निषेधका एक विधान बना हुआ है, जो इस विधानके अन्तर्गत अपने क्रिया-कलापोंका सम्पादन करता है, वह वस्तुतः भगवान्की आज्ञाका पालन करता है। उसके वे सभी क्षण जो अनिवार्यरूपसे दैनिकचर्या आदि कार्य-कलापोंके सम्पादनमें लगते हैं, वे क्षण भी उसके पुण्यार्जनमें सहायक होते हैं। यदि भावना शुद्ध हो तो वे सभी कार्य-कलाप भगवत्-आराधनके अन्तर्गत होते हैं।

कई लोग चौबीस घंटेमें एक-आध घंटा समय निकालकर भगवान्की पूजा, ध्यान, समाधि करते हैं तथा कई लोग परोपकारकी भावनासे एक-दो घंटे समाज-सेवा आदि कार्योंमें भी समय लगाते हैं, परंतु इसके अतिरिक्त समय—बाईस घंटेमें वे क्या करते हैं? यदि काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, ईर्ष्या, राग-द्वेषके वशीभूत होकर अपने स्वार्थकी पूर्तिमें असत्यका आश्रय लेते हैं—झूठ बोलते हैं, बेईमानी करते हैं, शास्त्रकी आज्ञाके विपरीत कार्य करते हैं, अपने थोड़े लाभके लिये दूसरोंका बड़ा नुकसान करते हैं तो उन्हें एक-दो घंटेके पुण्य-कर्मका भी फल मिलेगा तथा बाईस घंटे जो पाप-कर्म किया—उसका भी फल भोगना पड़ेगा।

इस प्रकार वे स्वर्ग-नरक, सुख-दुःख भोगते हुए संसारकी इस भवाटवीमें अनेक योनियोंमें जनमते-मरते रहेंगे। इस चक्रसे उनका पिण्ड छूटना सम्भव नहीं है। इसलिये चाहिये कि चौबीस घंटेका समय भगवान्‌की पूजा बन जाय। हम खाते-पीते हैं, सोते हैं, नित्य-क्रिया करते हैं—ये सब-के-सब भगवत्-आराधनके रूपमें परिणत हो जायँ। इसकी प्रक्रिया हमारे शास्त्र बताते हैं।

अतः कल्याणकामी व्यक्तिको शास्त्रसे सम्बन्धित जीवनचर्या (जन्मसे लेकर मृत्युपर्यन्त) तथा दैनिकचर्या (प्रातःजागरणसे लेकर रात्रि-शयनपर्यन्त) चलानी चाहिये। पूर्वजन्मके भी शुभ-अशुभ संस्कार सूक्ष्म-शरीर तथा कारण-शरीरके द्वारा अगले जन्ममें प्रारब्ध बनकर साथ रहते हैं। इसलिये पूर्ण सावधानीकी आवश्यकता है।

वस्तुतः सनातन-परम्पराके अनुसार अपनी दिनचर्या और जीवनचर्या चलाना कोई कठिन कार्य नहीं है, इसके लिये केवल दो बातोंकी आवश्यकता होती है—एक मनमें 'दृढ़ आस्था', दूसरा 'अभ्यास'। अपने यहाँ कुछ ऐसे सामान्य कर्म हैं, जो देखनेमें अत्यन्त साधारण प्रतीत होते हैं और यदि थोड़ा उनपर ध्यान दिया जाय तो उन अत्यन्त साधारण कर्मोंसे भी जीवनका महान् कार्य सम्पादित होता है। उदाहरणार्थ भोजन करनेकी प्रक्रियामें भोजन प्रारम्भ करनेके पूर्व '**ॐ अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा**' इस मन्त्रसे आचमन करनेकी विधि है तथा '**ॐ भूपतये स्वाहा, ॐ भुवनपतये स्वाहा, ॐ भूतानां पतये स्वाहा**'—इन तीन मन्त्रोंसे तीन ग्रास निकालनेकी विधि है। इसके अनन्तर '**ॐ प्राणाय स्वाहा, ॐ अपानाय स्वाहा, ॐ व्यानाय स्वाहा, ॐ उदानाय स्वाहा, ॐ समानाय स्वाहा॥**' मन्त्र बोलकर पाँच ग्रास लेनेकी विधि है। भोजनके अन्तमें '**ॐ अमृतापिधानमसि**

स्वाहा' मन्त्र बोलकर पुनः आचमन करनेकी विधि है। प्रारम्भके आचमनमें भोजनको अमृतका बिछावन प्रदान करते हैं। तीन ग्रास निकालकर तीनों लोकोंकी चराचर सृष्टिको तृप्त करनेकी भावना करते हैं। पाँच मन्त्रोंसे पाँच ग्रास लेकर आत्मब्रह्मकी तृप्तिके लिये पाँच आहुति अन्तःस्थलकी जठराग्निरूपी यज्ञमें प्रदान करते हैं। अन्तके आचमनद्वारा किये हुए भोजनको अमृतद्वारा आच्छादित करते हैं। इस कार्यमें एक मिनटका भी समय नहीं लगता। कार्य तो यह कितना साधारण है, परंतु भावना इसमें कितनी महान् है।

इस प्रकार वैदिक जीवनचर्या तथा दैनिकचर्यासे जीवनका विकास तथा आत्मोन्नति होना स्वाभाविक है। आजकलके भौतिक वातावरणमें सामान्यतः शास्त्रमें आस्था रखनेवाले लोग भी इन क्रिया-कलापोंके अदृष्ट लाभ अर्थात् आध्यात्मिक एवं पारमार्थिक महत्त्वके साथ दृष्ट लाभ यानी शरीर-स्वास्थ्यसे सम्बन्धित भौतिक लाभकी भी आकांक्षा रखते हैं। इस भौतिक लाभको वे वैज्ञानिक रूपमें समझना चाहते हैं।

वस्तुतः शास्त्रोक्त प्रक्रियाका महत्त्वपूर्ण रूप आध्यात्मिक और पारमार्थिक ही है, परंतु चूँकि हम संसारके दिखायी देनेवाले अनित्य, नश्वर और अनात्म पदार्थोंको अधिक महत्त्व देते हैं, इसलिये सर्वसाधारणको शास्त्रोक्त शुभ कर्मोंमें प्रवृत्त करनेकी दृष्टिसे एक वीतराग महात्मा स्वामी श्रीशंकरानन्दजी सरस्वती कुछ समय पूर्व ऋषिकेशकी पहाड़ियोंमें तपोमय जीवन व्यतीत करते थे, उनके द्वारा **'जीवनचर्या-विज्ञान'** के नामसे यह पुस्तक लिखी गयी। लोक-कल्याणकी दृष्टिसे ही यह कार्य सम्पादित हुआ है।

आज भी अपने देशमें कुछ ऐसे श्रद्धालु व्यक्ति हैं, जो अपनी

जीवनचर्या वेदशास्त्रानुसार चलाना चाहते हैं, परंतु आवश्यक जानकारीके अभावमें वे इस पुनीत कार्यसे वंचित रह जाते हैं। श्रीस्वामीजी महाराजने अर्वाचीन एवं भौतिक विज्ञानसे समन्वित तर्क एवं युक्तियोंके आधारपर प्राचीन परम्परा एवं वैदिक-जीवनचर्याका विवेचन अत्यन्त सरल शब्दोंमें प्रस्तुत किया है, जो वास्तवमें शास्त्राज्ञा है और आधुनिक जनसामान्यके लिये भी पूर्णतः बोधगम्य है।

अतः वे सभी लोग इस ग्रन्थसे पूर्ण लाभान्वित हो सकेंगे, जो भारतीय संस्कृतिमें आस्था रखते हुए भी आधुनिक शिक्षा-दीक्षा एवं पाश्चात्य संसर्गके कारण भारतीय रहन-सहन एवं वैदिक परम्पराओंके महत्त्वसे अनभिज्ञ हैं। साथ ही जो इसे जीवनमें कार्यान्वित करनेका प्रयास करेंगे, वे अवश्य कल्याण-पथपर अग्रसर होंगे।

—राधेश्याम खेमका

विषय-सूची

विषय **पृष्ठ-सं०**

भूमिका

प्रथम खण्ड

वैदिक-दिनचर्या-विज्ञान

द्वितीय खण्ड

वैदिक-जीवनचर्या-विज्ञान

तृतीय खण्ड

वैदिक-विविधचर्या-विज्ञान

विषय **पृष्ठ-सं०**

॥ श्रीहरिः ॥

भूमिका

धर्माधर्म मानना अन्धविश्वास नहीं

व्यक्तियोंमें सुख-दुःख, बुद्धिमत्ता-अबुद्धिमत्ता, रुग्णता-अरुग्णता तथा दरिद्रता-धनाढ्यताकी विचित्रताका दर्शन सर्वत्र देखनेमें आता है। इस विचित्रताकी संगति केवल दृष्ट कारणोंसे नहीं हो सकती; क्योंकि युगपत्-उत्पन्न युग्म बालकोंमें माता-पिताके खान-पान, बालकोंके लालन-पालन, शिक्षा-दीक्षा आदि दृष्ट कारण समान होते हुए भी जन्मसे ही रुग्णता-अरुग्णता आदिकी विचित्रता देखनेमें आती है। अतः बाध्य हो इस विचित्रताके कारणरूपमें जन्मान्तरीय धर्माधर्मरूप अदृष्ट कारणको मानना ही पड़ता है।

समाचारपत्रोंमें समय-समयपर प्रकाशित होनेवाली पुनर्जन्मकी घटनाओंसे भी उक्त तथ्यकी पुष्टि होती है। योग-साधनाके बिना जन्मान्तरीय घटनाओंका स्मरण कैसे होता है? इस प्रश्नका उत्तर महाभारतके अनुशासनपर्वके १४५वें अध्यायमें दाक्षिणात्य पाठके निम्नलिखित श्लोकोंमें दिया है—

ये मृताः सहसा मर्त्या जायन्ते सहसा पुनः।
तेषां पौराणिकोऽभ्यासः कञ्चित् कालं हि तिष्ठति॥
तस्माज्जातिस्मरा लोके जायन्ते बोधसंयुताः।
तेषां विवर्धतां संज्ञा स्वप्नवत् सा प्रणश्यति॥
परलोकस्य चास्तित्वे मूढानां कारणं त्विदम्।

अर्थात् जो मनुष्य अचानक मर जाते हैं फिर तुरंत मनुष्य-योनिमें उत्पन्न हो जाते हैं, उनका पुराना अभ्यास (ज्ञान) कुछ कालतक रहता है। इसलिये जन्मान्तरका स्मरण करनेवाले ज्ञानयुक्त

प्राणी उत्पन्न होते हैं। उनकी अवस्था बढ़नेपर उनका ज्ञान स्वप्नकी तरह नष्ट हो जाता है। जन्मान्तर न माननेवालोंके लिये ऐसी घटनाएँ दृष्टान्तरूप होती हैं।

महाभारतका उपर्युक्त समाधान वर्तमानकी पुनर्जन्मकी घटनाओंमें भी स्पष्ट देखनेको मिलता है; क्योंकि जन्मान्तरकी घटनाओंका कथन करनेवाले बालक अचानक मृत होकर तुरंत उत्पन्न होनेवाले ही होते हैं और अवस्था बड़ी होनेपर उनका वह ज्ञान नष्ट भी हो जाता है।

उपर्युक्त युक्ति तथा घटनाओंसे स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि अदृष्ट कारणरूप धर्माधर्मका मानना अन्धविश्वास नहीं।

व्यष्टि पिण्डकी तरह समष्टि पिण्डरूप ब्रह्माण्डकी विचित्रताकी संगति भी दृष्ट कारणमात्रसे न हो सकनेके कारण उसके लिये भी अदृष्ट कारणरूप समष्टि-धर्माधर्मका मानना अनिवार्य है। समष्टि-धर्माधर्मका खण्डन करते हुए 'जैनदर्शन' नामक हिन्दीग्रन्थमें ग्रन्थकारने कहा है कि '५० वर्षपर्यन्त टिकाऊ एक दरीका आजकी तिथिमें निर्माण हुआ, ५० वर्षमें उसके ऊपर हजारों व्यक्ति बैठकर सुखका अनुभव करेंगे, इसलिये उन सभी व्यक्तियोंके समष्टि-धर्मसे दरीका निर्माण हुआ है' ऐसा मानना सर्वथा उपहासयोग्य है; क्योंकि उनमेंसे सैकड़ों व्यक्ति तो ऐसे होंगे, जिनका अस्तित्व अभी माता-पिताके रज-वीर्यमें भी नहीं प्रकट हुआ।

यहाँ विचारणीय यह है कि व्यष्टि पिण्ड (शरीर)-की उत्पत्ति और नाशमें व्यक्तिके व्यष्टिधर्माधर्मकी हेतुता तो जैनदर्शनको भी मान्य ही है। ऐसी दशामें जबकि एक लघुकाय शरीररूप पिण्डकी उत्पत्ति-विनाश बिना हेतुके नहीं हो सकते तब विशालकाय पर्वतखण्डकी उत्पत्ति-विनाश बिना हेतुके ही हो जायँगे, ऐसा कोई

बुद्धिमान् कैसे कह सकता है? जैसे पिण्डरूप शरीरकी उत्पत्तिमें माता-पिताके रज-वीर्यका संयोग तथा शरीरके विनाशमें धातु-वैषम्य आदि अवान्तर दृष्ट कारणोंके मान्य होते हुए भी मुख्य कारण उस व्यक्ति (जीव)-के अदृष्टरूप धर्माधर्मको ही मानना पड़ता है, जिस जीवको उस शरीरके माध्यमसे सुख-दुःख भोगना पड़ा है। वैसे ही पर्वतखण्डकी उत्पत्तिमें पवनद्वारा परमाणुओंका एकत्र होना, जलसे पिण्डित होना, सूर्य-तापद्वारा परिपक्व होकर कठिन होना आदि तो अवान्तर कारण ही हो सकते हैं एवं पर्वतखण्डके विनाशमें भूचाल आदि भी अवान्तर कारण ही होते हैं। मुख्य कारण तो उन सहस्रों जीवोंके अदृष्टरूप समष्टिधर्माधर्मको ही मानना पड़ेगा, जिन जीवोंको उस पर्वतखण्डके माध्यमसे सुख-दुःख भोगना पड़ा है।

इस प्रकार गम्भीर विचार करनेपर दुराग्रहरहित विचारकको यह मानना ही पड़ता है कि व्यष्टि-समष्टिकी विचित्रताओंकी सम्यक् संगति अदृष्टरूप व्यष्टि-समष्टि-धर्माधर्म माने बिना दृष्ट कारणमात्रसे नहीं हो सकती। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि शास्त्रकारोंको दृष्ट कारण मान्य ही नहीं। यदि ऐसा होता तो शास्त्रोंमें गर्भाधान, गर्भवतीके खान-पान, बालकके लालन-पालन और शिक्षा-दीक्षाका विधान शास्त्रकार न करते। उपर्युक्त विवेचनसे यह सिद्ध हो जाता है कि धर्माधर्म मानना अन्धविश्वास नहीं।

धर्माधर्म प्रत्यक्षप्रमाणगम्य नहीं

नेत्र आदि प्रत्यक्षप्रमाणोंके द्वारा रूप आदि स्व-स्व लौकिक विषयोंका ही प्रत्यक्ष हो सकता है, रूपादिसे रहित होनेके कारण अलौकिक धर्माधर्मका नहीं। पशु-पक्षी आदि रूपवान् पदार्थोंकी गतिका प्रत्यक्ष नेत्रसे होता है, ऐसा लोकव्यवहारमें माना जाता है।

दर्शनमर्मज्ञोंका तो कहना है कि रूपरहित होनेके कारण नेत्रद्वारा गतिका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। इसका अनुभव प्रयोगके द्वारा भी कराया जा सकता है। घड़ीकी घंटेवाली सूईकी गति अतिमन्द होनेके कारण पूर्ण सावधानीसे देखनेपर भी नेत्रद्वारा गृहीत नहीं होती एवं पंखे आदि यन्त्रोंकी अतितीव्र गतिका भी प्रत्यक्ष नहीं होता। अतः अतितीव्र तथा अतिमन्द गतिका प्रत्यक्ष नहीं होता, इसमें किसीको विवाद नहीं हो सकता। मध्यम गतिका प्रत्यक्ष नहीं होता है, इस बातका अनुभव करनेके लिये एक नये स्वच्छ विद्युत्मापक यन्त्र (मीटर)-को लीजिये, एक छोटे पावरके बल्बको जलाकर यन्त्रसे दूर खड़े होकर पूर्ण मनोयोगसे देखनेपर भी आपको यन्त्रकी गतिका प्रत्यक्ष नहीं होगा, किंतु जब काला या लाल चिह्न आयेगा तब आपको गतिका प्रत्यक्ष अवश्य होगा।

अब यहाँ यह विचार कीजिये कि यदि वह मध्यम गति प्रत्यक्षके योग्य नहीं थी तो काला निशान आनेपर उस मध्यम गतिका प्रत्यक्ष कैसे हुआ? और यदि वह प्रत्यक्ष-योग्य थी तो उसका पहले प्रत्यक्ष क्यों नहीं हुआ? तब आपको उक्त अन्वय-व्यतिरेकके द्वारा यह ज्ञान हो जायगा कि नेत्र तो वस्तुतः पदार्थके रूपमात्रको ग्रहण करनेमें ही समर्थ हैं, नेत्र तो काले निशानके भिन्न-भिन्न स्थान-स्थित चित्रोंका ही ग्रहण करते हैं, नेत्रके पीछे लगी हुई बुद्धि ही भिन्न-भिन्न स्थानोंकी तारतम्यतापर विचारकर गतिका निर्णय देती है। नेत्रद्वारा चित्रोंका ग्रहण और नेत्रके पीछे लगी हुई बुद्धिद्वारा गतिका निर्णय अति सूक्ष्मतासे होनेके कारण हम ऐसा समझते हैं कि नेत्रद्वारा गतिका प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा है। यह बात श्रोत्र आदि अन्य इन्द्रियोंद्वारा गृहीत स्व-स्व विषयोंकी गति-मन्दता, उत्कृष्टता आदिके बारेमें भी समझ लेनी चाहिये।

उक्त विचारसे यह स्पष्ट निर्णय हो जाता है कि जब रूपरहित लौकिक गति आदिका ही नेत्र आदि प्रत्यक्ष प्रमाणोंद्वारा प्रत्यक्ष नहीं होता तब रूपादिहीन अलौकिक धर्माधर्मका नेत्रादिद्वारा प्रत्यक्ष न हो तो इसमें कहना ही क्या है? यहाँ यह भी ध्यानमें रख लेना चाहिये कि भौतिक विज्ञानके यन्त्र भी नेत्र आदि इन्द्रियोंके विषयोंको ही लघु-विशाल, सूक्ष्म-स्थूल, विशद-अविशद रूपोंमें दिखा सकते हैं, अतः भौतिक विज्ञानके यन्त्रोंद्वारा भी लौकिक गति तथा अलौकिक धर्माधर्मका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता।

धर्माधर्मका निर्णय मानवबुद्धिसे सम्भव नहीं

कुछ बुद्धिमान् मनुष्योंका कहना है कि 'जिस कर्मसे स्वको सुख हो, उस कर्मको धर्म कहते हैं।' उनका यह कथन ठीक नहीं, कारण यह है कि रोगी मनुष्य कुपथ्य सेवन-कालमें स्वको सुखी मानता है, तो भी उसके उस कर्मको कोई सामान्य मनुष्य भी धर्म नहीं मानता। यदि कहें कि 'जो कर्म कालान्तरमें भी दुःख न दे; उसे धर्म कहते हैं।' यह लक्षण भी ठीक नहीं; क्योंकि जो रोगी चोरी करके सुपथ्यका सेवन करता है तथा चोरीका रहस्य प्रकट न होनेसे कालान्तरमें भी दुःख नहीं पाता, तो भी उसके उस चोरीरूप कर्मको धर्म कोई नहीं मानता।

कुछ मनीषी मनुष्योंका कहना है कि मनुष्य सर्वोत्कृष्ट प्राणी है, अतः इसे स्वसुखकी अपेक्षा परसुखको ही अधिक महत्त्व देना चाहिये, चोरीरूप कर्मसे परसुखका नाश होता है। अतः धर्मका शुद्ध स्वरूप यह है कि 'जिस कर्मसे दूसरेको सुख हो, वह कर्म धर्म है।' यह कथन भी सारहीन है; क्योंकि इस लक्षणके अनुसार तो सुयोग्य वैद्यद्वारा रोगीको मनोवांछित कुपथ्य-दानरूप कर्मको भी धर्म मानना होगा, परन्तु कुपथ्य-दानरूप कर्मको धर्म तो अल्पबुद्धि

मनुष्य भी नहीं मान सकते।

अन्य मननशील मानवोंका कथन है कि कुपथ्यदानरूप कर्मसे रोगीको सुख होनेपर भी सुयोग्य वैद्यको दुःख होता है। अतः धर्मका परिशुद्ध स्वरूप यह है कि 'जिससे स्व और पर दोनोंको सुख हो, वह कर्म धर्म है'। यह लक्षण भी अतितुच्छ है; क्योंकि मानवबुद्धिसे धर्माधर्मका निर्णय करनेवाले तथा धर्माधर्ममें वेद-प्रमाणको कपोलकल्पना कहनेवालोंके प्रति आचार्य कुमारिलभट्टने कहा है—

अनुग्रहाच्च धर्मत्वं पीडातश्चाप्यधर्मताम्।
वदतो जपसीध्वादिपानादौ नोभयं भवेत्॥
क्रोशता हृदयेनापि गुरुदाराभिगामिनाम्।
भूयान् धर्मः प्रसज्येत भूयसी उपकारिता॥

अर्थात् अनुग्रह (सुख)-से धर्म और पीड़ासे अधर्म होता है, ऐसा कहनेवालोंके मतानुसार तो जप करनेसे धर्म और मद्यपानसे अधर्म— ये दोनों ही नहीं होंगे। इतना ही नहीं, किंतु हृदयके आक्रोशयुक्त (कम्पयुक्त) होनेपर भी गुरुदाराभिगमन करनेवालोंको महान् धर्म तथा महती परोपकारिताकी प्राप्ति होगी।

यहाँतक जो विचार किया गया है, वह तो धर्माधर्मको केवल दृष्टफलप्रद मानकर किया गया है, इसका ही जब मानवबुद्धिसे निर्णय नहीं हो सकता, तब अदृष्टफलप्रद धर्माधर्मका निर्णय तो मानव-बुद्धिसे किसी प्रकार भी नहीं हो सकता।

धर्माधर्म सर्वज्ञयोगिगम्य भी नहीं

धर्माधर्म इन्द्रियगम्य न होनेके कारण इन्द्रियोंकी सामर्थ्यमें अतिशय ला देनेवाले आधुनिक परिष्कृत यन्त्रोंद्वारा जैसे धर्माधर्मका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, वैसे ही योगसाधनाद्वारा भी नहीं हो सकता;

क्योंकि दूर, सूक्ष्म और व्यवहित स्व-स्व विषयोंको ग्रहण करनेका सामर्थ्यरूप अतिशय ही इन्द्रियोंमें योगसाधनासे आता है, अतः योगसाधनासे भी यह सम्भव नहीं कि स्व-विषयका अतिक्रमणकर इन्द्रियाँ स्व-अगोचर धर्माधर्मको ग्रहण कर सकें। अतः आचार्य कुमारिलने स्पष्ट शब्दोंमें कहा है—

यत्राप्यतिशयो दृष्टः स स्वार्थानतिलङ्घनात्।
दूरसूक्ष्मादिदृष्टौ स्यात् न रूपे श्रोत्रवृत्तिता॥

अतएव इसीसे यह कहना भी खण्डित हो जाता है कि 'अयोगी मानव भले ही धर्माधर्मका प्रत्यक्ष न कर सकें, चरम योगसाधनासे सम्पन्न हमारे सर्वज्ञयोगी भगवान् बुद्ध, भगवान् महावीर या मुहम्मद साहब तो धर्माधर्मका साक्षात्कार कर ही सकते हैं'।

धर्माधर्म तपस्यादिगम्य नहीं

तपस्यासे धर्माधर्मका साक्षात्कार माननेवालोंके पक्षमें भी यह विचारणीय है कि 'अमुक प्रकारकी तपस्यासे धर्माधर्मका साक्षात्कार होता है' यह बात कैसे जानी गयी? यदि कहें कि धर्माधर्म-साक्षात्कर्ता हमारे आचार्य भगवान् बुद्ध तथा महावीर आदिके पूर्व-प्रचलित धर्मशास्त्रोंसे जानी गयी। इस उत्तरसे तो धर्माधर्ममें मुख्य प्रमाण वेदोंका ही सिद्ध होता है; क्योंकि भगवान् बुद्ध तथा महावीर आदि धर्माचार्योंके पूर्व प्राचीन वेद ही धर्मशास्त्रके रूपमें प्रचलित थे। धर्मशास्त्रोंमें वेद ही सर्वाधिक प्राचीन धर्मशास्त्र हैं, यह बात तो आज पुरातत्त्व विभागके अन्वेषणोंद्वारा भी निर्विवाद सिद्ध हो गयी है तथा पुस्तकालयोंमें संगृहीत हस्तलिखित धर्मशास्त्रोंमें भी सर्वाधिक प्राचीन वेदोंकी ही प्रतियाँ मिलती हैं।

यदि कहें कि जैसे बटलोईपर रखी हुई कटोरीको भापसे उछलती हुई देखकर एक वैज्ञानिकको पूर्वप्रयोगके ज्ञानके बिना ही

अचानक उसपर विचार-प्रवाह प्रवाहित हो जानेसे भापकी शक्ति तथा उसकी कार्यकारिताका प्रथम सामान्य ज्ञान हो गया, बादमें अनेक प्रयोगोंद्वारा अन्वय-व्यतिरेकसे विशेष ज्ञान प्राप्त करके वैज्ञानिकोंने अदृष्ट, अश्रुत, अभूतपूर्व, परमोपयोगी यन्त्रोंका निर्माण कर दिया। वैसे ही अन्नाभाव या क्रोधादि कारणोंसे कुछ काल उपवासरूप तप-साधनासे किसी रूपमें धर्माधर्मका सामान्य ज्ञान भगवान् महावीर या बुद्धको हो गया था, बादमें विविध प्रकारकी तप-साधनाओंद्वारा विशेषरूपमें धर्माधर्मका साक्षात्कार करके अदृष्ट, अश्रुत, अभूतपूर्व परम उपयोगी धर्माधर्मप्रतिपादक शास्त्रोंका निर्माण किया गया।

उक्त कथन भी ठीक नहीं; क्योंकि आग-पानीके संयोगसे भापका उत्पन्न होना तथा कटोरीका भापसे उछलना—ये सब प्रत्यक्षके विषय होनेसे इनके कार्य-कारणभावोंका निश्चय, तदनुसार विविध प्रयोगोंद्वारा विशेष ज्ञान प्राप्त करना सम्भव है। परोक्ष स्वर्ग, नरक तथा विविध योनियोंकी प्राप्ति करा देनेवाले इन्द्रियोंके अगोचर धर्माधर्मका तथा परोक्ष स्वर्गादिके साथ धर्माधर्मके कारण-कार्यभावका उपवास आदि तपसे सामान्यरूपसे भी साक्षात्कार सम्भव नहीं। अतः दृष्टान्त विषम है।

अनादि धर्माधर्म सादिशास्त्रगम्य नहीं

पूर्व-पूर्व कल्पोंके अनुसार ही यदि उत्तर-उत्तर कल्पोंमें धर्माधर्मकी व्यवस्था न हो तो पूर्वकल्पमें किये धर्माधर्मसे उत्तरकल्पमें प्राणियोंके फलभोगकी व्यवस्था न हो सकेगी, इससे कृत-विप्रणाश, अकृत-अभ्यागम दोषोंकी प्राप्ति होगी। अतः इन दोषोंसे बचनेके लिये सृष्टि-प्रलयके प्रवाहको अनादि माननेवाले सभी दर्शन सभी कल्पोंमें धर्माधर्मकी व्यवस्थाको एक-सी मानना अनिवार्य मानते हैं। सृष्टि-प्रलयके प्रवाहके अनादि होनेसे धर्माधर्मकी व्यवस्था (नियम)-

को भी अनादि ही मानते हैं एवं जो सृष्टि-प्रलय नहीं मानते, वे भी अनादि संसारमें पूर्व-पूर्व जन्मानुसार उत्तर-उत्तर जन्मोंमें फलभोगकी व्यवस्थाके लिये धर्माधर्म-व्यवस्थाको अनादि मानना अनिवार्य होनेके कारण अनादि ही मानते हैं। ऐसी दशामें अनादि धर्माधर्म सादिशास्त्रगम्य नहीं हो सकते। वेदसे भिन्न सभी शास्त्र सादि ही हैं, ऐसा तो उन शास्त्रोंके अनुयायी भी स्वीकार करते ही हैं; क्योंकि उनके शास्त्रोंका जन्म २-४ हजार वर्ष पूर्व ही हुआ है।

यदि वेदभिन्न शास्त्रवाले यह कहें कि जैसे कल्पके आदिमें पवित्रात्मा ऋषियोंको अनादि वेदमन्त्रोंका साक्षात्कारमात्र हुआ था, वैसे ही हमारे पवित्रात्मा आचार्योंको अनादि धर्माधर्मका साक्षात्कारमात्र हुआ था, इसलिये हमारे शास्त्र ग्रन्थरूपमें सादि होते हुए भी उनमें प्रतिपादित धर्माधर्म-व्यवस्था तो अनादि ही है। यह कथन भी ठीक नहीं; क्योंकि पूर्वकी भाँति यहाँ भी यह प्रश्न होगा कि आपके आचार्योंने किस साधनासे आत्माको पवित्र किया। इस प्रश्नके उत्तरमें यदि यह कहा जाय कि जिस साधनासे वेदद्रष्टा ऋषि पवित्रात्मा हुए, उसी साधनासे हमारे आचार्य पवित्रात्मा हुए। इस उत्तरसे तो अनादि वेदोंका ही धर्माधर्ममें मुख्य प्रामाण्य सिद्ध होता है; क्योंकि पूर्व-पूर्व कल्पोंमें प्रचलित वैदिक अनादि धर्मानुष्ठानद्वारा पवित्र हुए पवित्रात्मा ऋषिजन ही उत्तर-उत्तर कल्पोंके प्रारम्भमें वेदद्रष्टा होते हैं।

उक्त विवेचनसे यही निष्कर्ष निकलता है कि अनादि धर्माधर्ममें अनादि वेदोंका मुख्य प्रामाण्य है, वेदभिन्न सादि-शास्त्रोंका वेदानुकूल अंशमें गौण प्रामाण्य है और वेदप्रतिकूल अंशमें वे शास्त्र सर्वथा अप्रमाण हैं।

वेद अनादि, अपौरुषेय और स्वत:प्रमाण

पूर्वविचारानुसार वेदोंका अनादित्व तो सिद्ध हो ही गया है, इसीसे उनकी अपौरुषेयता भी सिद्ध हो जाती है; क्योंकि जो सादि अर्थात् कृत नहीं, वह पुरुषकृत भी न हो सकनेके कारण अपौरुषेय अवश्य ही होगा। स्वत:प्रामाण्यके बाधक भ्रम, विप्रलिप्सा, करणापाटव, प्रमाद आदि पुरुषगत दोषोंका अपौरुषेय वेदमें सन्निवेश न होनेसे वेद स्वत:प्रमाण है।

भौतिक विज्ञानके दृष्यान्तसे भी वेदोंके अनादित्व तथा अपौरुषेयताको समझाया जा सकता है। सृष्टि-प्रलयके प्रवाहको अनादि माननेवालोंको और संसारको इसी रूपमें अनादि माननेवालोंको भी यह मान्य है कि भौतिक विज्ञानके नियम भी अनादिकालसे चले आ रहे हैं, अत: वे नियम अनादि ही हैं। भौतिक वैज्ञानिकोंने उनका अपने प्रयोगोंद्वारा अन्वेषणमात्र ही किया है, नूतन उत्पादन नहीं। इसी प्रकार सृष्टि-प्रलयके प्रवाहरूपमें या इसी रूपमें इस अनादि संसारकी विचित्रताके हेतुभूत धर्माधर्मके व्यवस्थापक नियमरूप वेद भी अनादि ही हैं, पवित्रात्मा ऋषियोंने उनका दर्शन ही किया है; नूतन उत्पादन नहीं। अत: वैज्ञानिक दृष्टिसे देखें तो भी वेद अनादि अपौरुषेय ही सिद्ध होते हैं। यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिये कि जैसे वैज्ञानिकोंने नियमोंका अन्वेषण करके ग्रन्थ लिख दिये; इससे ग्रन्थ ही सादि हो सकते हैं, भौतिक विज्ञानके नियम तो अनादि ही रहते हैं। वैसे ही वेदद्रष्टा ऋषियों द्वारा ग्रन्थरूपमें लिखित ग्रन्थ ही सादि हो सकते हैं, धर्माधर्मके व्यवस्थापक नियमरूप वेदमन्त्र तो अनादि ही हैं।

यद्यपि नैयायिकोंने आप्तवक्तृत्वरूप गुण लानेके लिये वेदोंको ईश्वररचित माना है, तथापि उन्हें भी पूर्वकल्पमें कृत

कर्मोंके फलभोगकी उत्तरकल्पमें समुचित व्यवस्थाके लिये 'पूर्वकल्पानुसार ही इस कल्पमें भी वेदोंकी रचना ईश्वर करता है' ऐसा मानना ही पड़ता है। ऐसी दशामें वेदरचनामें स्वतन्त्र-कर्तृत्व ईश्वरमें भी न होनेके कारण वेदोंकी अपौरुषेयतामें आँच नहीं आती। इसी आशयसे आचार्य कुमारिलने कहा है कि वेदोंकी रचनाके विषयमें पुरुषोंकी स्वतन्त्रताका प्रयत्नपूर्वक निषेध करना चाहिये—

'प्रयत्नतः प्रतिषेध्या नः पुरुषाणां स्वतन्त्रता।'

वेदोंकी अनादिता, अपौरुषेयता तथा स्वतःप्रमाणताका शास्त्रीय दृष्टिसे विशद ज्ञान प्राप्त करनेके लिये प्राचीन धर्माचार्य-सम्राट् आचार्य कुमारिलके वार्तिकका तथा अर्वाचीन धर्माधर्म-सम्राट् प्रातःस्मरणीय पूज्यपाद करपात्रीजी (हरिहरानन्दजी)-के 'वेदस्वरूपविमर्श' तथा 'वेदस्वरूप और प्रामाण्य' नामके ग्रन्थोंका अध्ययन, मनन तथा परिशीलन करना चाहिये।

अनादि पदार्थोंका मानना अन्धविश्वास नहीं

जनसाधारणके हृदयमें ही नहीं, किंतु कुछ विचारकोंके हृदयमें भी अनादि पदार्थोंका मानना अन्धविश्वास-सा प्रतीत होता है, उसपर भी कुछ विचार प्रकट करना प्रसंगानुसार आवश्यक मालूम पड़ता है। अतः इस विषयपर एक भौतिक विज्ञानीके साथ हुई वार्ताका यहाँ उल्लेख किया जा रहा है। भौतिक विज्ञानी सज्जनने कहा कि विभाजन-प्रक्रियानुसार अन्तिम अविभाज्य परमाणुको जगत्का मूल कारण मानना तो विज्ञान-सम्मत होनेसे समझमें आ जाता है, किंतु न्यायादि दर्शनोंने जो आकाश, काल आदि अनेक अनादि पदार्थोंको माना है; वह समझमें नहीं आता, अन्धविश्वास-जैसा मालूम पड़ता है।

मैंने पूछा, जिन परमाणुओंको आप जगत्‌का मूल कारण स्वीकार करते हैं, वे किससे-कब उत्पन्न हुए हैं और कहाँ-कबसे परिभ्रमण कर रहे हैं? उन सज्जनने कहा—परमाणु ही तो सबके मूल कारण हैं, वे भी यदि किसीसे उत्पन्न हों तो उन्हें मूल कारण ही कैसे माना जा सकेगा, अतः परमाणु किसीसे उत्पन्न नहीं हुए। वे परमाणु आकाशमें परिभ्रमण कर रहे हैं, कबसे भ्रमण कर रहे हैं—यह नहीं बताया जा सकता।

मैंने कहा, उत्पन्न होनेवाले पदार्थको ही सादि पदार्थ कहते हैं, जब आप परमाणुकी उत्पत्ति नहीं मानते तब आपने उसे शब्दान्तरसे अनादि तो मान ही लिया एवं 'कबसे भ्रमण कर रहे हैं', यह न बता सकनेका अर्थ भी यही होता है कि अनादिकालसे उड़ रहे हैं। ये अनादि परमाणु अनादिकालसे जिस आकाशमें भ्रमण कर रहे हैं, उस आकाशको भी अनादि अवश्य आप मानेंगे। इस प्रकार आपने परमाणु, काल, आकाश—इन तीनों पदार्थोंको अनादि स्वीकार कर लिया, फिर कैसे कहते हैं कि अनादि पदार्थोंका मानना समझमें नहीं आता।

मेरे उत्तरोंपर विचार करके उन सज्जनने कहा—वस्तुतः गम्भीरतासे विचार न करनेके कारण ही अनादि पदार्थोंका मानना अन्धविश्वास-सा प्रतीत होता था। मैंने कहा—इसी प्रकार जिन दर्शनोंने जिस-जिस पदार्थको अनादि माना है, उन दर्शनोंके दृष्टिकोणसे जब आप उनपर विचार करेंगे तो आप अवश्य कहेंगे कि इन्हें अनादि मानना अन्धविश्वासमूलक नहीं, अपितु अतिशय विचारमूलक है। उक्त रीतिसे वेद, ईश्वर, जीव आदि पदार्थोंके अनादित्वका रहस्य समझानेपर उनको बहुत सन्तोष हुआ।

वैदिक धर्मकी सार्वभौमता

यदि वैदिक धर्म अनादि है तो सभी देशोंमें उसका प्रचार क्यों नहीं पाया जाता? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि जैसे सिन्ध देशमें पाकिस्तान बननेसे पूर्व या मुसलमानोंके आनेसे पूर्व वैदिक धर्मका ही प्रचार था, इसमें किसीको किंचित् भी सन्देह नहीं है। इस समय वहाँ वैदिक धर्मका लोप या लोपप्राय हो जानेपर भी यह नहीं कहा जा सकता कि पूर्वकालमें वहाँ वैदिक धर्मका प्रचार नहीं था। वैसे ही जिन देशोंमें वैदिक धर्मका प्रचार लुप्त या लुप्तप्राय हो गया है, उन देशोंमें भी 'पूर्वकालमें वैदिक धर्मका प्रचार नहीं था' यह नहीं कहा जा सकता। इसे अनुमानसे ही नहीं अपितु खुदाईद्वारा प्राप्त सूर्य, गणेश आदि वैदिक देवताओंकी मूर्तियोंके आधारपर पुरातत्त्व-अन्वेषण विभागद्वारा उन देशोंमें भी भूतकालमें वैदिक धर्मके प्रचारकी पुष्टि होती है।

अब यह प्रश्न होता है कि जिन देशोंमें वैदिक धर्मका लोप हो चुका है, उन देशोंमें भी सच्चे हृदयसे कल्याण चाहनेवाले मुमुक्षुओंका कल्याण कैसे होगा? इसका उत्तर यह है कि विशेष वैदिक धर्मका लोप हो जानेपर भी सत्य, अहिंसा, अचौर्य, संयम, त्याग, परोपकार, अपरिग्रह आदि सामान्य वैदिक धर्मका प्रचार सभी देशोंमें अभी भी है, इन्हींका पालन करनेसे उनका कल्याण हो जायगा; क्योंकि कल्याण-प्राप्तिमें इन्हीं सामान्य धर्मोंकी मुख्यता होती है, इनके बिना तो विशेष धर्मका पालन करनेपर भी कल्याण नहीं होता। उन देशोंमें चातुर्वर्ण्य-आश्रमकी व्यवस्थाका लोप हो जानेके कारण उन देशोंके मुमुक्षुओंको चातुर्वर्ण्य-आश्रमके लिये विहित विशेष धर्मोंके पालनका अधिकार भी नहीं रहा। अतः उनके पालनसे लाभ नहीं, अपितु हानि ही होगी।

यह भी प्रश्न होता है कि उन अवैदिक लोगोंको परम्परा लुप्त हो जानेके कारण वैदिक विधि-निषेधोंका ज्ञान ही नहीं, ऐसी दशामें उन्हें वैदिक विधि-निषेधके अतिक्रमणका पाप होता है या नहीं, इसका उत्तर यह है कि जैसे राष्ट्रीय कानूनको न जाननेके कारण कानूनका अतिक्रमण करनेवालेको भी न्यायाधीश कुछ अल्प दण्ड देता ही है और कहता है 'जाओ, आगे ऐसा न करना।' इसका कारण यह है कि प्रत्येक राष्ट्रीय सरकार यह आवश्यक समझती है कि इस राष्ट्रमें रहनेवाले प्रत्येक व्यक्ति राष्ट्रीय कानूनोंको जानें तथा उनका पालन करें। 'मुझे कानून मालूम नहीं था' अपराधीके इस कथनपर ध्यान देकर न्यायाधीश यदि उसे दण्ड न दें तो प्रत्येक व्यक्ति कानूनको जाननेकी चेष्टा न करके अपने अपराधोंसे राष्ट्रमें महान् उपद्रव मचा देंगे।

वैसे ही अज्ञानवश वैदिक विधि-निषेधका अतिक्रमण करनेवाले अवैदिकोंको भी उनके अपराधोंका अल्प दण्ड मिलता ही है; क्योंकि राष्ट्रीय सरकारोंकी तरह ईश्वर भी संसारके प्रत्येक व्यक्तिके लिये आवश्यक समझता है कि वे लोग अनादि संसारके व्यवस्थापक अनादि धर्मको जानें तथा उसका पालन करें। उन्हें जरा भी दण्ड न दिया जाय तो वे वैदिक धर्मको जानने तथा पालन करनेका प्रयास न कर अपने अपराधोंसे संसारमें उपद्रव ही पैदा कर देंगे। कानूनको जानकर भी अपराध करनेवालोंको जैसे न्यायाधीश कठोर दण्ड देता है, वैसे ही वैदिक धर्मको जानकर उसका अतिक्रमण करनेवालेको ईश्वर भी कठोर दण्ड देता है। व्यक्ति तथा समाजके हितकी दृष्टिसे दोनों प्रकारके अपराधियोंको दण्ड देना जैसे राष्ट्रीय संविधानमें उचित माना जाता है, वैसे ही व्यष्टि तथा समष्टिके हितकी दृष्टिसे दोनोंको दण्ड देना ईश्वरीय संविधानमें भी उचित माना गया है।

वैदिक धर्मका विज्ञानद्वारा समर्थन

पूर्व विवेचनमें अनेक प्रकारसे जब यह सिद्ध किया जा चुका है कि अनादि संसारके व्यवस्थापक अनादि अलौकिक धर्माधर्म और अनादि अलौकिक वेदप्रमाणमात्रगम्य हैं, तब उसका समर्थन लौकिक भौतिक विज्ञानसे कैसे सम्भव है? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि **'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः'** इस सूत्ररूप वाक्यमें धर्मके दो फल बताये गये हैं—१. लौकिक अभ्युदय, २. अलौकिक निःश्रेयस—कल्याण। इन दोमेंसे दूसरा ही मुख्य फल है, अलौकिक तथा अभौतिक होनेके कारण उसका तो लौकिक भौतिक विज्ञानसे समर्थन नहीं किया जा सकता, किंतु पहला लौकिक तथा भौतिक होनेके कारण उसका समर्थन लौकिक भौतिक विज्ञानसे भी बहुत अंशोंमें किया जा सकता है, पूर्णांशमें नहीं किया जा सकता; क्योंकि वर्तमान भौतिक विज्ञान भी अभीतक पूर्णांशमें विकासको प्राप्त नहीं हो पाया। लौकिक उन्नतिरूप अभ्युदय धर्मका गौण फल है, निःश्रेयस—अलौकिक कल्याण ही मुख्य फल है, अतः 'धर्माधर्म और उसका फल वेदप्रमाणमात्रगम्य है' इस सिद्धान्तमें भी कोई बाधा नहीं आती; क्योंकि मुख्य फल वेदमात्रगम्य ही है, विज्ञान-गम्य नहीं।

शास्त्रोंमें वैज्ञानिक समर्थन

यदि अभ्युदय—लौकिक उन्नति अंशमें विधि-निषेधरूप वैदिक धर्मका वैज्ञानिक रीतिसे समर्थन सम्भव है तो शास्त्रोंने उसका वैज्ञानिक रीतिसे समर्थन क्यों नहीं किया? इसका उत्तर यह है कि शास्त्रोंमें भी वैज्ञानिक रीतिसे समर्थन किया ही गया है। उन वचनोंको ग्रन्थमें यथास्थल दिखाया जायगा। हाँ, इतना अवश्य है कि वह अतिसंक्षिप्त है। निम्नलिखित कारणोंसे अतिसंक्षिप्त होना ही

उचित भी है—

१—जन-पथप्रदर्शक-शास्त्र-संकेत-मर्मज्ञोंके लिये विस्तार अपेक्षित नहीं होता।

२—परप्रदर्शितपथानुगामी जनोंके लिये भी वैज्ञानिक विवेचन आवश्यक नहीं होता।

३—विविध विज्ञानोंके नियमोंसे निर्मित विधि-निषेधोंको अज्ञ, अल्पज्ञ, बालक, स्त्री और वृद्धोंकी तो बात ही क्या; एक विषयके विज्ञान-विशेषज्ञको भी समझाना सम्भव नहीं।

४—नियमोंके जाननेमात्रसे लाभ नहीं होता, अपितु दृढ़तापूर्वक पालन करनेसे होता है। ज्ञान होनेपर भी दृढ़तासे पालन उतना अच्छा तथा स्वाभाविक रीतिसे नहीं होता, जितना अच्छा तथा स्वाभाविक रीतिसे अभ्यासद्वारा होता है। उदाहरणके लिये देखिये, जिन लोगोंको अपनी बाल्यावस्थासे ही गोदुग्ध या गोमूत्रके पानका तथा मद्यपान या धूम्रपानके त्यागका अभ्यास है, वे लोग उनके गुण-दोषोंको न जाननेपर भी जितनी अच्छी तरह तथा स्वाभाविक रीतिसे ग्रहण और त्याग करनेमें समर्थ होते हैं, उनके गुण-दोषोंका भौतिक विज्ञानकी प्रयोगशालामें अनुसन्धानद्वारा स्वयं साक्षात् ज्ञान प्राप्त करके ही नहीं, किंतु धूम्रपान-मद्यपानजन्य क्षय आदि महान् रोगोंसे आक्रान्त होकर भी उनके अभ्यासी उनके ग्रहण और त्यागमें समर्थ नहीं हो पाते।

५—केवल वेदकी आज्ञा मानकर विधि-निषेधका पालन करनेपर लौकिक तथा अलौकिक दोनों फलोंकी प्राप्ति होती है। वैज्ञानिक उपयोगिता मानकर विधि-निषेधका पालन करनेपर केवल एक लौकिक फल ही प्राप्त होता है। उदाहरणके लिये देखिये, कोई व्यक्ति गंगाजल तथा तुलसीदलकी रोगनाशकतारूप उपयोगिताको वैज्ञानिक रीतिसे जानकर सेवन करता है, उसे केवल रोगनाशरूप

लौकिक गौण फलकी ही प्राप्ति होती है। गंगाजल भगवान्‌के चरण-कमलका चरणोदक है, स्नान-पानद्वारा पापनाशक, अन्तःकरणशोधक तथा भगवत्-प्रसाददायक है—इत्यादि श्रद्धापूर्ण भावनाओंसे होनेवाला अलौकिक मुख्य फल नहीं प्राप्त होता; क्योंकि अलौकिक फलकी प्राप्ति श्रद्धापूर्ण भावनाके बिना नहीं होती। वेदकी आज्ञा मानकर गंगाजलका स्नान-पान करनेसे उक्त अलौकिक फल तो मुख्यरूपसे प्राप्त होता ही है, साथ ही रोगनाशरूप लौकिक—गौणफल भी प्राप्त होता है; क्योंकि रोगनाशरूप फल गंगाजलकी वस्तुशक्तिसे होता है, उसमें भावनाकी अपेक्षा नहीं होती।

लौकिक और अलौकिक दोनों फलोंकी प्राप्ति करा देनेवाली वेदाज्ञाकी जगह एकमात्र लौकिक फल प्राप्त करानेवाले वैज्ञानिक विवेचनको शास्त्र-मर्मज्ञ महापुरुष हितकर नहीं मानते, इसीलिये वे वैज्ञानिक विवेचनका निषेध भी करते हैं। यद्यपि यह ठीक ही है, तथापि इस वैज्ञानिक वर्तमान युगमें विज्ञानके चमत्कारसे चमत्कृत लोगोंको, विशेषकर युवक-युवतियोंको वैदिक धर्मपथारूढ़ करनेके लिये विधि-निषेधोंका वैज्ञानिक विवेचन करना अति आवश्यक है, अन्यथा वे अविश्वासी तथा अश्रद्धालु होकर दोनों फलोंसे वंचित हो जायँगे। अतः 'सर्वनाशकी अपेक्षा अर्धनाश ही श्रेष्ठ होता है' इस दृष्टिसे वैज्ञानिक विवेचन करना भी उचित ही है; क्योंकि इससे वे लौकिक फलको प्रत्यक्ष प्राप्तकर वैदिक धर्ममें भी आस्थावान् हो जायँगे, जिससे कालान्तरमें अलौकिक फलपर भी विश्वास करने लगेंगे। इस दूरदर्शी दृष्टिकोणसे ही कुछ महानुभावोंने वैदिक धर्मका वैज्ञानिक विवेचन किया है, मैं भी उनके उक्त दृष्टिकोणको समयानुसार उपयोगी मानकर उनकी ही वाणीका संकलन इस ग्रन्थमें अपनी भाषामें करूँगा। तथापि आस्तिक जनोंसे

करबद्ध विनम्र प्रार्थना है कि वे तो उभयफलप्रद वेदकी आज्ञा मानकर ही विधि-निषेधका पालन करें। इस वैज्ञानिक विवेचनको पढ़कर वैदिकधर्ममें अनास्थावालोंके हृदयमें आस्था उत्पन्न होगी तथा आस्थावालोंकी आस्था सुदृढ़ावस्थाको प्राप्त होगी, ऐसी मुझे आशा है तो भी अनास्थावालोंके हृदयमें आस्था उत्पन्न करना ही मुख्य प्रयोजन है, अतः वे ही ग्रन्थके मुख्य अधिकारी हैं। व्याख्यानदाता भी इसका उपयोग कर सकते हैं।

अतिप्रबल सन्देहका समाधान

जो लोग वेदकी आज्ञाका पालन करते हुए खान-पान, रहन-सहन, स्थान, वातावरण, सत्संग, स्वाध्याय, भजन, ध्यान आदिसे युक्त सात्त्विक-साधनसम्पन्न जीवन-यापन करते हैं, उनके जीवनमें भी शारीरिक तथा मानसिक रोग वेदकी आज्ञाका पालन न करनेवाले मनुष्योंकी भाँति ही देखनेमें आते हैं, इस प्रकार वैदिक विधि-निषेध-पालनका दृष्ट लौकिक-वैदिक फल भी प्रत्यक्ष न होनेके कारण अवैदिकों तथा असाधकोंको ही नहीं, अपितु वैदिकों तथा साधकोंके हृदयमें भी प्रथम लौकिक फलमें तदनन्तर अलौकिक वैदिक फलमें अतिप्रबल सन्देह होकर वैदिक विधि-निषेधमें भी सन्देह होने लग जाता है।

उक्त अतिप्रबल सन्देहका समुचित सम्यक् समाधान यह है कि उक्त साधनोंसे सम्पन्न कोई भी साधक स्वानुभवसे विरुद्ध होनेके कारण यह नहीं कह सकता कि उक्त साधनोंसे मेरे किसी छोटेसे भी शारीरिक या मानसिक रोगका विनाश नहीं हुआ। जबकि छोटे रोगोंका विनाशरूप लौकिक फल प्रत्यक्ष प्राप्त हुआ है, तब वैदिक साधनोंकी सत्यतामें सन्देह करना उचित नहीं। बड़े रोगोंकी निवृत्ति न होनेके कारण भी सन्देह करना उचित नहीं। जैसे अति जीर्ण होनेके कारण अति गहराईमें

प्रविष्ट शरीरकी प्रकृतिरूपताको प्राप्त रोगोंका विनाश चिकित्साशास्त्रानुसार चिकित्सा करनेपर भी नहीं होता, तो भी रोगकी वृद्धिमें अवरोधरूप फल प्रत्यक्ष देखकर चिकित्साशास्त्रकी सत्यतामें सन्देह करना उचित नहीं कहा जा सकता, वैसे ही जन्म-जन्मान्तरसे अभ्यस्त अन्तस्तलमें प्रविष्ट स्वभावरूपताको प्राप्त मानसिक रोगोंका विनाश या ह्रास न देखकर वेदशास्त्रकी सत्यतामें सन्देह करना भी उचित नहीं कहा जा सकता; क्योंकि मानसिक रोगोंकी वृद्धिमें अवरोधरूप फल तो प्रत्यक्ष हो ही रहा है।

यद्यपि स्वभावरूपताको प्राप्त मानसिक रोगोंका अवरोधरूप फल ही इस जन्ममें देखनेमें आता है, तथापि सम्पूर्ण जीवनमें की गयी तत्परतापूर्वक साधना जन्मान्तरमें जब स्वभाव बनकर उदित होती है तब उस मानसिक रोगका अभाव सहज ही रहता है, जिस मानसिक रोगको नष्ट करनेके लिये पूर्वजन्ममें तत्परतापूर्वक साधना की गयी थी। यही कारण है कि कुछ साधकोंको ऐसा स्पष्ट अनुभव होता है कि अमुक दोषका अभाव तो सहज रहता है, किंतु अमुक दोषका दमन बहुत साधन करनेपर भी नहीं हो रहा है। कहनेका तात्पर्य यह है कि स्वभावरूपताको प्राप्त एक-एक दोषको नष्ट करनेके लिये एक-एक जन्म साधना करनी पड़ती है, तभी उनका नाश होता है। अतः शरीरकी प्रकृतिरूपताको प्राप्त रोगकी उसके अनुरूप दीर्घकालपर्यन्त चिकित्सा न करके चिकित्सा-शास्त्रको दोष देना जैसे व्यर्थ है, वैसे ही स्वरूपताको प्राप्त अनेक दोषोंकी उनके अनुरूप जन्म-जन्मान्तरपर्यन्त धैर्यपूर्वक चिकित्सारूप साधना न करके वेदशास्त्रको दोष देना भी व्यर्थ है। विचार तथा अनुभवसे भी सिद्ध साधनोंका यदि कहीं फल देखनेमें नहीं आता है तो

वहाँ किसी प्रबल प्रतिबन्धककी कल्पना ही की जाती है, साधनोंपर सन्देह नहीं किया जाता। अन्यथा स्वास्थ्यके विज्ञानसिद्ध नियमोंका तो पचहत्तर प्रतिशत ग्रामीण पालन न करके भी स्वस्थ रहते हैं, ऐसी दशामें भौतिक विज्ञानपर भी सन्देह करना होगा। इस शंका-समाधानकी आवृत्ति सर्वत्र सन्देहके स्थानोंपर कर लेनी चाहिये। गीताके निम्न श्लोकोंमें जो साधनके बारेमें स्पष्ट शब्दोंमें कहा गया है, उसपर सम्यक् ध्यान न देनेके कारण ही उक्त प्रबल सन्देह उत्पन्न होता है; अतः सम्यक् ध्यान देनेसे स्वयं समाधान हो जायगा।

स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा॥

(६। २३)

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया।

(६। २५)

अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥

(६। ४५)

कुछ सच्चे साधक अपने अनुभवके आधारपर यह भी कह सकते हैं कि हमने सम्पूर्ण जीवन अमुक दोषको जीतनेमें लगा दिया तो भी उसकी वृद्धिमें अवरोध न होकर उसकी वृद्धि ही हुई है। ऐसे स्थलोंमें साधककी श्रद्धा, रुचि और योग्यताके अनुसार सम्यक् साधनको बतानेवाले गुरुका अभाव तथा साधनके अनुकूल देश-काल आदिका अभाव ही कारण होता है। यदि कहा जाय कि इन अभावोंको पूरा करना साधकके हाथमें नहीं, अतः साधक तो निर्दोष ही है। इसके उत्तरमें यही कहना पड़ता है कि साधकका दोष न होनेपर भी कार्यकी सफलता कारण-सामग्रीकी पूर्णता होनेपर ही होती है, अन्यथा नहीं। हाँ, ये सच्चे साधक यदि अनन्यभावसे भगवान्‌का

सहारा लिये रहें तो भक्तोंका योगक्षेम वहन करनेकी प्रतिज्ञा करनेवाले भगवान् उन अभावोंकी पूर्ति अवश्य कर देंगे; क्योंकि गीता (९।२२)-में भगवान्ने कहा है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

सर्वगुणयुक्त, सर्वदोषविनिर्मुक्त ईश्वर ही होता है

प्रसंगतः यहाँ यह चेतावनी लिख देना अत्यावश्यक मालूम होता है कि जन्मान्तरीय साधना परिपक्व होकर स्वभावरूपमें उदय होनेके कारण जिन दोषोंका अभाव जीवनमें सहज ही प्रतीत होता हो, उनके विषयोंका भी अधिक सेवन करनेपर वे दोष भी अंकुरित, पुष्पित, पल्लवित तथा फलित भी होने लग जाते हैं। इसकी आशंका उच्चकोटिके साधकोंमें ही नहीं, अपितु ऋषि-मुनियोंमें भी रहती है। अतः परम सन्त ऋषि तुलसीदासजी कहते हैं—

बिषय कुपथ्य पाइ अंकुरे। मुनिहु हृदयँ का नर बापुरे॥

श्रीमद्भागवत (५।६।३)-में भी कहा गया है—

न कुर्यात्कर्हिचित्सख्यं मनसि ह्यनवस्थिते।
यद्विश्रम्भाच्चिराच्चीर्णं चस्कन्द तप ऐश्वरम्॥

अर्थात् इस चंचल चित्तसे कभी मैत्री नहीं करनी चाहिये। इसमें विश्वास करनेसे ही मोहिनीरूपमें फँसकर महादेवजीका चिरकालका संचित तप क्षीण हो गया था। अतः साधकको सदा सावधान ही रहना चाहिये; क्योंकि 'सर्वगुणसंयुक्त तथा सर्वदोषविनिर्मुक्त ईश्वर ही होता है; जीव नहीं'। इसका ही सहेतुक तथा

सप्रामाणिक स्पष्टीकरण आगे किया जा रहा है।

सर्वगुणसंयुक्त, सर्वदोषविनिर्मुक्त जीव नहीं होता

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात् त्रिभिर्गुणैः॥

(गीता १८।४०)

श्रीभगवान्‌के इस वचनानुसार तथा सर्वसाधारणके अनुभवके अनुसार जबकि विश्वमें कोई भी प्राणी प्रकृतिजन्य सत्त्व-रज-तम—इन तीन गुणोंसे मुक्त है ही नहीं, तब कोई भी प्राणी (जीव) तीन गुणोंके कार्य—प्रकाश-प्रवृत्ति-मोह आदिसे रहित कैसे हो सकता है? साधारण जीव ही नहीं, त्रिगुणातीत तत्त्वका ज्ञान हो जानेके कारण त्रिगुणातीत नामसे कहे जानेवाले ज्ञानी व्यक्ति भी गुणोंके कार्य—प्रकाश-प्रवृत्ति-मोहसे सर्वथा विनिर्मुक्त नहीं हो पाते। तभी तो इन गुणोंके कार्योंकी प्रवृत्ति (आने) तथा निवृत्ति (जाने)-में द्वेष तथा आकांक्षा न करनेकी बात भगवान् गीता (१४। २२)-में कहते हैं—

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति॥

गीताके उक्त वचनानुसार जब ज्ञानीमें भी सदा एकरस स्थिर सत्त्वगुण नहीं रह सकता तो **'सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानम्'** (गीता १४। १७)-के अनुसार सत्त्वगुणके कार्य प्रकाश (ज्ञान), वैराग्य आदि भी समग्र (सम्पूर्ण)-रूपसे सदा एकरस और स्थिर नहीं रह सकते। यही कारण है कि 'समग्ररूपसे ज्ञान तथा वैराग्यकी एकरस स्थिति जिसमें हो, वह भगवान् है' ऐसा लक्षण भगवान्‌का शास्त्रोंमें किया गया है—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥

(विष्णुपुराण ६।५।७६)

यदि जीवमें भी ज्ञान तथा वैराग्य समग्ररूपसे सदा एकरस रह जायँ तो ईश्वर-जीवमें भेद ही क्या रह जायगा! इसीलिये श्रीरामचरितमानसमें कहा गया है—

जौं सब कें रह ग्यान एकरस। ईस्वर जीवहि भेद कहहु कस॥

इसीलिये उपनिषद्, गीतादि शास्त्रोंमें जो ज्ञानी या भक्तमें दोषोंकी निर्मूलताका वर्णन मिलता है, उस निर्मूलताका अर्थ इतना ही समझना चाहिये कि जैसे कफदोषसे अतिग्रस्त जो व्यक्ति पहले एक तोला भी दही नहीं खा सकता था, उसको आयुर्वेदका मर्मज्ञ वैद्य यह कहता है कि इस औषधिके सेवनसे कफदोष निर्मूल हो जायगा। वैद्यके कथनानुसार चिकित्सा करके वह व्यक्ति प्रतिदिन पाव-आधसेर दही खाकर भी बीमार नहीं होता। ऐसी दशामें वैद्य, अन्य सभी व्यक्ति तथा स्वयं वह व्यक्ति भी कहता है कि मेरा कफदोष निर्मूल हो गया। यहाँ जैसे दोष-निर्मूलताका अभिप्राय इतना ही है कि अन्य कफदोषरहित व्यक्ति जितना दही खा सकते हैं, उतना यह व्यक्ति भी खाकर रोगग्रस्त नहीं होता। इससे अधिक दोषनिर्मूलताका यह अर्थ नहीं लिया जा सकता कि वह व्यक्ति दही-ही-दही खाये, दही ही मथकर पीये और दहीमें ही स्नान करे तो भी उसमें कफदोष कुपित नहीं होगा। वैसे ही शास्त्रानुसार साधनाद्वारा दोषोंकी निर्मूलताका अभिप्राय भी इतना ही है कि विषयसेवनसे प्रथम-जैसे दोषोंकी उत्पत्ति नहीं होती। अति विषय-सेवनसे तो अति दही खानेवाले व्यक्तिकी तरह दोषोंकी उत्पत्ति हो ही जायगी। अतः साधकको सावधान रहना चाहिये।

अश्रद्धाका कोई कारण नहीं

जैसे दान-पुण्य, तीर्थस्नान आदि सकाम शुभकर्म कालान्तरमें परिपक्व होनेपर ही—प्रायः जन्मान्तरमें ही फल देते हैं, इस जन्ममें प्रायः फल नहीं देते, तो भी कहीं-कहीं अतिप्रबल सकाम दान-पुण्यका फल इस जन्ममें भी देखनेको मिल जाता है। उसके आधारपर जन्मान्तरमें फल देनेवाले सकाम कर्मोंमें भी मनुष्यकी श्रद्धा बनी रहती है। वैसे ही इस जन्ममें की गयी निष्काम साधनाका फल भी कालान्तरमें परिपक्व होनेपर ही प्रायः जन्मान्तरमें ही प्राप्त होता है, इस जन्ममें प्रायः नहीं होता, तो भी कहीं-कहीं अति तीव्र साधनाका फल इस जन्ममें भी प्रत्यक्ष प्राप्त हो जाता है, उसीके आधारपर जन्मान्तरमें फल देनेवाली निष्काम साधनामें भी स्थायी श्रद्धा रखनी ही चाहिये; क्योंकि लौकिक फल स्वस्थता तथा अस्वस्थताको देनेवाले सुपथ्य और कुपथ्य-सेवनरूप कर्म भी जब तत्काल अपना फल नहीं देते, किंतु परिपाक होनेपर कालान्तरमें ही देते हैं, तब अलौकिक फल देनेवाली वैदिक साधनाका तत्काल फल न होकर परिपाक होनेपर कालान्तर या जन्मान्तरमें ही फल प्राप्त हो तो इसमें अश्रद्धाका कोई कारण नहीं।

भूमिकाका उपसंहार

आशा करता हूँ कि युक्ति, अनुभूति तथा श्रुतिसम्मत शास्त्रवचनोंसे समन्वित इस विस्तृत भूमिकाका चंचलतारहित चित्तसे अध्ययन, मनन तथा परिशीलन करनेपर पाठकोंके हृदयमें वैदिक धर्मपर अविचलित श्रद्धाकी उत्पत्ति होगी तथा पाठक वेदोंकी अनादिता, अपौरुषेयता और स्वतःप्रमाणताके बारेमें यौक्तिक, वैज्ञानिक तथा शास्त्रीय दृष्टिकोणोंसे भी किंचित् परिचित हो जायँगे।

जिन लोगोंने श्रुति-स्मृति-इतिहास-पुराणके किसी छोटे-से भी

ग्रन्थका अध्ययन नहीं किया, उन लोगोंके हृदयमें यह भ्रान्त धारणा हो गयी है कि शास्त्रकारोंने हमारी दिनचर्या और जीवनचर्यासे सम्बन्धित लौकिक उन्नतिके विषयोंपर कुछ भी विचार नहीं किया। वे लोग भी यदि इस ग्रन्थको मनोयोगपूर्वक पढ़ेंगे तो उनकी उक्त भ्रान्त धारणा समाप्त हो जायगी; क्योंकि इस ग्रन्थके अध्ययन, मनन, परिशीलनसे उन्हें यह ज्ञान हो जायगा कि दिनचर्या और जीवनचर्यासे सम्बन्धित लौकिक उन्नतिके सम्पूर्ण विषयोंपर भी निम्नलिखित विज्ञानोंके आधारपर शास्त्रकारोंने बहुत गम्भीरतासे विचार किया है। इतना ही नहीं, अपितु आहार, विहार, मल-मूत्रपरिहार आदि पशु-व्यवहारसाधारण कर्मोंके ऊपर भी भौतिक विज्ञानकी दृष्टिसे भी गम्भीर विचार किया है।

लौकिक उन्नतिसे सम्बन्धित दिनचर्या तथा जीवनचर्याके सम्पूर्ण विषयोंका प्रतिपादन करनेके लिये शास्त्रकारोंने ईश्वर-अनीश्वर-विज्ञान, जड़-चेतन-विज्ञान, स्थूल-सूक्ष्मविज्ञान, दृष्ट-अदृष्टविज्ञान, सादि-अनादिविज्ञान, परिणामि-अपरिणामिविज्ञान, सान्त-अनन्तविज्ञान, प्रत्यक्ष-परोक्षविज्ञान, पिण्ड-ब्रह्माण्ड-विज्ञान, मनोविज्ञान, शुचि-अशुचि-विज्ञान, लोक-परलोकविज्ञान, मन्त्रतन्त्रविज्ञान, देश-वैचित्र्यविज्ञान, कालवैचित्र्यविज्ञान, वस्तुवैचित्र्यविज्ञान, जाति-वैचित्र्यविज्ञान तथा संस्कार-वैचित्र्यविज्ञान इत्यादि विविध विज्ञानोंका सम्यक् उपयोग किया है।

इनमेंसे अनेक विज्ञान ऐसे हैं कि उन्नतिके शिखरपर पहुँचे आजके भौतिक वैज्ञानिकोंद्वारा उनपर अन्वेषणकी बात तो दूर रही, उन्होंने उनके नाम भी नहीं सुने होंगे। यदि पाठक आधारभूत उक्त विज्ञानोंको समझ लेंगे तो इस ग्रन्थमें अकथित वैदिक विधि-निषेधोंकी वैज्ञानिकताको भी समझने-समझानेमें स्वयं ही समर्थ हो जायँगे।

जीवनचर्याके अन्तर्गत ही दिनचर्या है, अतः प्रथम उसीका वैज्ञानिक विवेचन किया गया है। शास्त्रोंमें इस विषयपर बहुत कुछ कथन किया गया है, उन सभी वचनोंको लिखना तथा उनपर विचार प्रकट करना इस छोटेसे ग्रन्थमें सम्भव नहीं, अतः दिग्दर्शनमात्रके लिये कुछ थोड़े-से शास्त्रवचन देते हुए उनपर विचार लिखे गये हैं। जो लोग दिनचर्या तथा जीवनचर्याके विविध विषयोंपर शास्त्रोंके अनेक वचनोंका अध्ययन-मनन करना चाहते हों, उनको 'वीरमित्रोदय' नामक ग्रन्थके 'आह्निकप्रकाश' तथा 'संस्कारप्रकाश'—इन दो खण्डोंका अध्ययन-मनन करना चाहिये।

॥ श्रीहरिः ॥

जीवनचर्या-विज्ञान

प्रथम खण्ड

वैदिक-दिनचर्या-विज्ञान

मङ्गलाचरण

अखण्डानन्दबोधाय शिष्यसन्तापहारिणे।
सच्चिदानन्दरूपाय रामाय गुरवे नमः॥

योऽन्तःप्रविश्य मम वाचमिमां प्रसुप्तां
सञ्जीवयत्यखिलशक्तिधरः स्वधाम्ना।
अन्यांश्च हस्तचरणश्रवणत्वगादीन्
प्राणान् नमो भगवते पुरुषाय तुभ्यम्॥

नान्या स्पृहा रघुपते हृदयेऽस्मदीये
सत्यं वदामि च भवानखिलान्तरात्मा।
भक्तिं प्रयच्छ रघुपुङ्गव निर्भरां मे
कामादिदोषरहितं कुरु मानसं च॥

स एष आत्माऽऽत्मवतामधीश्वरस्त्रयीमयो धर्ममयस्तपोमयः।
गतव्यलीकैरजशङ्करादिभिर्वितर्क्यलिङ्गो भगवान् प्रसीदताम्॥

केचित् कर्म वदन्त्येनं स्वभावमपरे नृप।
एके कालं परे दैवं पुंसः काममुतापरे॥

यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः।
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः
सोऽयं नो विदधातु वाञ्छितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः॥

प्रातः-उत्थान-विज्ञान

भौतिक लाभ—कोई भी व्यक्ति प्रातः ब्राह्म मुहूर्तमें उठकर इस अकाट्य सत्यका अनुभव कर सकता है कि प्रातःकालका वायुमण्डल शरीर, इन्द्रिय और मनको प्रिय लगनेवाला तथा स्वास्थ्यप्रद होता है। इसका कारण यह है कि रात्रिमें तारागणों तथा चन्द्रमाके शीतल प्रकाशके संयोगसे वातावरण शीतल तथा वायुमें प्राणप्रद वायु (ऑक्सीजन)-की मात्रा अन्य समयकी अपेक्षा अधिक होती है। इसीलिये शास्त्रोंमें उस कालकी वायुका वीरवायु नामसे स्मरण किया गया है। प्रातः ब्राह्म मुहूर्तमें उठनेसे होनेवाले लाभोंका वर्णन आयुर्वेदमें इस प्रकार किया गया है—

वर्णं कीर्तिं मतिं लक्ष्मीं स्वास्थ्यमायुश्च विन्दति।
ब्राह्मे मुहूर्ते सञ्जाग्रच्छ्रियं वा पङ्कजं यथा॥

(भै० सार० ९३)

अर्थात् ब्राह्म मुहूर्तमें उठनेसे पुरुषको वर्ण, कीर्ति, बुद्धि, लक्ष्मी, स्वास्थ्य तथा आयुकी प्राप्ति होती है। उसका शरीर कमलकी तरह प्रफुल्लित हो जाता है। धर्मशास्त्रोंमें भी कहा है कि '**ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत**' (मनुस्मृति ४।९२) अर्थात् प्रातः ब्राह्म मुहूर्तमें (लगभग चार बजे) उठ जाना चाहिये।

आध्यात्मिक लाभ—ब्राह्म मुहूर्तमें उठकर लघुशंका (पेशाब) करके हाथ-पैर धोकर कुछ काल ब्रह्मका ध्यान करना चाहिये। ब्रह्मके ध्यानके लिये इससे अधिक उपयुक्त और कोई समय नहीं हो सकता; क्योंकि रात्रिभर विश्राम कर लेनेके कारण व्यष्टि मानवपिण्डकी मन, इन्द्रियाँ शान्त होती हैं तथा समष्टि ब्रह्माण्डका वातावरण भी शान्त होता है। इसी समय बड़े-बड़े ऋषि-मुनि भी ब्रह्मध्यान करते

हैं, उनके सम्यक् ध्यानकी तरंगोंसे हमलोगोंके ध्यानमें विशेष सहायता प्राप्त हो जाती है। अतः यह समय ब्रह्मध्यानके लिये बहुत अच्छा होनेसे ही इसे ब्राह्म मुहूर्त कहते हैं। ध्यानद्वारा समष्टि आत्मारूप ब्रह्मसे व्यष्टि आत्माका सम्बन्ध होनेसे हमारी सुप्त हुई आध्यात्मिक शक्तियोंको बहुत लाभ होता है।

ब्रह्मध्यानकी आवश्यकता—हमारे लौकिक तथा अलौकिक सभी कार्य क्रियाशक्ति, ज्ञानशक्ति तथा भाव (संकल्प)-शक्तिसे ही सम्पूर्ण होते हैं। इन्हीं तीनों व्यष्टि शक्तियोंके द्वारा जैसे यह व्यष्टि पिण्ड मानवशरीर संचालित होता है, वैसे ही उन्हीं तीनों समष्टि शक्तियोंके द्वारा यह समष्टि ब्रह्माण्ड संचालित होता है। व्यष्टि शक्तियोंके आश्रयको जीवात्मा कहते हैं और समष्टि शक्तियोंके आश्रयको परमात्मा (ब्रह्म) कहते हैं। जीवात्मा शरीरद्वारा तभी अपने कार्य सम्यक् सम्पन्न कर सकता है, जब उसकी उक्त तीनों शक्तियाँ सबल बनी रहें। यह तभी सम्भव है जब उसकी व्यष्टि शक्तियोंका समष्टि शक्तियोंके साथ सम्बन्ध बना रहे, अतः इसके लिये यह आवश्यक है कि आत्मा प्रतिदिन परमात्मा (ब्रह्म)-का ध्यान करे।

गृहके अनेक कार्योंकी सम्पादक विद्युत्-शक्तिका पावर-हाउससे सम्बन्ध बनाये रखनेके लिये प्लगकी आकृतिविशेषका जैसे आग्रह नहीं होता, वैसे ही मानव-पिण्डकी संचालक व्यष्टि शक्तियोंका ब्रह्माण्ड-संचालक समष्टि शक्तियोंसे सम्बन्ध बनाये रखनेके लिये भी ब्रह्मकी राम, कृष्ण, विष्णु आदि आकृतिविशेषका आग्रह शास्त्रकारोंको नहीं, अतः '**यथाभिमतध्यानाद्वा**' कहा है एवं नामोंके उच्चारणमें भी कोई विशेष आग्रह नहीं किया तो भी अपनी श्रद्धा और रुचिकी रक्षा करते हुए यदि ऋषि-मुनिसेवित भगवान्के नाम और रूपको माध्यम बनाया जाय तो विशेष लाभ होता है;

क्योंकि उन ऋषि-मुनियोंकी उत्कृष्ट भावनाओंसे दीर्घकालसे भावित भगवान्‌के नाम और रूपोंमें विशेषता आ जाती है।

महापुरुष-स्मरण—ब्रह्मध्यानके अनन्तर विशिष्ट महापुरुषोंके स्मरणका विधान शास्त्रोंमें किया गया है। महापुरुषोंके स्मरणसे उनके गुणोंको जीवनमें धारण करनेकी प्रेरणा मिलती है, इस मनोविज्ञानके आधारपर उनके स्मरणका विधान किया गया है और इसी मनोविज्ञानके आधारपर आज भी पाठशालाओंमें बालक-बालिकाओंसे श्रेष्ठ पुरुषोंके गीतगानका विधान किया जाता है तथा युवक-युवतियों एवं नेतागणोंके द्वारा भी अमुक-अमुक अवसरोंपर पुष्पांजलि समर्पित की जाती है। इस मनोविज्ञानसे तथा अपनी ही कृतियोंकी वस्तुस्थितिसे परिचित न होनेके कारण कुछ युवक-युवतियाँ राम और सीताके स्मरणको अन्धविश्वास मानते हैं तथा छोटे बालकोंसे 'मैं राम-सीता नहीं बनना चाहता' ऐसे नारे लगवाते हैं, यह कितनी बड़ी विडम्बना है! निम्नलिखित श्लोकद्वारा महापुरुषोंका स्मरण करना चाहिये—

प्रह्लादनारदपराशरपुण्डरीक-
व्यासाम्बरीषशुकशौनकभीष्मदाल्भ्यान्॥
रुक्माङ्गदार्जुनवसिष्ठविभीषणादीन्
पुण्यानिमान् परमभागवतान् नमामि॥

करदर्शन—महापुरुषोंका स्मरण करनेके अनन्तर निम्न श्लोक बोलकर हाथका दर्शन करना चाहिये—

कराग्रे वसते लक्ष्मीः करमध्ये सरस्वती।
करमूले स्थितो ब्रह्मा प्रभाते करदर्शनम्॥

अर्थात् हाथके अग्रभागमें लक्ष्मीका निवास है। हाथके मध्यभागमें विद्यादात्री सरस्वतीका निवास है। हाथके मूलभागमें बुद्धिदाता

ब्रह्माका निवास है। इसलिये प्रभातमें करदर्शन करना चाहिये।

तात्पर्य यह है कि मानव-जीवनकी सफलताके लिये धन-विद्या-बुद्धि इन तीनोंकी परम आवश्यकता है। इन तीनोंको कर्म—पुरुषार्थके प्रतीक कर—हाथमें स्थित बतानेका तात्पर्य यह है कि इनका पुरुषार्थके द्वारा सम्पादन करना चाहिये।

भूमिवन्दना—करदर्शनके अनन्तर निम्न श्लोक बोलते हुए भूमिवन्दना करनी चाहिये; क्योंकि जननी तथा जन्मभूमिको स्वर्गसे भी श्रेष्ठ कहा गया है—

समुद्रवसने देवि पर्वतस्तनमण्डिते।
विष्णुपत्नि नमस्तुभ्यं पादस्पर्शं क्षमस्व मे॥

अर्थात् हे समुद्ररूपी वस्त्रोंवाली, पर्वतरूप स्तनोंसे मण्डित विष्णुपत्नि! मैं आपको प्रणाम करता हूँ, आप मेरे चरण-स्पर्शको क्षमा करें।

मनोविज्ञानके आधारपर स्वदेशभक्तिकी भावनासे मानवको भावित करनेके लिये भूमिवन्दनाका विधान किया गया है। इसी आधारपर आज भी 'वन्दे मातरम्' आदि गीतोंके गानका विधान किया जाता है। 'वन्दे मातरम्' कहनेसे केवल हम माँसे परिचित होते हैं, किन्तु 'विष्णुपत्नि' कहनेसे हम अपने वास्तविक पितासे भी परिचित होते हैं और दोनोंके प्रति भक्ति-भावनासे भावित होते हैं, इसलिये प्राचीन शास्त्रीय भूमिवन्दना ही श्रेष्ठ है। धारणशक्तिरूपा तथा पालनशक्तिरूपा भूमिको सर्वशक्तियोंके आश्रय भगवान्‌की पत्नी कहना भी ठीक ही है। आधिदैविक दृष्टिसे तो लक्ष्मीदेवीकी तरह भू-देवीका भी विष्णुभगवान्‌की पत्नीके रूपमें वर्णन पुराणोंमें स्पष्ट पाया जाता है।

प्रात:काल मानवपिण्ड तथा ब्रह्माण्ड—ये दोनों अन्य कालकी

अपेक्षा अधिक शान्त होते हैं, अतः पिण्ड-ब्रह्माण्ड-विज्ञानके अनुसार उस समय की गयी भावनाओंका आदान-प्रदान व्यवधानरहित होनेके कारण सुगमतासे होता है और उनका गहरा प्रभाव पड़ता है, इसी दृष्टिसे भावनाप्रधान कार्योंका विधान शास्त्रकारोंने प्रातःकालमें किया है। यह ऋषियोंके मनोविज्ञानका एक छोटा-सा उदाहरणमात्र है। उस समय शान्त मनमें 'गहरा प्रभाव है'—इसे ध्यानमें रखकर ही श्रोत्रिय ब्राह्मण, गाय, अग्नि आदि पवित्र पदार्थोंके दर्शनका विधान किया गया है और दुष्ट पुरुष, मद्य (शराब), नग्न स्त्री, विष्ठा आदि अपवित्र पदार्थोंके दर्शनका निषेध किया गया है।

इस प्रकरणमें भौतिक विज्ञानके आधारपर भौतिक लाभका वर्णन किया गया है। ईश्वर-अनीश्वर (जीव)-विज्ञान तथा मनोविज्ञानके आधारपर आध्यात्मिक लाभका विधान किया है। पिण्ड-ब्रह्माण्ड-विज्ञान तथा कालवैचित्र्य-विज्ञानके आधारपर ब्राह्म मुहूर्तमें उठने तथा उक्त कर्मोंके करनेका विधान किया है। महापुरुष-स्मरण, करदर्शन, भूमिवन्दना आदिका विधान मनोविज्ञानके आधारपर किया गया है। पाठकोंसे निवेदन है कि इसी प्रकार सभी प्रकरणोंमें निहित विविध-विज्ञानोंका अनुसन्धान अवश्य करते जायँ, तभी लाभ होगा। ब्रह्म-ध्यान, महापुरुष-स्मरण, करदर्शन तथा भूमिवन्दना—ये सभी कार्य प्रातः-उत्थानकालीन होनेके कारण इन सबको प्रातः-उत्थान-विज्ञान-प्रकरणमें स्थान दिया गया है।

शौच-विज्ञान

मलत्याग—भूमिवन्दनाके अनन्तर शयनासनका त्याग करके शुद्ध जलसे कुल्ला करके एक गिलास जल पीना चाहिये, इससे मलत्याग सुगमतासे हो जाता है। जिनकी कफप्रधान प्रकृति हो या अन्य किसी कारणसे जल पीनेसे हानि होती हो, उनको जल नहीं पीना चाहिये। एक बड़े लोटेमें जल लेकर सिर तथा कानोंको कपड़ेसे बाँधकर ग्रामसे बाहर खुले मैदानमें पूर्वमुख या उत्तरमुख सुखपूर्वक बैठकर कच्छ खोलकर मलत्याग करना चाहिये। ऐसा विधान आयुर्वेदके निम्न श्लोकमें किया गया है—

शौचे च सुखमासीनः प्राङ्मुखो वाप्युदङ्मुखः।
शिरः प्रावृत्य कर्णौ च मुक्तकच्छशिखोऽपि च॥

कानों तथा सिरमें कपड़ा बाँधनेसे रक्त तथा वायुकी गति अधोमुखी होनेसे मलत्यागमें सहायता मिलती है और शरीरके उत्तम तथा पवित्र अंग सिर आदिकी अपवित्र मलके परमाणुओंसे रक्षा होती है। ग्रामसे बाहर २-४ फरलांग चलकर जानेसे मल नीचे खिसक जानेके कारण शौच साफ होता है तथा प्रातःकालीन भ्रमणका कार्य भी पूरा हो जाता है। यही कारण है कि धर्मशास्त्रमें तथा आयुर्वेदशास्त्रमें भी प्रातःकालीन भ्रमणका विधान पृथक्से नहीं मिलता। प्रातःकालका शान्त तथा सात्त्विक वातावरण भजन-ध्यानरूप आध्यात्मिक लाभके लिये अतिशय उपयोगी होता है, अतः उस मुख्य आध्यात्मिक लाभको छोड़कर गौण शारीरिक स्वास्थ्यके लाभमें प्रातःकालका अधिक समय भ्रमणमें लगाना उचित भी नहीं हो सकता। जिन्हें शहरमें शौचालयोंमें ही शौच जाना पड़ता है, उन्हें भी बरामदेमें ५-१० मिनट भ्रमण करके शौच जाना चाहिये।

प्रातःकाल प्रायः पूर्वकी या उत्तरकी दिशासे ही वायु चलती है, उस तरफ मुख करके बैठनेसे शुद्ध वायुका ही नाकमें प्रवेश होता है, मलसे टकराकर अशुद्ध वायु पीछे निकल जाती है। इसके विपरीत वायुकी तरफ पीठ करके बैठनेसे वायु मल तथा पीठसे टकराकर चक्कर लगाती है, इससे सारा शरीर दुर्गन्धके परमाणुओंसे भर जाता है तथा नासिकासे भी अधिक दुर्गन्ध ग्रहण करना पड़ता है। जिस दिन या जिस देशमें वायु दक्षिण या पश्चिम दिशासे चले, उस दिन या उस देशमें उसी दिशामें मुख करके बैठना चाहिये। सूर्य सामने न हों, यह ध्यान रखें।

पैरोंके बल सुखपूर्वक बैठनेसे पेटमें दबाव पड़ता है। इससे मल नीचेकी ओर सरक जाता है, जिससे शौच सुगमतासे हो जाता है। इस दृष्टिसे नितम्बोंके बल बैठकर शौच करनेवाली आधुनिक प्रथा ठीक नहीं, इसीलिये खड़े-खड़े पेशाब करना भी ठीक नहीं; क्योंकि बैठकर पेशाब करनेपर मूत्राशयमें दबाव पड़नेसे पेशाब जैसा साफ हो जाता है, वैसा खड़े होकर करनेपर नहीं हो सकता। वस्तुतः इन आधुनिक दूषित प्रथाओंका कारण तंग पैण्ट पहनना ही है। खड़े होकर पेशाब करनेकी आदत हो जानेपर जहाँ आधुनिक ढंगसे पेशाबघर नहीं हैं, वहाँपर पेशाब लग जानेपर स्त्री-पुरुषोंसे भरे मार्गमें पशुओंकी तरह पैरों और कपड़ोंको गन्दे करते हुए निर्लज्ज होकर पेशाब करना तो पशुताकी ओर बढ़ना ही है। इसीलिये पारस्करगृह्यसूत्रमें खड़े होकर मल-मूत्र-त्यागका निषेध किया गया है—

'तिष्ठन् न मूत्रपुरीषे कुर्यात्।' (पा०गृ०सू० २।७।१५)

'उच्चारे मौनं समाचरेत्' उच्चार अर्थात् मल-मूत्रका त्याग करते समय मौन रहे। बात करते हुए मल-मूत्रका त्याग करनेपर

दुर्गन्धके परमाणु पेटमें चले जानेसे अनेक बीमारियाँ हो जाती हैं। इस दृष्टिसे देखें तो बीड़ी, सिगरेटके धुएँको निगलते हुए टट्टी-पेशाब करनेकी आदत तो बहुत ही हानिकर है। नाकसे भी दुर्गन्ध पेटमें न जाय, इसके लिये नाकको भी बन्द करनेका विधान अशक्य-अनुष्ठान होनेसे कोई बुद्धिमान् नहीं कर सकता। उससे बचनेका उपाय तो वायु आनेकी तरफ मुख करनेसे ही हो जाता है।

सूर्यके सम्मुख होकर मल-मूत्रका त्याग करनेपर मूत्रसे सूर्यकी किरणें टकराकर मुख आदि अंगोंपर उनका प्रतिबिम्ब पड़नेपर चकत्ते पड़ जाते हैं। आधिदैविक दृष्टिसे सूर्य-चन्द्र पूजनीय देवता हैं। पूजनीय सूर्य, चन्द्र, अग्नि, गो, ब्राह्मण, गुरु तथा राजाके सम्मुख होकर मल-मूत्रका त्याग करना अशिष्टता तथा उनका अपमान करना है। इसीलिये धर्मशास्त्रोंमें वैसा करनेको मना किया गया है।

मार्गमें, भस्ममें, गोशालामें, हलसे जोती जमीनमें, जलमें, वेदीमें, पर्वतपर, पुराने मन्दिरमें एवं बाँबीमें मल-मूत्रका त्याग नहीं करना चाहिये—

न मूत्रं पथि कुर्वीत न भस्मनि न गोव्रजे॥
न फालकृष्टे न जले न चित्यां न च पर्वते।
न जीर्णदेवायतने न वल्मीके कदाचन॥

(मनु० ४।४५-४६)

जलमें तथा मार्गमें मल-मूत्र-त्यागसे जनस्वास्थ्यकी हानि होती है। भस्ममें छिपी आगसे, पुराने मन्दिर और बाँबीमें प्रायः रहनेवाले साँप, बिच्छू आदि जहरीले प्राणियोंसे हानिकी सम्भावना रहती है। गोशाला आदि पवित्र स्थानोंको अपवित्र करना उचित नहीं है। इन्हीं कारणोंसे इन स्थानोंमें मल-मूत्रका त्याग करना मना किया गया है।

इसी प्रकार अन्य स्थानोंके बारेमें जान लेना चाहिये।

गुदाशुद्धि कागजसे नहीं—प्रथम तो जलसे गुदाको अच्छी तरह धोना चाहिये, बादमें एक बार लिंगमें तथा तीन बार गुदामें मिट्टी लगाकर धोनेपर ही पूर्ण शुद्धि होती है। इसीलिये मनुजीने कहा है—

'एका लिङ्गे गुदे तिस्रः'

(मनु० ५। १३६)

कोई भी व्यक्ति इस बातका अनुभव कर सकता है कि गुदामें मिट्टी लगानेसे जैसी शुद्धि होती है, वैसी शुद्धि केवल पानीसे नहीं होती। इसका कारण यह है कि भोजनमें मिश्रित घृत, तेल तथा पित्तकी चिकनाहट मलके साथ मिली रहती है, उससे गुदामें जो चिकनाहट लग जाती है, उसकी शुद्धि रूखी क्षारयुक्त मिट्टीसे जैसी अच्छी तरह होती है, वैसी केवल पानीसे नहीं होती। ऐसी दशामें केवल कागजके चार टुकड़ोंसे तो कदापि नहीं हो सकती। नित्य प्रति मृत्तिकासे गुदा साफ करनेसे बवासीर रोगकी सम्भावना नहीं रहती। फ्लसके शौचालयमें मिट्टीका प्रयोग न कर सकें तो स्नानघरमें अवश्य करना चाहिये। मिट्टीसे गुदा, लिंग धोनेका कार्य थोड़े जलसे नहीं हो सकता, इसलिये बड़े लोटेमें जल ले जाना चाहिये।

मिट्टीसे ही शुद्धि—

'तथैकत्र करे दश। उभयोः सप्त दातव्याः'

(मनु० ५। १३६)

मनुके उक्त वचनानुसार गुदाशुद्धिके अनन्तर बायें हाथमें दस बार तथा दोनों हाथोंमें सात बार—इस प्रकार सत्रह बार मिट्टी लगाकर हाथ धोना चाहिये। कुछ विद्वानोंका निर्णय है कि **'यावदपैत्यमेध्याक्तात्'** अर्थात् जितनेसे अपवित्र वस्तुका लेप नष्ट हो जाय—इस शास्त्रान्तर वचनानुसार उक्त सत्रह बारकी संख्याका अदृष्ट उत्पादक कार्योंके लिये

ही विधान किया गया है, दुर्गन्ध-निवारणके लिये नहीं किया गया। ऐसा न माननेपर '**यतीनां तु चतुर्गुणम्**' (मनुस्मृति ५। १३७)—इस मनु-वाक्यसे जो संन्यासीके लिये ६८ बारका विधान है, उसकी संगति युक्तियुक्त नहीं बतायी जा सकेगी। तो भी इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिये कि ४-८ आनेभर मिट्टी हाथमें एक बार लगानेसे ही शुद्धि हो जाती है। अतः दुर्गन्ध-निवारणके लिये भी पर्याप्त मिट्टी लेकर कम-से-कम २-३ बार पहले केवल बायें हाथको फिर ३-४ बार दोनों हाथोंको मिलाकर मिट्टीसे साफ करना चाहिये।

यावत् साध्विति मन्येत तावच्छौचं विधीयते।
प्रमाणं द्रव्यसंख्या वा न शिष्टैरुपदिश्यते॥

इस श्लोकमें देवलऋषिने मिट्टी तथा संख्याके प्रमाणका निषेध करते हुए मन-सन्तोषको शुद्धिमें प्रमाण कहा है, उसका तात्पर्य इतना ही है कि घृत तथा तेलके कारण यदि अशुद्धि अधिक हो तो जबतक अशुद्धि दूर हो जानेका मनको विश्वास न हो जाय तबतक अधिक-से-अधिक बार मिट्टी लगाये।

'अनुच्छिष्टप्रदेशात्तु शौचार्थं मृत्तिकां हरेत्।'

(बृहन्नारदपु०)

इस शास्त्रवचनानुसार पवित्र देशसे मिट्टी लेनी चाहिये, तभी शुद्धि होती है। कुत्ता आदिके मल-मूत्रसे भावना दी हुई तथा रास्तेकी मिट्टीसे तो शुद्ध हाथ तथा लोटा आदि बर्तन भी अशुद्ध ही हो जाते हैं। लकड़ी एवं कण्डेकी राखसे भी शुद्धि अच्छी तरह हो जाती है। अतः शुद्ध मिट्टी या राखसे ही शुद्धि करनी चाहिये।

साबुनसे शुद्धि नहीं—मलमें घृत-तैलकी तथा पित्तकी स्निग्धता (चिकनाहट) मिली रहती है, उसकी शुद्धि रुक्ष तथा क्षारयुक्त मिट्टी या राखसे जैसी अच्छी तरह होती है, वैसी स्निग्ध

साबुनसे नहीं होती। अति तीक्ष्ण कास्टिक सोडाप्रधान कपड़े धोनेवाले साबुनसे दिनमें अनेक बार हाथ धोनेसे हाथ रूखे, फटे-से हो जाते हैं। चर्बीप्रधान नहानेवाले चिकने साबुनसे मलकी चिकनाहटका विरोध न होनेसे विरोधी गुण रुक्षतायुक्त मिट्टीसे जैसी सफाई होती है, चिकने साबुनसे नहीं। इतना ही नहीं, अपितु चर्बीका अंश हाथमें लगा रह जानेके कारण शुद्ध हाथ तथा लोटे आदि बर्तन भी अशुद्ध ही हो जाते हैं। इसका अनुभव निम्नलिखित प्रयोगसे कोई भी कर सकता है। आप एक हाथ तथा एक लोटेको मिट्टीसे और दूसरे हाथ तथा दूसरे लोटेको साबुनसे साफ कीजिये, फिर दोनों हाथों तथा लोटोंपर पानी डालिये, जिस हाथ तथा लोटेमें साबुन लगाया था उसमें पानी सिमट जायेगा, मिट्टीवालेमें नहीं सिमटेगा, इससे यह सिद्ध हो जाता है कि साबुनमें पड़ी हुई चर्बीकी चिकनाहटका अंश हाथ तथा लोटेमें लगा हुआ है जिससे हाथ तथा लोटा अशुद्ध ही हैं, शुद्ध नहीं हुए, यह मानना ही पड़ेगा। मिट्टी, राखसे शुद्धि करनेपर साबुनमें व्यर्थ पैसा भी नष्ट नहीं होता। प्राचीन आयुर्वेद तथा अर्वाचीन प्राकृतिक चिकित्साशास्त्रानुसार मिट्टीमें विषों तथा दोषोंको दूर करनेवाले अद्‌भुत गुण विद्यमान हैं। ऐसी दशामें सर्वकालमें एवं सर्वदेशमें सर्वव्यक्तिको सुलभ, अमूल्य तथा अनेक गुणयुक्त मृत्तिकाद्वारा ही शुद्धि करना उचित है, इसके विपरीत साबुनसे नहीं।

अग्राह्य मृत्तिका—जलके भीतरसे, देवगृह (मन्दिर)-से, बाँबी और चूहेके बिलसे तथा टट्टी-पेशाब आदिद्वारा अपवित्र स्थानसे मिट्टी नहीं लेनी चाहिये—

अन्तर्जलाद् देवगृहात् वल्मीकान्मूषकगृहात्।
कृतशौचस्थलाच्चैव न ग्राह्याः पञ्च मृत्तिकाः॥

(आह्निकसूत्रावलीमें शातातपका वचन)

उक्त पाँच मिट्टियाँ अग्राह्य इसलिये हैं कि जलके भीतर कंकड़, पत्थर,कीटादि रहते हैं, उनसे हानि हो सकती है। मन्दिरसे यदि सभी मिट्टी लेने लगेंगे तो मन्दिर ही एक दिन नष्ट हो जायगा। बाँबी तथा बिलमें सर्पादि जन्तुओंका भय रहता है। शौचादिसे अशुद्ध स्थानकी मिट्टी अशुद्ध होनेसे उससे शुद्धि नहीं हो सकती, यह पीछे कहा ही जा चुका है। इसी प्रकार अन्य सभी विधि-निषेधोंसे हानि-लाभका विचार करके ही नियम बनाये गये हैं, उन्हें स्वयं समझनेका प्रयास करनेसे अधिक लाभ होगा।

दन्तधावन—छ:से आठ घंटे मुख बन्द करके सोते रहनेके कारण मुख विषैला तथा दुर्गन्धयुक्त हो जाता है, इसलिये दन्तधावन (दातून)-के द्वारा दाँतोंसहित मुखको अवश्य साफ करना चाहिये, अन्यथा दाँतों तथा अंगोंमें अनेक प्रकारके रोग हो जाते हैं। इसका कारण यह है कि दाँतोंका मैल केवल दाँतोंमें ही रोग नहीं पैदा करता, अपितु मैले दाँतोंसे चबाया हुआ भोजन भी दाँतोंके विषसे दूषित हो जाता है, जिससे आमाशय, आँतें तथा मलाशय सभी दूषित हो जानेके कारण अरुचि, मन्दाग्नि, बवासीर आदि अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। चलते, बात करते एवं ऊपरकी ओर देखते हुए दातून करनेसे मुखका गन्दा पानी मुखमें चले जानेकी बहुत सम्भावना रहती है। इसीलिये शास्त्रमें उनका निषेध करके बैठकर, मौन होकर तथा नीचेको मुख करके दातून करनेका विधान किया गया है। प्रात:कालके अतिरिक्त दिनमें दूसरी तथा तीसरी बार शौच जानेपर भी बारह बार कुल्ला अवश्य करना चाहिये एवं मूत्रत्याग करनेपर चार बार कुल्ला करना चाहिये।

काष्ठसे लाभ—भिन्न-भिन्न लाभोंके लिये आयुर्वेद तथा धर्मशास्त्रोंमें भी भिन्न-भिन्न वृक्षोंकी दातून करनेका विधान है।

जैसे—

१—बदर्या मधुरः स्वरः। २—उदुम्बरे च वाक्सिद्धिः।
३—अपामार्गे स्मृतिर्मेधा। ४— निम्बश्च तिक्तके श्रेष्ठः॥

१—बेरकी दातूनसे स्वर मधुर हो जाता है। २—गूलरसे वाणीकी सिद्धि होती है। ३—अपामार्गसे स्मरण-शक्ति तथा बुद्धिशक्तिकी प्राप्ति होती है। ४—निम्ब (नीम)-से मुखके पायरिया आदि रोग नष्ट होते हैं एवं बबूलसे दाँत हिलना बन्द हो जाता है।

'प्रक्षाल्य भक्षयेत् पूर्वं प्रक्षाल्यैव तु तत्त्यजेत्'।

(मार्कण्डेयपु०)

दातून चबानेसे पहले तथा फेंकनेसे पहले धोनी चाहिये; क्योंकि हानिकारक कीट-पतंगके टट्टी-पेशाबसे दूषित दातून बिना धोये चबानेसे अपनी हानि हो सकती है तथा बिना धोये फेंकनेसे दूसरे प्राणियोंको हानि हो सकती है, कारण कि मनुष्यका मुख प्रातः विषैला होता है, अतः दातूनमें लगे मैलको जो कोई दूसरा प्राणी खा लेगा, उसे हानि हो सकती है।

भिल्लोदककषायेण तथैवामलकस्य वा।
प्रक्षालयेन्मुखं नेत्रे स्वस्थं शीतोदकेन वा।

(चर्यामंजरी)

भिलावा अथवा आँवलाके कषायसे अथवा शीतल जलसे ही मुख तथा नेत्रोंको धोये, इससे विशेष लाभ होता है। मुखमें पानी भरकर नेत्रोंमें छींटे लगानेसे नेत्रकी ज्योति भी सुरक्षित रहती है। दातूनसे उक्त लाभोंके अतिरिक्त अर्थ-बचतका लाभ भी होता है; क्योंकि मंजन या टूथपेस्टकी अपेक्षा इसमें बहुत कम खर्च पड़ता है। इसके अतिरिक्त अनेक गरीबोंको रोजगार प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार शारीरिक, आर्थिक तथा सामाजिक लाभ काष्ठकी

दातूनसे होते हैं। व्रतोंमें दातून करना धर्मशास्त्रकी दृष्टिसे मना है। शारीरिक दृष्टिसे निम्न रोगोंके होनेपर दातून न करें—

मुखस्य पाके शोथे च कर्णरोगे नवज्वरे।
तृषिते चार्दिते कण्ठे रोगे ताल्वोष्ठजे गदे॥
जिह्वामये दन्तरोगे नेष्यते दन्तधावनम्॥

मुख पक गया हो या सूज गया हो, कानोंमें पीड़ा हो, नया बुखार हो, प्यास लगी हो, गला, तालु, ओष्ठमें तथा जीभ और दाँतोंमें रोग हो, तो दातून नहीं करनी चाहिये। इसका कारण भी स्पष्ट ही है कि इन रोगोंमें दातून करनेसे ये रोग बढ़ जाते हैं।

टूथपेस्टसे हानि—दाँतोंको अधिक चमकानेके लिये टूथपेस्टमें कुछ ऐसी चीजें मिलायी जाती हैं; जिनसे दाँतोंके ऊपर प्रकृतिद्वारा लगायी पालिश शीघ्र नष्ट हो जाती है। इससे दाँतोंमें पानी लगने लगता है तथा दाँत कमजोर हो जाते हैं। ब्रुशसे मसूढ़े खुल जाते हैं, जिससे उनमें साग-सब्जी फँस जाती है तथा दाँत हिलने लग जाते हैं। ब्रुशको यदि गरम पानीसे न धोया जाय तो ब्रुशमें नीचे मैल जम जाता है। एक व्यक्तिद्वारा भी उसीका बार-बार प्रयोग करनेपर दाँतोंमें पायरिया आदि रोग हो जाते हैं। ऐसी दशामें भिन्न-भिन्न रोगोंसे ग्रस्त तथा भिन्न-भिन्न प्रकृतिवाले अनेक व्यक्ति एक ही ब्रुशका प्रयोग करें तो रोग उत्पन्न हो जानेमें संशय ही नहीं हो सकता।

इस प्रकार केवल शारीरिक हानि ही नहीं होती, अपितु आर्थिक हानि भी होती है; क्योंकि टूथपेस्ट तथा ब्रुशमें एक व्यक्तिके लिये कम-से-कम पाँच रुपये प्रतिमास खर्च हों तो पाँच व्यक्तिवाले परिवारमें एक वर्षमें तीन सौ रुपयेका खर्च बढ़ेगा। इसपर एक सज्जनने कहा कि क्या जरा-जरा-सी बातोंपर विचार करते हैं? मैंने

उनके इस कटाक्षका उत्तर देते हुए उनके मध्यम श्रेणीके परिवारमें इसी प्रकारके दो हजार रुपयोंका फालतू खर्चा निकालकर दिखाया। बादमें कहा कि आप अपने देश, नगर तथा पड़ोसके गरीबोंकी और असहाय विधवा स्त्रियोंकी सहायता नहीं करते, इतना ही नहीं अपने वृद्ध माता-पिता तथा विधवा बहनकी भी सहायता नहीं करते और इसमें कारण बताते हो कि हमारी आमदनी सीमित है। आपको शरम आनी चाहिये, इन फालतू दो हजार रुपयोंकी सहायतासे विधवा बहनकी लाज बचानी चाहिये।

मेरी इस प्रकार हित तथा युक्तियुक्त प्यारभरी फटकार सुनकर उन सज्जनको अपनी भूल समझमें आ गयी और वे अपनी बहनकी तथा माता-पिताकी सहायता करने लगे। पाठकोंसे यह निवेदन है कि इस हितकारी दूरदर्शी आर्थिक हानि-लाभके दृष्टिकोणको खूब गम्भीरतासे समझ लें; क्योंकि इन छोटे-छोटे फालतू खर्चोंकी चर्चा जगह-जगह ग्रन्थमें की गयी है।

जहाँ बड़े नगरोंमें दातूनें न प्राप्त होती हों, वहाँ आयुर्वेदिक हानिरहित लाभप्रद मंजनोंका भी प्रयोग किया जा सकता है, वे भी टूथपेस्टकी अपेक्षा कम खर्चीले होते हैं तथा गरीबोंको रोजगार देनेवाले हैं। शुद्ध मिट्टीसे भी दाँत भलीभाँति साफ हो जाते हैं।

व्यायाम—आयुर्वेदमें व्यायामके लाभोंका इस प्रकार वर्णन है—

शारीरोपचयः कान्तिर्गात्राणां सुविभक्तता।
दीप्ताग्नित्वमनालस्यं स्थिरत्वं लाघवं मृजा॥
श्रमक्लमपिपासोष्णशीतादीनां सहिष्णुता।
आरोग्यं चापि परमं व्यायामादुपजायते॥

शरीरवृद्धि, कान्ति, अंगोंकी सुडौलता, जठराग्निकी तीव्रता, आलस्यका अभाव, शरीरमें स्फूर्ति, स्थिरता; परिश्रम, थकावट, भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी आदि सहन करनेकी योग्यता तथा नीरोगता व्यायामसे होती है। व्यायाम दो प्रकारसे किया जाता है। एक तो मल्लविद्यानुसार दण्ड-बैठक, मुद्गर-चालन, कुश्ती आदिके रूपमें किया जाता है, दूसरा योगशास्त्रानुसार सूर्यप्रणाम, पश्चिमोत्तानासन, हलासन, शीर्षासन आदिके रूपमें विविध रोग-निवृत्ति तथा स्वास्थ्य-लाभके लिये किया जाता है। इनको जानकार लोगोंसे सीखकर इनके लाभोंका अनुभव किया जा सकता है, इसलिये इनपर विशेष नहीं लिखा जा सकता। व्यायाम स्नानसे पहले करनेपर शरीरकी गर्मी शान्त होनेपर ही स्नान करना चाहिये, नहीं तो गर्मी-सर्दीके योगसे जुकाम आदि रोग हो जानेकी सम्भावना है। स्नानके बाद तो तुरन्त भी व्यायाम करनेसे कोई हानि नहीं। अतः अपने इच्छानुसार तथा सुविधानुसार इन्हें कर सकते हैं।

तैलमर्दन—तैलमर्दनके विषयमें चरकने कहा है—

'स्पर्शनेऽभ्यधिको वायुः स्पर्शनं च त्वगाश्रितम्।
त्वच्यश्च परमभ्यङ्गस्तस्मात्तं शीलयेन्नरः॥'

(चरकसंहिता सूत्र० ५।८७)

शरीरको स्वस्थ रखनेके लिये अधिक वायुकी आवश्यकता है। वायुका ग्रहण त्वचाके आश्रित है, त्वचाके लिये अभ्यंग (तैल-मालिश) परमोपकारी है, इसलिये मालिश करनी चाहिये।

साधारणतया तो यही माना जाता है कि वायुका ग्रहण नासिकासे ही किया जाता है, किंतु वास्तविक बात यह है कि जितनी वायुका नाकसे ग्रहण किया जाता है, उतनेसे शरीरका पूरा कार्य चलता नहीं, इसलिये शरीरको ईश्वरने असंख्य रोमकूपोंके छिद्रोंसे युक्त जालीदार बनाया है, इसका प्रत्यक्ष दर्शन सूक्ष्मदर्शक

यन्त्रोंसे किया जा सकता है। त्वचाके इन छिद्रोंसे ही शेष वायुकी पूर्ति होती है। यही कारण है कि यदि किसी व्यक्तिके शरीरपर तारकोल पोतकर रोमकूप बन्द कर दिये जाते हैं तो वह हाँफने तथा छटपटाने लग जाता है। इन रोमकूपोंको स्वच्छ, शुद्ध तथा खुला रखनेके लिये ही तैलमर्दनका मुख्यरूपसे विधान किया गया है। इसके अतिरिक्त तैलमर्दनसे त्वचा कोमल बनती है। तैल-मालिशके लिये सरसोंका तेल अधिक उपयोगी है। १०-१५ दिनमें दो-दो बूँद सरसोंका तेल कानमें डालनेसे कानोंमें रोग नहीं होते, बहरापन जल्दी नहीं आता।

तैलमर्दन-सम्बन्धी विधि-निषेध—धर्मशास्त्रोंमें तैलके विषयमें कहा है—

'तैलाभ्यङ्गे रवौ तापः सोमे शोभा कुजे मृतिः।
बुधे धनं गुरौ हानिः शुक्रे दुःखं शनौ सुखम्॥'

रविवारको तैलमर्दन करनेसे गर्मी, सोमवारको शोभा, मंगलवारको मृत्यु, बुधको धन-प्राप्ति, गुरुवारको हानि, शुक्रवारको दुःख और शनिवारको सुख होता है।

इन विधि-निषेधोंके रहस्योंको समझनेके लिये दिनोंके नामोंका रहस्य समझना होगा। सूर्य-चन्द्र आदि बड़े ग्रहोंके प्रभावको अति स्थूल होनेके कारण सभी अपनी इन्द्रियोंसे ग्रहण करते हैं; मंगल, बुध आदि ग्रहोंके प्रभावको सूक्ष्म होनेसे हमलोग नहीं ग्रहण कर पाते, परंतु उनका प्रभाव तो होता ही है। उसको भी सर्वज्ञ ऋषियोंने जाना और उसके आधारपर जिस ग्रहका जिस दिन अपेक्षाकृत अधिक प्रभाव होता है, उसके दिनका नाम उस ग्रहके नामपर ही सूर्यवार, सोमवार आदिके रूपमें रख दिया। ऐसा लगता है कि यूरोप आदि देशोंके प्राचीन विद्वान् भी इस विज्ञानसे परिचित थे; क्योंकि सण्डे, मण्डे आदि दिनोंके नाम वहाँ भी ग्रहोंके नामानुसार ही हैं।

सूर्यकी उष्णतासे तो सभी परिचित हैं ही, उक्त विज्ञानानुसार रविवारका दिन अन्य दिनोंकी अपेक्षा अधिक उष्ण होता है, अतः उस दिन उष्ण गुणप्रधान तैलमर्दनसे शरीरमें गर्मी बढ़ जाना—यह फल बताना ठीक ही है। सोमवारके दिन चन्द्रमाकी शीतलताका उष्ण गुणयुक्त तेलसे शमन होकर शोभाका होना भी ठीक ही कहा गया है। मंगल भी अति उष्ण होनेके कारण उस दिन उष्ण तेलके मर्दनसे अति उष्णता बढ़ना, उससे मृत्यु (संकट)-का होना भी ठीक ही है। शुक्र ग्रह हमारे शरीरमें स्थित शुक्र (वीर्य)-को प्रभावित करता है, उस दिन उष्ण गुणवाले तैलके मर्दनसे शुक्र पतला हो जाता है। अति शनैः-शनैः मन्द गतिसे चलनेके कारण जिस ग्रहका नाम ही शनैश्चर रखा गया है; उस दिन उसके प्रभावसे खूनकी गति भी मन्द हो जाती है, अतः शनिवारको तैल-मर्दनसे खूनकी मन्द गतिका नाश होकर सुख होना ठीक ही कहा गया है।

दोषमार्जन—सर्वज्ञ सूक्ष्मदर्शी ऋषियोंने ग्रहोंसे होनेवाले सूक्ष्म दोषोंको ही नहीं जाना, अपितु उन दोषोंके मार्जन (दूर करने)-के उपायोंको भी जानकर बताया है—

'रवौ पुष्पं गुरौ दूर्वा भौमवारे तु मृत्तिका।
गोमयं शुक्रवारे च तैलाभ्यङ्गे न दोषभाक्॥'

रविवारको पुष्प, गुरुवारको दूर्वा, मंगलवारको मिट्टी और शुक्रवारको गोबर मिलाकर तैलमर्दनसे दोष नहीं होता। इसका कारण भी स्पष्ट है कि गुलाब आदि पुष्प शीतल होते हैं, उनसे तेलकी उष्णताका शमन हो जाता है, जिससे गर्म रविवारको भी हानि नहीं होती एवं हरी दूर्वा स्मृतिवर्धक होती है, अतः बुद्धिके स्वामी गुरु बृहस्पतिके दिन तैलमर्दनसे होनेवाली बुद्धिकी हानिका मार्जन बुद्धिवर्धक दूर्वासे हो जाता है। इसीलिये विवाह आदि कार्योंमें

दूर्वाको तेलमें डुबोकर अभिषेक–मार्जन करते हैं। मंगल भूमिका पुत्र और उष्ण है, हमारा शरीर भी पार्थिवप्रधान है, मिट्टी मिला देनेसे उष्ण तेलकी उष्णताका शमन हो जाता है। गोमय तथा गोमूत्र–जैसा पदार्थ–शोधक द्रव्य संसारमें कोई नहीं है। यही कारण है कि आयुर्वेदमें पदार्थोंके शोधनमें उनका मुख्यरूपसे उपयोग किया जाता है तथा धर्मशास्त्रोंने तो शरीरकी ही शुद्धि नहीं, पापोंका नाश करके अन्तःकरणका शोधन करनेके लिये भी गोमय तथा गोमूत्रका पंचगव्यके रूपमें पान करनेका विधान किया है। अतः गोमय तथा गोमूत्रके मिला देनेसे तेलकी वीर्यनाशक शक्तिका शमन हो जाता है।

यहाँ यह जान लेना चाहिये कि केवल तिलसे निकाले तैलका ही तत्–तत् दिनोंमें विधान या निषेध किया है, सरसोंके तैलका या सुगन्धयुक्त तिलके तैलका निषेध नहीं किया गया है; क्योंकि यमस्मृतिमें कहा गया है—

'सार्षपं गन्धतैलं च यत्तैलं पुष्पवासितम्।
अन्यद्रव्ययुतं तैलं न दुष्यति कदाचन॥'

सरसोंका तेल, सुगन्धयुक्त तेल, फूलोंसे वासित तेल और अन्य द्रव्योंसे युक्त तेल—ये कभी भी दोषयुक्त नहीं होते, अतः इन्हें सब दिन लगा सकते हैं।

तैलमर्दन स्वास्थ्यके लिये हितकारी होनेपर भी ब्रह्मचारीके लिये मना क्यों किया गया? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि ब्रह्मचारीका मुख्य धर्म है ब्रह्मचर्यका सम्यक् पालन करना। अतः उस ब्रह्मचर्यके पालनमें जो बाधक हैं, उनका निषेध करना आवश्यक हो जाता है; उनका भले ही अन्यत्र किसी लाभकी दृष्टिसे विधान किया गया हो। तैलमर्दनसे शरीरमें उष्णता तथा सुन्दरताकी वृद्धि होती है, उष्णतासे वीर्य तथा सुन्दरतासे मन उत्तेजित होता है, जिससे ब्रह्मचर्यपालनमें

बाधा आती है। इसीलिये ब्रह्मचारीके लिये तैलमर्दन, कंघा, चमकीले-भड़कीले सुन्दरतावर्धक वस्त्राभूषण और उष्णतावर्धक प्याज, लहसुन, मिर्च, मसाला आदि पदार्थोंका सेवन करना मना है। अतः ब्रह्मचारीको इनका सेवन नहीं करना चाहिये। ब्रह्मचारीको ही नहीं संयमपूर्वक साधना करनेवाले गृहस्थको भी इनका सेवन नहीं करना चाहिये।

यहाँ रहस्य यह है कि जिस देश, काल, अवस्था, परिस्थिति तथा व्यक्तिको दृष्टिमें रखकर जिस मुख्य उद्देश्यकी पूर्तिके लिये जिनका विधि-निषेध शास्त्रमें किया है, वे ही उसके लिये पालनीय हैं, भले ही उनका अन्यत्र दूसरे रूपमें विधि-निषेध किया गया हो। इस रहस्यको सम्यक् समझ लेनेपर सर्वत्र विरुद्ध विधि-निषेधोंकी संगति स्वयं ही समझमें आ जायगी।

स्नान—'ष्णा शौचे' धातुसे निष्पन्न होनेवाले स्नान शब्दका अर्थ ही शुचिता है, वही इस शौच-विज्ञानप्रकरणका मुख्य विषय है। इसके पूर्व निरूपित टट्टी-पेशाब और दातूनद्वारा तो केवल मलका त्यागमात्र ही होता है। बीचमें व्यायाम तथा तैलमर्दनका निरूपण तो स्नानका पूर्वकृत्य होनेके कारण किया गया है। हमारे शरीरमें जो पसीना होता है, उसका जलीय अंश तो भाप बनकर उड़ जाता है, पार्थिव अंश मैल बनकर जम जाता है। यदि नित्य स्नान करके उसे धोया न जाय तो शरीरमें मैलकी एक तह जम जायगी, जिससे रोमकूपके छिद्र बन्द हो जायँगे। इसका परिणाम यह होगा कि भीतरका मल तथा दूषित वायु बाहर न निकल पायेगी, जिससे शरीरमें दुर्गन्ध और अनेक रोगोंकी उत्पत्ति हो जायगी। इस विवेचनसे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि स्नान ऐसी विधिसे करना चाहिये, जिससे मैल अच्छी तरह छूट जाय, इसके लिये २-४ लोटा जल्दीसे पानी डाल लेना

पर्याप्त नहीं; अपितु पर्याप्त जल लेकर शरीरको खूब रगड़- रगड़कर पानीसे धोना चाहिये। यह कार्य अधिक जलवाले तालाब तथा बावड़ीमें और सबसे अच्छा बहते हुए जलवाली नदियोंमें होता है; क्योंकि नदीमें हमारे शरीरसे निकलता हुआ मैल बहता जाता है और उसकी जगह नया स्वच्छ जल आता जाता है। इसीलिये धर्मशास्त्रोंमें गृहकी अपेक्षा तालाब, तालाबकी अपेक्षा नदी और नदीकी अपेक्षा गंगादि पवित्र जलवाली नदियोंमें स्नानको उत्तम माना है।

गंगाकी पवित्रता—शास्त्रोंमें गंगादि नदियोंकी पवित्रताका जो कथन है, वह अन्धविश्वासमात्र नहीं है। इस युगमें भी गंगाके जलकी पवित्रताको अपने अनेक वैज्ञानिक परीक्षणोंद्वारा भौतिक विज्ञानवादियोंने भी मुक्त कण्ठसे स्वीकार किया है। वैज्ञानिकोंने अति स्वच्छ गंगोत्रीके जलका तथा अनेक नदी-नाले, गन्दे मल-मूत्रके परनालेवाले वाराणसी, कलकत्तेके गंगाजलका भी परीक्षण करके बताया कि गंगाजलमें रोगके कीटाणुओंको डालनेपर वे दूसरे जलोंकी तरह वृद्धिको प्राप्त नहीं होते, इतना ही नहीं, अपितु बहुत जल्दी मर जाते हैं। वर्षों रखे रहनेपर भी गंगाजलमें कीड़े नहीं पड़ते—यह तो सभी आस्तिक जानते ही हैं, इसीलिये वे श्रद्धापूर्वक उसे लाकर घरमें रखते हैं और पूजा आदि कार्योंमें तथा मृत्युकालमें मरते हुए प्राणीके मुखमें डालते हैं। गंगाजलमें कीड़े न पड़नेका गुण केवल गंगाजलत्वके कारण ही नहीं है, किंतु गंगाजीके पवित्र क्षेत्रका भी प्रभाव उसमें कारण होता है; क्योंकि गंगाजीसे निकली नहरोंके विशुद्ध जलमें भी कीड़े पड़ जाते हैं, परन्तु गंगाक्षेत्रमें बहती गंगाजीके अशुद्ध जलमें भी कीड़े नहीं पड़ते।

गंगाकी देवीरूपता—भौतिक विज्ञानकी तरह आधिदैविक विज्ञानका चमत्कार इस युगमें भी प्रत्यक्ष देखनेमें आता है।

वाराणसी जिलेमें मोकलपुर गाँवमें गंगातटपर एक महात्मा रहते थे। उन्होंने १२ वर्षतक बड़ी कड़ी तपस्या करके मकरवाहिनी देवीके रूपमें गंगाजीका दर्शन प्राप्त किया था। गंगाजीने उन्हें तत्त्वज्ञानके साथ-साथ नाना प्रकारकी सिद्धियाँ प्रदान की थीं। उनमेंसे उनकी वाक्-सिद्धिरूप विलक्षण चमत्कारका हजारों मनुष्य रोज अनुभव करते थे। नाना प्रकारके परस्पर-विरुद्ध रोगोंके शिकार हजारों मनुष्य प्रतिदिन एकत्रित होते थे, महात्माजीके मनमें जिस वस्तुका ध्यान आ जाता, वही वस्तु सबको खानेके लिये कह देते, उसके खानेमात्रसे सबके रोग दूर हो जाते। कई सन्तोंने यह सब चमत्कार स्वयं प्रत्यक्ष देखे हैं।

शास्त्रोंमें गंगाका माहात्म्य—दूसरी नदियोंके जलकी तरह गंगाजल वर्षा ऋतुमें भी दूषित नहीं होता। प्रवाहमेंसे निकाला हुआ भी गंगाजल बासी, ठण्डा, गरम या शूद्र आदिसे छू जानेपर भी दूषित नहीं होता। गंगाजीमें रात्रिमें भी स्नान करनेसे दोष नहीं होता। घरमें लाकर गंगाजलसे स्नान करनेपर भी अश्वमेध-यज्ञका फल प्राप्त होता है। यह माहात्म्य निम्न निर्दिष्ट श्लोकोंमें कहा गया है—

प्रतिस्रोतोरजोयोगो रथ्याजलनिवेशनम्।
गङ्गायां न प्रदुष्यन्ति सा हि धर्मद्रवः स्वयम्॥

(मार्कण्डेयपु०)

भूमिष्ठमुद्धृतं वापि शीतमुष्णमथापि वा।
चिरं पर्युषितं चापि शूद्रस्पृष्टमथापि वा।
जाह्नव्याः स्नानदानादौ पुनात्येव सदा पयः॥

(आदित्यपु०)

दिवा रात्रौ च सन्ध्यायां गङ्गायां च विशेषतः।
स्नात्वाऽश्वमेधजं पुण्यं गृहेषूद्धृततज्जलैः॥

(ब्रह्माण्डपु०)

स्नानविधि—सर्वप्रथम सिरपर जल डालना चाहिये, इससे सिर

आदिकी गर्मी पैरोंसे निकल जाती है, इसके विपरीत पैरोंमें प्रथम जल डालनेसे पैर आदि अंगोंकी गर्मी मस्तिष्क (सिर)-में पहुँचकर हानि पहुँचाती है। यही कारण है कि चलकर गंगा आदि जलाशयोंपर पहुँचकर प्रथम सिरपर जल धारण करके प्रणाम करनेका शास्त्रोंमें विधान किया गया है। ऐसा करनेसे भौतिक विज्ञानानुसार उक्त लाभ तो होता ही है, साथ ही आधिदैविक विज्ञानानुसार वरुणदेवता तथा गंगा आदि देवियोंका आदर भी हो जाता है। नदियोंमें जिधरसे प्रवाह आ रहा हो, उधर मुख करके स्नान करना चाहिये तथा बावड़ी, तालाब आदिमें सूर्यकी ओर मुख करके स्नान करना चाहिये। स्नान करते समय जलका स्पर्श पाते ही वाणी प्रफुल्लित हो जाती है, उसका सदुपयोग भगवन्नाम-कीर्तन, स्तोत्र-पाठ आदिद्वारा करना चाहिये। मनोविज्ञानानुसार गंगादि पवित्र तीर्थोंके साथ मानसिक सम्बन्ध स्थापित करनेके लिये और आधिदैविक विज्ञानानुसार साधारण जलको भी पवित्रजल बनानेके लिये निम्न श्लोक बोलना चाहिये—

गङ्गे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति।
नर्मदे सिन्धु कावेरि जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु॥

स्नाननिषेध—बीमारीमें, भोजन करनेके बाद, अजीर्णमें, दस बजेसे तीन बजेतक रात्रिमें स्नान करनेसे शारीरिक हानि होती है। बहुत वस्त्रोंको पहने हुए स्नान करनेसे शरीरमर्दनमें बाधा होती है। अलंकार-आभूषण धारण करके स्नान करनेसे आभूषणोंकी क्षति होती है। नग्न होकर नहाना निर्लज्जताका द्योतक होता है, इससे जलदेवताका निरादर होता है। इन सब कारणोंसे शास्त्रोंमें इस प्रकारसे स्नान करनेका निषेध किया गया है।

वस्त्रधारण-विज्ञान

धुले हुएको धौत कहते हैं, धौत शब्दका अपभ्रंश होकर 'धोती' शब्द बन गया है, प्रतिदिन धोये जानेके कारण ही धोती नाम पड़ा है। स्नान करनेके बाद धुला वस्त्र ही पहनना चाहिये। दो दिन पहले साबुन तथा टिनोपालसे धोया हुआ कपड़ा मैला न होनेपर भी पवित्र नहीं कहा जा सकता; क्योंकि पसीना, नाक, लार आदिसे वह अपवित्र हो जाता है। विशेष करके इस आधुनिक युगमें खड़े-खड़े पेशाब करनेवालोंके तथा पेशाबके समय जलसे मूत्रेन्द्रिय न धोनेवालोंके पैंट आदि देखनेमें सफेद चमकदार होनेपर भी बहुत ही अपवित्र होते हैं। इसके विपरीत १५-२० दिन पहले साबुनसे साफ की हुई धोती मैली होनेपर भी प्रतिदिन धोयी जानेके कारण पवित्र होती है, अतः पूजा आदि कार्योंमें मैली धोती भी पहनना उचित है, चमकदार पैंट नहीं। धोबीके घरका प्रथम दिनमें धुला हुआ तथा नया निर्मल वस्त्र भी अपने घरमें धोये बिना धारण नहीं करना चाहिये; क्योंकि धोबी सैकड़ों वस्त्र सुखानेके लिये पवित्र-अपवित्र, सभी प्रकारकी भूमिमें वस्त्र डालता है तथा मरे हुए, जन्मे हुए एवं रोगी मनुष्योंके भी वस्त्र धोता है। अतः कम-से-कम पूजन तथा भोजनमें उन वस्त्रोंको धोकर ही पहनना चाहिये। यही बात देवलऋषिने स्पष्ट शब्दोंमें कही है—

स्वयं धौतेन कर्तव्या क्रिया धर्म्या विपश्चिता।
न तु नेजकधौतेन नाहतेन न कुत्रचित्॥

ऊनी और रेशमी वस्त्रोंमें मलोंका लेप बहुत कम होनेके कारण धोये बिना भी धारण करनेका विधान शास्त्रोंमें किया गया है।

महाभारतमें कहा गया है—

आविकं तु सदा वस्त्रं पवित्रं राजसत्तम।
पितृदेवमनुष्याणां क्रियायां च प्रशस्यते॥
धौताधौतं तथा दग्धं सन्धितं रजकाहृतम्॥

वस्त्रधारणका उद्देश्य—वस्त्रधारणका मुख्य उद्देश्य शरीर-रक्षा तथा लज्जानिवारण है। अतः भिन्न-भिन्न देश तथा कालको दृष्टिमें रखकर शरीर-रक्षाके लिये तथा स्त्री-पुरुषोंके अंगोंकी बनावट और कोमलता तथा कठोरताको दृष्टिमें रखकर भिन्न-भिन्न प्रकारके वस्त्र धारण करनेका विधान शास्त्रकारोंने किया है।

भारतवर्ष उष्ण देश है, यहाँ आठ-नौ महीने गर्मी पड़ती है, पुरुष-शरीर स्त्री-शरीरकी अपेक्षा कठोर होता है, पुरुषको बाहर निकलकर परिश्रमका कार्य अधिक करना पड़ता है। इन सब कारणोंसे पुरुषके शरीरमें हवा अधिक लगती रहनी चाहिये, इसके लिये इस प्रकारसे धोती पहननेका विधान है, जिससे गुप्तांगोंका आच्छादन भी हो जाय और शरीरमें हवा भी लगती रहे। इसके विपरीत स्त्रीका शरीर पुरुष-शरीरकी अपेक्षा अधिक कोमल होता है, घरके अन्दर रहकर कम श्रमके कार्य करने पड़ते हैं और लज्जा-निवारणके लिये अंगोंको भी ढककर रखना पड़ता है, इसलिये स्त्रीको इस प्रकारसे धोती पहननेका विधान किया है, जिससे सिरसे पैरतक सभी अंगोंका सम्यक् आच्छादन हो जाय।

ढीले वस्त्रोंको पहननेसे सर्दी और गर्मीका अधिक प्रभाव पहले वस्त्रको ही प्रभावित करके क्षीण हो जाता है, अतः शरीर और वस्त्रके बीचमें रहनेवाली वायु अधिक शीतल या उष्ण न होकर शरीरके प्रायः अनुरूप रहती है, इससे ढीले वस्त्रोंद्वारा सर्दी और गर्मीसे शरीरकी अधिक रक्षा होती है। इसी विज्ञानके आधारपर बीचमें कुछ जगह

छोड़कर आफीसरोंके दोहरे तम्बू लगाये जाते हैं तथा कश्मीर और तिब्बतके पुराने विचारवाले लोग आज भी बहुत ढीला खोल-जैसा चोला (झंगा) पहनते हैं। बीचमें हवा रहनेके कारण नई भरकर आयी रजाईमें गर्मी अधिक होती है, वही रजाई पुरानी हो जानेपर रुई दबकर पोली न रहनेके कारण उतना ही वजन रहनेपर भी उतनी गर्मी नहीं देती, इसका अनुभव तो प्रायः सभीको होगा। इसके विपरीत शरीरसे चिपके सटे हुए वस्त्र धारण करनेपर बाहरकी सर्दी-गर्मीसे वस्त्र शीतल तथा उष्ण होकर बीचमें वायु न होनेके कारण सटे हुए शरीरको तुरंत ही सर्दी-गर्मी दे देते हैं, जिससे वस्त्रधारणका मुख्य उद्देश्य ही नष्ट हो जाता है तथा स्त्रियोंके अंगोंका स्पष्ट प्रदर्शन-सा होनेके कारण लज्जानिवारण भी नहीं होता। अति चुस्त कपड़े पहननेसे शरीरको स्वच्छ हवा कम मिलनेके कारण त्वचा—चर्म-सम्बन्धी रोग उत्पन्न हो जाते हैं तथा कपड़े पहनने और उतारनेमें जोर अधिक पड़नेके कारण वे फट भी जल्दी जाते हैं।

आधुनिक प्रथाओंसे हानियाँ

(क) शारीरिक हानि—कोमल शरीरवाली स्त्रियोंके कन्धेतक हाथोंको खुला रखनेवाली, पीठ, गर्दन, कमर और उदर (पेट)-को भी खुला रखनेवाली कंचुकी-धारणकी प्रथा तो सर्दी, गर्मी तथा लज्जानिवारणरूप उद्देश्यकी पूर्तिके सर्वथा विपरीत ही है; क्योंकि उक्त दोषोंसे दूषित चिपकी हुई कंचुकी सर्दी-गर्मीके निवारणमें असमर्थ है। अति तंग (कसी हुई) चोली पहननेवाली स्त्रियोंको स्तनोंका कैंसर होनेकी अधिक सम्भावना रहती है।

पुरुषका शरीर स्त्री-शरीरकी अपेक्षा कठोर होता है। तो भी स्त्रीके वस्त्रोंसे सर्वथा विपरीत पूरी बाँहकी कमीज, पीठ तथा गलेकी तरफसे भी हवा न जा सके, ऐसी बन्दकालरकी कमीज, उसपर भी

नेकटाई एवं कमर तथा उदरसे भी हवा न जा सके, ऐसी पैंटमें घुसायी कमीजका पहनना एवं अति मोटे वस्त्रसे बना पैरोंतक ढकनेवाला तंग पैंट इस उष्णताप्रधान देशमें पहनना स्वास्थ्य-विज्ञानानुसार शरीर-रक्षा करनेमें कैसे अनुकूल है! ऐसे मोटे, तंग पैंटोंको रोज न धोया जा सकनेके कारण तथा पेशाबके समय जल लेकर जानेकी आदत न होनेके कारण एवं खड़े-खड़े पेशाब करते समय पेशाबके छींटोंके छिटक जानेके कारण ये पैंट देखनेमें स्वच्छ होनेपर भी वस्तुतः अति अपवित्र होते हैं, जिससे शरीरको हानि ही होती है। किसी महापुरुषके पास जाकर नीचे बैठनेका अवसर आनेपर ये तंग पैंट पहननेवाले सभ्यतापूर्वक पलथी मारकर बैठ भी नहीं सकते, घुटने टेककर प्रणाम करना तो सर्वथा ही असम्भव है। अतः यही कहना पड़ता है कि स्त्री-पुरुषोंकी यह आधुनिक वस्त्रधारणकी प्रथा शरीररक्षाके सर्वथा विपरीत केवल सुन्दरता-प्रदर्शनभावके लिये पाश्चात्य यूरोपीय देशोंका अन्धानुकरणमात्र है। अतः शरीर-विज्ञानकी दृष्टिसे भी देखें तो प्राचीन प्रथा ही हितकारी है।

(ख) मानसिक हानि—अंगप्रदर्शक तंग चोली या कंचुकी पहननेवाली स्त्रीको देखकर पुरुषके मनमें कामोत्तेजना उत्पन्न होनेसे उसका मानसिक पतन होता है। ऐसी अवस्थामें घरसे बाहर निकलनेपर स्त्रीको पुरुषोंकी कुदृष्टिका शिकार होना पड़ता है। मनोविज्ञानकी दृष्टिसे जिसको ५०-१०० व्यक्ति जिस भावनासे देखते हैं, उसपर उन भावोंका प्रभाव अवश्य पड़ता है। यदि वह व्यक्ति भी उसी भावसे भावित हो तब तो कहना ही क्या है! इसी दृष्टिसे महापुरुषोंका कहना है कि जो स्त्रियाँ पुरुषोंको आकर्षित करनेके लिये एवं जो पुरुष स्त्रियोंको आकर्षित करनेके लिये ही शृंगार करते हैं, वे छिपे हुए कामी ही हैं। यही कारण है कि ब्रह्मचारीके लिये

सभी प्रकारके श्रृंगार शास्त्रोंमें मना हैं।

कुछ लोगोंका कहना है कि घूँघट तथा चादरकी प्रथा मुसलमानोंके सम्पर्कसे आयी है, किंतु उनका यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि मुसलमानोंके भारतमें आनेसे पूर्व ही नहीं, अपितु इस्लाम मतकी उत्पत्तिसे भी हजारों वर्षपूर्व लिखे स्मृतिग्रन्थोंमें चादर आदिका वर्णन मिलता है। शंखस्मृतिमें लिखा है—

न गृहान्निर्गच्छेत् नानुत्तरीया न नाभिं दर्शयेत्।
आगुल्फाद् वासः परिदध्यात् न स्तनौ विवृतौ कुर्यात्॥

बिना चादर ओढ़े घरसे न निकले, नाभि न दिखाये, गुल्फ—एड़ीके ऊपरके गाँठपर्यन्त वस्त्र—धोती पहने, स्तनोंको ऊँचा न उठाये।

इतना ही नहीं उससे होनेवाली हानियोंसे बचनेके लिये दूरदर्शितापूर्ण उपायका कथन करनेके कारण भगवान् श्रीकृष्णके सत्य कथनको ही गुणयुक्त वचन कहा जा सकता है। भगवान्‌के वचन इस प्रकार हैं—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥

(गीता ३। ३४)

इन्द्रियोंका अपने अर्थमें (विषयमें) राग-द्वेष विशेषरूपमें स्थित है, उन राग-द्वेषोंके वशमें नहीं होना चाहिये; क्योंकि राग-द्वेष साधकके मार्गमें विघ्न करनेवाले महान् शत्रु हैं।

वहाँ भगवान् श्रीकृष्ण सभी विषयोंकी 'इन्द्रियोंका अपने अर्थमें राग-द्वेष व्यवस्थित है' इस आधे श्लोकमें ही कथन कर देते हैं। भगवान्‌के वचन कितने सुन्दर तथा मर्यादापूर्ण हैं, यह देखते ही बनता है। भगवान् इस सत्यका कथन करके ही चुप नहीं हो जाते, अपितु उससे होनेवाली हानियोंसे बचानेवाले दूरदर्शितापूर्ण उपायका भी आधे

श्लोकमें ही निर्देश कर देते हैं कि 'राग-द्वेषके वश न होना, वे साधकके शत्रु हैं।' प्रायः सभी स्मृतियों तथा पुराणोंमें भोगोंसे कामनाकी शान्ति नहीं की जा सकती, इस बातका कथन करनेवाला यह श्लोकार्ध अक्षरशः मिलता है—

'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।'

(मनुस्मृति २।९४)

इसके विपरीत पाश्चात्य जीवन-शैलीके समर्थक भोगोंद्वारा ही कामनाका शमन करना चाहते हैं। इसे कलियुगकी महिमाके अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है! हमने साधकोंको सावधान करनेके लिये प्रसंगतः इतना लिख दिया है, इसपर पूरा विचार किया जाय तो हम अपने विषयपर बहुत देरसे आ पायेंगे। इसलिये इस विषयको छोड़ते हुए सविनय निवेदन है कि प्राचीन ऋषियोंके मार्गपर चलनेमें ही कल्याण सम्भव है, अन्य प्रकारसे तो पतन ही पतन होगा।

(ग) आर्थिक हानि—वर्तमानमें बहुत महीन वस्त्र-धारणकी प्रथा बढ़ती जा रही है, लोग इसे उन्नति तथा विकासका लक्षण भी मानते हैं, परंतु महीन वस्त्रोंसे सर्दी, गर्मी तथा लज्जाका निवारणरूप वस्त्र-धारणका उद्देश्य पूर्ण नहीं होता। महीन वस्त्र बहुत जल्दी फट जाते हैं, उनकी कीमत भी बहुत अधिक होती है, इस प्रकार मोटे वस्त्रोंकी अपेक्षा महीन वस्त्रोंमें ४-६-८ गुनातक अधिक रुपया लगाना पड़ता है।

महीन वस्त्र भी जब मिलके धुले हुए लिये जाते हैं तब वे और जल्दी फटते हैं; क्योंकि उनको कपड़ेको काट देनेवाले कास्टिक सोडा तथा ब्लीचिंग पाउडरसे धोया जाता है। इससे उनकी कीमत भी और अधिक हो जाती है। यह सब जानते हुए भी मिलके धुले हुए ही कपड़े इसलिये खरीदे जाते हैं कि बिना धुले खरीदकर घरपर चार बार साबुन लगानेपर भी वे उतने चमकदार नहीं हो पाते, जितने मिलके धुले होते

हैं। इस चमत्कारी युगमें चमकका ऐसा चक्कर चला है कि मिलकी धुली चमकसे भी सन्तोष नहीं होता, इसलिये रोज साबुन लगाकर, उसपर भी टिनोपालसे पालिश देकर चमकाते हैं। ब्लीचिंग पाउडर और टिनोपाल मैलको नहीं, अपितु वस्त्रको ही काटते हैं; क्योंकि साबुनसे एक-दो बार अच्छी तरहसे धोये हुए वस्त्रमें मैल रह ही नहीं सकता। ब्लीचिंग पाउडर या टिनोपालको आधा चम्मच लेकर वस्त्रके ऊपर डाल दीजिये, आप देखेंगे कि उतना वस्त्र गल जायगा, इस प्रयोगसे प्रत्यक्ष हो जायगा कि वे कपड़ेको काट देते हैं। एक तो महीन वस्त्र, दूसरे मिलका धुला, तीसरे रोज-रोज साबुनकी रगड़, चौथे टिनोपालकी गलन—इस प्रकार बेचारा कपड़ा अपनी नूतनावस्थामें ही जीर्णावस्थाको प्राप्त हो जाता है, जिससे एक-दो महीनेमें फट जाता है। इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिये कि गन्दा कपड़ा पहना जाय; क्योंकि मनुजीने स्पष्ट कहा है—

'न जीर्णमलवद्वासा भवेच्च विभवे सति॥'

(मनु० ४।३४)

केवल इसका तात्पर्य यह है कि जितनेसे मैल नष्ट हो जाय उतना ही वस्त्रको धोयें।

विज्ञानके इस नये युगमें नयी-नयी जातिके कपड़े निकले हैं, जिनकी कीमत भी बहुत अधिक होती है। इनके पहननेवाले कहते हैं कि ये कपड़े सूती कपड़ोंकी अपेक्षा चार-छः गुना अधिक टिकाऊ होते हैं। मैंने पूछा क्या आप इन कपड़ोंके पुराने होनेपर ही नये खरीदते हैं या नयी डिजायन आनेपर बदल देते हैं? मेरे प्रश्नको सुनकर सिर झुकाकर चुप हो गये। एकने कहा कि हम तो पुराना होने पर ही बदलते हैं। मैंने पूछा आपके इन कीमती टिकाऊ कपड़ोंमें छेद, दाग या चाकू आदिसे चीरा हो जानेपर हृदयमें छेद, दाग या चीरा हो

जाने-जैसी पीड़ा नहीं होती। 'अवश्य होती है' यह उत्तर देकर सिर झुका लिया। मैंने कहा—बाबूजी, इस चमक-दमकने आपलोगोंको ऐसे चक्करमें डाल रखा है, जिससे आप अपनी ही स्थितिको समझनेमें असमर्थ हो गये हैं। इन नये वस्त्रोंसे क्या-क्या शारीरिक हानि होती है, इसे तो कुछ दिनोंके बाद भौतिक विज्ञान स्वयं बताने लगेगा, इसलिये हम कुछ भी नहीं लिखते।

रंगोंसे हानि—सफेद रंग सूर्यकी अधिकांश किरणोंका परावर्तन कर देता है, यही कारण है कि सफेद वस्त्र या अन्य सफेद वस्तुएँ मन्द प्रकाशमें भी दीख जाती हैं। दूसरे रंगोंसे प्रकाशका परावर्तन अपेक्षाकृत कम होता है। काले और नीले रंगसे तो बहुत ही कम होता है। यही कारण है कि मन्द प्रकाशमें काला और नीला कपड़ा जल्दी नहीं दीखता। सूर्यकी किरणोंमें या किसी भी प्रकाशमें उष्णता होती है, अतः श्वेत रंगके वस्त्र प्रकाश-परावर्तनके साथ-साथ उष्णताका भी परावर्तन अधिक कर देते हैं, इसलिये गर्मीसे रक्षा श्वेत वस्त्रोंके पहननेसे अधिक होती है। ऐसी दशामें इस गर्म भारत देशमें श्वेत वस्त्र धारण करना ही अधिक हितकर है। काला वस्त्र प्रकाशका कम परावर्तन करता है, अधिक शोषण करता है। अतः काला वस्त्र उष्णताको भी अधिक ग्रहण करता है। इसका प्रत्यक्ष अनुभव करनेके लिये आप एक अति श्वेत कपड़ेके दो टुकड़े करके एकको अति काले रंगसे रँगकर दोनों टुकड़ोंको धूपमें सूखनेके लिये डाल दीजिये, घड़ी देखते रहिये, आप देखेंगे कि काला वस्त्र जल्दी सूखेगा। इसी प्रकार तथा रंग-विज्ञानके आधारपर सर्दीके दिनोंमें लोग रंगीन, विशेष करके काले रंगवाले कपड़ेकी जाकेटमें रुई भरकर पहनते थे। अब भी पुराने विचारके लोग पहनते हैं। यह रुईभरी काली

जाकेट कम दाममें बन जाती है। इससे जितनी सर्दी दूर होती है, उतनी सर्दी स्वेटर तथा कीमती कोटसे भी दूर नहीं होती। इसे कोई भी अनुभव करके देख सकता है। यद्यपि रुईसे ऊन अधिक गरम होता है तो भी रुईकी पोलाईमें वायु भरी रहती है, जिसके कारण सर्दीका संक्रमण जल्दी नहीं होता। इसीलिये ऊनी वस्त्रोंके मिलमालिक भी रुईकी रजाई ही ओढ़कर सोते हैं। कम्बलोंका बोझा नहीं ढोते। कम्बलोंकी अपेक्षा रजाई कितनी हलकी-फुलकी और आरामदायक होती है, इसे तो सभी जानते ही हैं।

एक पाश्चात्य देशके वैज्ञानिकने दीर्घकालतक अनेक प्रयोग करके लिखा था कि रंग-बिरंगे कपड़ों पर कीड़े-मकोड़े, मच्छर आदि जीव-जन्तु अधिक आक्रमण करते हैं, उनकी अपेक्षा लाल और पीले रंगपर कम और सफेद कपड़ोंपर सबसे कम आक्रमण करते हैं। इससे लगता है कि भारतीय विद्वानोंको रंग-विज्ञानका पता बहुत पूर्वकालमें हो गया था; क्योंकि भारतमें प्रायः गृहस्थ श्वेत, वानप्रस्थ-ब्रह्मचारी पीले तथा संन्यासी लाल कपड़े प्राचीनकालसे ही पहनते आ रहे हैं।

इस रंग-विज्ञानके आधारपर ही नीलसे रँगे हुए वस्त्र पहनकर पाठ-पूजा आदि धार्मिक कार्य करना मना किया गया है। आपस्तम्बऋषिने कहा है—

स्नानं दानं जपो होमः स्वाध्यायः पितृतर्पणम्।
पञ्चयज्ञा वृथा तस्य नीलीवस्त्रस्य धारणात्॥

(आपस्तम्बस्मृति ६।३)

जो नीलवस्त्र धारण करके स्नान, दान, जप, होम, स्वाध्याय, पितृतर्पण, महायज्ञ आदि कर्म करता है; उसके वे कर्म निष्फल हो जाते हैं।

इसका एक कारण तो यह है कि नील बनानेके लिये जिस वनस्पतिको सड़ाते हैं, उसमें हजारों-लाखों कीड़े पड़ जाते हैं।

उसको मथकर नील निकालनेमें वे कीड़े मर जाते हैं। इस प्रकार नीलको बनानेमें जीव-हिंसा बहुत होती है। दूसरा कारण यह है कि नीलका रंग भी काले रंगके समान होनेके कारण उष्णताका शोषण अधिक करता है। अधिक उष्णता बढ़ानेवाले पदार्थ तमोगुणकी वृद्धिमें सहायक होते हैं। इसीलिये काला रंग तमोगुणका और श्वेत रंग सत्त्वगुणका प्रतीक माना गया है। इसी प्रतीकके आधारपर तमोगुणके कार्य—विरोध, कलह तथा क्रोधका प्रदर्शन करनेके लिये आज भी काले रंगके झण्डे दिखाते हैं एवं सत्त्वगुणके कार्य—शान्ति, युद्धबन्दी आदिके प्रदर्शनके लिये श्वेत रंगके झण्डे दिखाते हैं। यही कारण है कि सफेद तिलसे काला तिल, सफेद धतूरेसे काला धतूरा, अन्य प्रकारके साँप और बिच्छुओंकी अपेक्षा काले साँप और बिच्छू अधिक गर्म तथा जहरीले होते हैं। कपड़ोंपर रंगीन बेल-बूटे काढ़ना भी अर्थहानि तथा समय नष्ट करनेवाला होनेसे त्याज्य है।

निष्कर्ष—उक्त विवेचनसे निष्कर्ष यह निकलता है कि देश, काल, व्यक्ति और अवस्थाके अनुसार जिन वस्त्रोंको धारण करनेसे सर्दी, गर्मी तथा लज्जा-निवारणरूप मुख्य उद्देश्यकी पूर्ति होती हो तथा शरीर-विज्ञानानुसार कोई रोग उत्पन्न न होकर रोगोंका नाश होता हो एवं मनोविज्ञानानुसार भोग, विलास, कामुकता आदि मानसिक रोग उत्पन्न न होकर सादगी आदि सत्त्वगुण बढ़ते हों और आर्थिक, पारिवारिक तथा सामाजिक संकट उत्पन्न न करते हों, ऐसे वस्त्रोंको ही धारण करना चाहिये। इन सबपर विचार करके ही ऋषियोंने जैसे वस्त्र धारण करनेका विधान किया है, वैसे ही वस्त्र धारण करने चाहिये। आधुनिक प्रथा उसके विपरीत होनेके कारण उसका क्रमशः परित्याग करना चाहिये।

पूजा-विज्ञान

आसन-विधि—जलसे स्नान करनेपर जलकी पवित्रता तथा शीतलतासे शरीर और मनमें पवित्रता, स्वच्छता तथा लघुता आदि सात्त्विक गुणोंका संचार होता है, इसका सभी अनुभव करते हैं। ऐसी सात्त्विक अवस्थामें भजन, ध्यान, पाठ-पूजा आदि धार्मिक कार्य जितनी सफलतापूर्वक किये जा सकते हैं, उतनी सफलतासे अन्य अवस्थामें नहीं किये जा सकते। यही कारण है कि शास्त्रकारोंने स्नानके अनन्तर धौत वस्त्र धारण करके ही पूजा करनेका विधान किया है। पूजा किसी आसनपर ही बैठकर करनी चाहिये। आसन शब्दके दो अर्थ होते हैं, १-जिस चौकी, कुशासन, मृगचर्म आदिके ऊपर हम बैठते हैं, २-जिन सिद्ध, पद्मादि आसनोंसे हम बैठते हैं।

जितने कपड़ोंको ओढ़कर लेटनेपर सर्दी लग रही हो, उतने कपड़ोंको ही ओढ़कर बैठ जानेपर सर्दी कम लगेगी, इसका अनुभव कोई भी करके देख सकता है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि बैठनेपर शरीरमें उष्णताके रूपमें विद्युत्-प्रवाह अधिक होता है। यह विद्युत्-प्रवाह ही सारी क्रियाओंका सम्पादक होता है। भजन, ध्यान, पाठ-पूजा आदि क्रियाओंके अनुकूल विद्युत्-प्रवाह सिद्ध, भद्र, पद्मादि आसनोंसे बैठनेपर ही अधिक उत्पन्न होता है, इसका ऋषियोंने अनुभव करके भजन, ध्यानादिके लिये उन्हीं सिद्धादि आसनोंसे बैठनेका विधान किया है। इन आसनोंसे उत्पन्न विद्युत्-प्रवाह पृथ्वीमें प्रवेश न कर जाय; इसके लिये विद्युत्के कुचालक लकड़ीकी चौकी, कुश, ऊन आदि पदार्थोंको आसनके रूपमें बिछाकर बैठनेका विधान किया है।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्॥

(गीता ६।११)

शुद्ध देशमें जिसके ऊपर क्रमशः कुश, मृगचर्म और वस्त्र बिछे हैं; ऐसे अपने आसनको, जो न अति ऊँचा हो और न अति नीचा हो, स्थिर स्थापन करे।

इस श्लोकमें जिसपर बैठा जाता है; उस प्रथम आसनका सांगोपांग सम्यक् वर्णन किया गया है। गंगा-तट आदि जो देश स्वभावसे पवित्र हैं, उनमें अथवा झाड़-बुहारकर गोबरसे लीपे-पोते पवित्र स्थानमें ही ध्यान करना चाहिये। मल-मूत्र आदिसे गन्दे स्थानोंमें शरीर तथा मनमें स्वच्छता, पवित्रता तथा सात्त्विकताका संचार न होनेसे ध्यानादिमें मन नहीं लगेगा।

काष्ठकी चौकी—चौकी काठकी ही होनी चाहिये, पत्थर या लोहे आदिकी नहीं; क्योंकि काठ ही विद्युत्का असंचालक होता है, पत्थर तथा लोहा नहीं। इसके अतिरिक्त गर्मीमें काष्ठ अधिक गर्म तथा सर्दीमें अधिक शीतल नहीं होता, किंतु लोहा और पत्थर अधिक गर्म तथा शीतल हो जाते हैं। काष्ठ हलका होनेसे उसे उठाने-रखनेमें सुविधा भी होती है। काष्ठकी चौकी भी यदि अति ऊँची होगी तो गिरनेके भयसे ध्यानमें बाधा होगी और यदि अति नीची होगी तो जमीनकी सर्दी और गर्मीके प्रभावसे तथा चींटी, चींटे आदि जन्तुओंके उपद्रवसे ध्यानादिमें बाधा होगी। काष्ठकी चौकी यदि स्थिर न होगी, हिलेगी-डुलेगी तो ध्यानादिमें बाधा होगी। केवल काष्ठ भी कठोर होनेके कारण बिना उसपर कुछ बिछाये अधिक बैठनेपर गुदापर दबाव पड़नेसे गुदासम्बन्धी बवासीर आदि रोग हो जानेकी सम्भावना रहती है, इसीलिये उसपर कुशासन आदि बिछानेको कहा गया है।

कुशासनके ऊपर मृगचर्म बिछानेसे मृगचर्म जल्दी खराब नहीं होता, मृगचर्मपर वस्त्र बिछानेसे मृगचर्मके रोम जल्दी नहीं टूटते तथा मृगचर्म गन्दा नहीं होता। इस प्रकार तीन आसन और बिछा देनेसे चौकीकी कठोरतासे रक्षा हो जाती है, ज्यादा कोमलता भी नहीं होती। ज्यादा कोमल आसन बिछाना भी शास्त्रमें मना किया है; क्योंकि ज्यादा कोमल आसन शरीरको आरामतलब बनाकर आलस्य तथा निद्रा पैदा करता है तथा मनमें विलासिताका भाव जाग्रत् करता है। इसलिये रबड़के मुलायम डनलपके गद्दोंपर बैठकर भजन-ध्यान नहीं करना चाहिये।

कुशासन—केवल कुशासनसे भी काम चल सकता है; क्योंकि कुश भी काष्ठकी तरह विद्युत्का असंचालक है तथा काष्ठकी अपेक्षा भी कम ठण्डा और गरम होता है। सर्वत्र सुलभ होनेसे अल्प मूल्यमें ही प्राप्त हो जाता है। यह गरीबोंको जीविका प्रदान करके सामाजिक व्यवस्थामें सहायक होता है। पुराणोंके कथनानुसार गरुड़जी अपनी माता विनताको सौतेली माता कद्रूकी दासतासे मुक्त करनेके लिये स्वर्गसे अमृतका कलश लाये थे, उस कलशसे छलककर अमृत कुशोंपर पड़ गया था, इसलिये कुश परम पवित्र भी है। यही कारण है कि देव-पूजाके सभी कार्योंमें कुशके प्रयोगका विधान है तथा कुशासनको सर्वदोषरहित और सब मन्त्रोंकी सिद्धिमें सहायक कहा है—

भूमौ दर्भासने रम्ये सर्वदोषविवर्जिते।
कुशासने मन्त्रसिद्धिर्नात्र कार्या विचारणा॥

मृगचर्म—मृगचर्मको लेकर यह शंका होती है कि चमड़े-जैसे अपवित्र पदार्थका पूजा-जैसे पवित्र कार्यमें प्रयोग क्यों किया जाता है? इसका उत्तर यह है कि पदार्थोंमें पवित्रता-अपवित्रता या गुण-अवगुणका विधान हमारी लौकिक-अलौकिक उन्नतिमें सहायक

होनेसे किया जाता है। मृगचर्म और शंख शुद्ध चमड़ा, हड्डी होनेपर भी इन्हें शास्त्रमें इसीलिये पवित्र माना गया है कि ये हमारी अलौकिक आध्यात्मिक उन्नतिमें सहायक होते हैं। किंतु किसी जीवको मारकर पूजा-कार्यमें मृगचर्म आदिका प्रयोग करना उचित नहीं है। जीवकी स्वाभाविक मृत्युके उपरान्त ही इसके चर्मादिका प्रयोग करना चाहिये।

मृग अत्यन्त निर्दोष सात्त्विक सरल प्राणी होता है, इसलिये उसके चर्ममें भी सात्त्विकता आदि गुण होते हैं; क्योंकि यह नियम है कि जिन शारीरिक या मानसिक गुणोंसे युक्त जो प्राणी होता है, उसके चर्म आदिमें भी उन गुणोंका प्रभाव रहता है।

इस विज्ञानके आधारपर ही ऋषियोंने निर्दोष सरल सात्त्विक मृगके चर्मका निर्दोषता, सरलता तथा सात्त्विकता प्राप्त करानेवाली आध्यात्मिक साधनामें विधान किया है एवं ओजस्विता, पराक्रमशीलता, शूरता आदि गुणोंको प्राप्त करानेके लिये इन्हीं गुणोंसे युक्त सिंह और व्याघ्रके चर्मपर बैठनेके लिये राजाओंको आज्ञा दी है। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न सकाम कार्योंकी सिद्धिके लिये उनके अनुरूप कम्बल, लाल कम्बल आदि भिन्न-भिन्न प्रकारके आसनोंका विधान किया गया है। ब्रह्माण्डपुराणमें कहा है—

'काम्यार्थं कम्बलं चैव श्रेष्ठं च रक्तकम्बलम्।'
'कृष्णाजिने ज्ञानसिद्धिः', 'कृष्णाजिनं वै सुकृतस्य योनिः'

आसन-निषेध—उक्त प्रकारसे लाभदायक आसनोंका विधान करके हानिकारक आसनोंका निषेध भी शास्त्रोंमें किया है, ब्रह्माण्डपुराणमें कहा है—

धरण्यां दुःखसम्भूतिः पाषाणे व्याधिपीडनम्।
जपध्यानतपोहानिं वस्त्रासनं करोति हि॥

धरतीमें बैठनेपर दुःखकी उत्पत्ति, पत्थरपर बैठनेसे व्याधि और पीड़ा, केवल वस्त्रपर बैठनेसे जप, ध्यान और तपकी हानि होती है।

इनका कारण भी स्पष्ट है—केवल धरतीमें बैठनेपर धरतीकी गर्मी और सर्दीसे तथा कीड़े-मकोड़ोंके काटनेसे दुःख उत्पन्न होगा ही। कठोर पत्थरपर अधिक समयतक बैठनेसे बवासीर आदि रोग भी उत्पन्न हो सकते हैं। केवल वस्त्र विद्युत्-संचालक होनेके कारण सिद्ध, पद्मादि आसनोंद्वारा उत्पन्न जप और ध्यानमें उपयोगी विद्युत् पृथ्वीमें चली जायगी, जिससे जप-ध्यानकी हानि अवश्य होगी।

सिद्धासन—यहाँतक जिसपर हम बैठकर जप तथा ध्यान करते हैं, उस आसनका विवेचन किया गया है। अब हम जिस प्रकार बैठते हैं, उस सिद्ध आसनका विवेचन किया जाता है। सिद्ध आसन ही पद्मादि अन्य आसनोंकी अपेक्षा अधिक उपयोगी तथा साध्यसिद्धिमें अधिक सहायक है। इसीलिये इसका नाम सिद्धासन रखा गया है। शाण्डिल्योपनिषद्में कहा है—

योनिं वामेन सम्पीड्य मेढ्रादुपरि दक्षिणम्।
भ्रूमध्ये च मनोलक्ष्यं सिद्धासनमिदं भवेत्॥

(१।७)

गुदा और मूत्रेन्द्रियके बीचमें योनिस्थानको बायें पैरकी एड़ीसे दबाकर लिंगके ऊपर दाहिने पैरको रखे और मनको भौहोंके बीचमें लगाये। इस प्रकार बैठनेको सिद्धासन कहते हैं।

इस प्रकार सिद्धासनसे बैठकर भी शरीरको हिलाये-डुलाये नहीं, शरीर और ग्रीवाको सीधा रखे, इधर-उधर न देखे, ये बातें गीतामें स्पष्टरूपसे कही गयी हैं—

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥

(गीता ६।१३)

गीताके इस श्लोकमें अपनी नाकके अग्रभागको देखनेको कहा है। उसका तात्पर्य नाकके अग्रभागका ध्यान करानेमें नहीं है, किंतु निद्रा तथा विक्षेप दोषसे बचानेमें ही है; क्योंकि पूरी आँख बन्द कर लेनेपर निद्रा आ सकती है और पूरी आँख खुली रखनेपर नाना प्रकारके दृश्य दीखनेसे विक्षेप होगा। इसी प्रकार ऊपरके श्लोकमें भौंहोंके बीच मन लगानेके बारेमें यह समझना चाहिये कि उस स्थानमें अपने लक्ष्यका चिन्तन करे, इसीमें उसका तात्पर्य है। साधना उक्त विधिसे बैठकर ही करनी चाहिये, लेटकर या खड़े होकर नहीं; क्योंकि बैठकर करनेपर ही ध्यान लगना सम्भव है। ब्रह्मसूत्रमें यह बात स्पष्ट कही गयी है—

'**आसीनः सम्भवात्॥**' (४।१।७)

अमुक दिशामें मुख—प्रातःकालीन सन्ध्यावन्दनादि कर्ममें सूर्य-उपासना प्रधान होनेके कारण सूर्यके सम्मुख पूर्वदिशामें मुख करके एवं सायंकालीन सन्ध्यामें पश्चिमदिशामें मुख करके उपासना करनी चाहिये। शक्तिप्रदायक सूर्यपिण्डके सम्मुख मानवपिण्ड रहनेपर धार्मिक कार्योंके अनुकूल दैवीशक्तिका संचार होता है। सूर्यकिरण-सेवनरूप प्राकृतचिकित्सा-विज्ञानानुसार प्रातःकाल तथा सायंकाल सूर्यकी किरणोंका सेवन हो जानेसे शारीरिक रोगोंका नाश होता है। लोकमर्यादानुसार जिनका सम्मान करना होता है, उनकी तरफ पीठ करके बैठना अशिष्टता तथा मुख करके बैठना शिष्टता मानी जाती है। यही कारण है कि देवकार्य पूर्वमुख होकर और पैतृक कार्य दक्षिणमुख होकर किये जाते हैं; क्योंकि देवोंकी पूर्वदिशा और

पितरोंकी दक्षिणदिशा है, ऐसा अथर्ववेद (३।२७।१—४)-में कहा गया है।

भारतके उत्तरमें स्थित हिमालयमें लोकसाधनासम्पन्न ऋषियोंका अधिक निवास है एवं विद्याप्रदाता भगवान् शंकर तथा विद्याकी अधिष्ठात्री भगवती पार्वतीका निवासस्थान भी तपोभूमि हिमालयमें ही है, इसीलिये उत्तरकी ओर मुख करके योगाभ्यास करे—ऐसा विधान त्रिशिखब्राह्मणोपनिषद्में किया गया है—

'उत्तराभिमुखो भूत्वा''' योगाभ्यासं स्थितश्चरन्।'

(१८-१९)

इसी प्रकार विशेष कार्योंके लिये दिशाविशेषका विधान विशेष विज्ञानका अनुसन्धान करके ही किया गया है, अतः उसी दिशामें मुख करके ही वह कर्म करना चाहिये।

तिलक लगाना—हमारा मन जितना अधिक शान्त और सात्त्विक होगा, उतना ही अधिक लाभ हम अपने भजन, ध्यान, पाठ, पूजा आदि कार्योंसे प्राप्त कर सकेंगे; क्योंकि भजन, ध्यान आदि कार्योंमें मनकी ही प्रधानता होती है। मनका स्थान मस्तिष्क है, इसीलिये सामर्थ्यसे अधिक मानसिक परिश्रम करनेपर मस्तिष्कमें पीड़ा होने लगती है, उसको दूर करनेके लिये चन्दन, कपूर, केसर आदि पदार्थोंका लेप करते हैं, जिससे मन पुनः स्वस्थ, शान्त, सात्त्विक और कार्यक्षम हो जाता है। इसी विज्ञानके अनुसार मन:प्रधान भजन, ध्यान, पाठ-पूजा आदि कार्य तथा दान, होम, तर्पण आदि सात्त्विक कर्मोंसे पूर्व तिलक-धारण करनेका विधान किया है तथा तिलक बिना इन कर्मोंको निष्फल बताया है। ब्रह्मवैवर्तपुराणमें कहा गया है—

ध्यानं दानं तपो होमो देवतापितृकर्म च।
तत् सर्वं निष्फलं याति ललाटे तिलकं विना॥

मस्तिष्ककी शान्तिमें चन्दन, कपूर आदि पदार्थोंकी उपयोगिताका अनुभव प्रायः सभीको है ही, इसलिये इनपर कुछ भी लिखनेकी आवश्यकता नहीं। गोपीचन्दन एक मृत्तिकाविशेष है, देशवैचित्र्य-विज्ञानके अनुसार गोपीचन्दनमें दोषनाशक तथा मस्तिष्कशोधक गुण अधिक मात्रामें रहते हैं, इसीलिये गोपीचन्दनका तिलक धारण करनेका विधान शास्त्रोंमें किया गया है। शोधक पदार्थोंमें भस्म (राख)-की उपयोगिता घरोंमें बरतन माँजनेवाली अपढ़ स्त्रियाँ भी जानती हैं। घृत, तिल, सुगन्धित धूप आदि सात्त्विक पदार्थोंद्वारा वेदमन्त्र-उच्चारणपूर्वक किये गये हवनसे निर्मित भस्ममें दोषशोधक गुणोंकी अतिवृद्धि हो जाती है, इसीलिये भस्मका त्रिपुण्ड्र धारण करनेका विधान किया गया है। गुणविज्ञानानुसार त्रिदोषनाशक तुलसीकी मृत्तिकाका एवं जलवैचित्र्य-विज्ञानानुसार सर्वरोग-कीटाणुनाशक गंगाजलकी मृत्तिकाका तिलक लगानेका विधान किया गया है। धर्मशास्त्रमें कहा है—

ऊर्ध्वपुण्ड्रं मृदा धार्यं भस्मना तु त्रिपुण्ड्रकम्।
उभयं चन्दनेनैव सर्वेषु शुभकर्मसु॥

मृत्तिकासे ऊर्ध्वपुण्ड्र और भस्मसे त्रिपुण्ड्र धारण करना चाहिये। सभी शुभ कर्मोंमें चन्दनसे दोनों प्रकारका तिलक किया जा सकता है।

तिलकमें कुमकुमका भी उपयोग किया जाता है। हल्दीके चूर्णमें नीबूके रसकी भावना देनेसे कुमकुम बन जाता है। नीबूका रस त्रिदोषनाशक तथा त्वचाशोधक है एवं हल्दी रक्तशोधक, जमे हुए रक्तको विदीर्ण करनेवाली एवं त्वचा-दोषनाशक और संयोजक गुणसे युक्त है। अतः इन सभी गुणोंसे युक्त कुमकुमसे तिलक करनेपर ज्ञानकेन्द्र मस्तिष्कके स्नायुओंका संयोजन एवं त्वचाशुद्धि होती है,

जिससे ज्ञानशक्तिका अवरोध दूर हो जानेके कारण भजन तथा ध्यानमें सहायता मिलती है। केवल हल्दी या हल्दी-चूना मिलाकर तिलक करनेपर भी यही लाभ होता है। इसी प्रकार केसर, खस, कपूर आदि पदार्थ मस्तिष्कके दोषोंका नाश करके ज्ञानशक्तिको जाग्रत् कर देते हैं।

स्त्रियोंके लिये माथेपर सिन्दूरका तिलक लगानेका विधान है। सिन्दूरमें सर्वदोषनाशक पारा-जैसी गुणदायक धातु अधिक मात्रामें होती है। तिलकके अतिरिक्त माँगमें सिन्दूर लगानेसे सिरके बालोंमें जूँ, लीख आदिका भय नहीं रहता। पुरुष-शरीरकी अपेक्षा स्त्री-शरीरमें 'अधिप' नामका मर्मस्थल अधिक कोमल होता है। यहाँ सिन्दूर लगानेसे पारेकी रसायन शक्तिसे उसकी रक्षा होती है।

ऊपर लिखे तिलकके द्रव्योंमेंसे यदि कोई द्रव्य किसी समय पासमें न हो तो केवल शुद्ध जलसे भी तिलक करनेका विधान किया गया है; क्योंकि जल भी शोधक है। यद्यपि कदाचित् शुद्ध जल भी न मिले तो हाथकी अँगुलियोंसे ही तिलक करनेको कहा है। इसका कारण यह है कि माथेमें अँगुलियोंके मर्दनसे भी ज्ञानशक्तिका अवरोध दूर होता है। लोकमें यह देखनेको खूब मिलता है कि किसी आवश्यक बातका स्मरण न आनेपर मनुष्य अँगुलियोंसे माथेको मसलने लगता है, सिर खुजाने लगता है और एकदम बोल पड़ता है—हाँ, बात याद आ गयी।

इस प्रकार तिलकके गुणोंको समझकर तिलक अवश्य करना चाहिये। इसे जंगलीपना कहना या मानना बहुत बड़ी नासमझी है। तिलक लगानेके बाद सभी धार्मिक कार्योंसे पूर्व शिखा (चोटी)-में गाँठ लगाना अति आवश्यक है। इसलिये शिखाके विषयमें आगे लिखा जा रहा है।

शिखाबन्धन—सिद्ध, पद्म आदि आसनोंद्वारा उत्पादित भजन-ध्यानकी उपयोगी विद्युत्-शक्ति पृथ्वीमें प्रविष्ट न हो जाय, इसके लिये जैसे कुशासन आदिका विधान किया गया है, वैसे ही सिरके मार्गद्वारा वह निकल न जाय, इसके लिये शिखामें गाँठ बाँधनेका विधान किया है। नुकीले पदार्थमें विद्युत् शीघ्र ही प्रविष्ट हो जाती है, वर्तुल (गोल) पदार्थमें शीघ्र प्रविष्ट नहीं होती। अतः चोटीमें गाँठ लगा लेनेपर उक्त उपयोगी विद्युत्-शक्ति शरीरसे बाहर नहीं निकलती तथा बाह्य वातावरणकी हानिकारक विद्युत्-शक्तिका शरीरमें प्रवेश नहीं होता। इसी विज्ञानके आधारपर हमारे यहाँके सभी प्राचीन मन्दिरोंके शिखरोंपर नुकीली शलाका लगायी जाती थी। आकाशकी पदार्थविदारक विद्युत् नुकीली लौह-शलाकामें प्रविष्ट होकर पृथ्वीमें चली जाती है, इससे मन्दिर क्षतिग्रस्त होनेसे बच जाता है। यही कारण है कि आजके वैज्ञानिक भी ऊँची इमारतों तथा मीनारोंकी विद्युत्से रक्षा करनेके लिये उनपर सींक लगाकर ऊपरसे नीचेतक पत्तीद्वारा पृथ्वीसे सम्बन्ध जोड़ देते हैं।

शरीर-विज्ञानकी दृष्टिसे जहाँ शिखा रखी जाती है, वहाँ मेरुदण्डके भीतर रहनेवाली ज्ञान तथा क्रियाशक्तिकी आधार सुषुम्ना नाड़ी समाप्त होती है। यह स्थान शरीरका सर्वाधिक मर्मस्थान है। इस स्थानपर चोटी रखनेसे मर्मस्थान सुरक्षित रहनेसे क्रिया-शक्ति तथा ज्ञानशक्ति सुरक्षित रहती है; जिससे भजन, ध्यान, दानादि शुभ कर्म सुचारुरूपमें सम्पन्न होते हैं। इसीलिये धर्मशास्त्रमें कहा है—

ध्याने दाने जपे होमे सन्ध्यायां देवतार्चने।
शिखाग्रन्थिं सदा कुर्यादित्येतन्मनुरब्रवीत्॥

कुशधारण—दोनों हाथ, दोनों पैर तथा सिर—ये पाँच अंग शरीरके अन्तिम अंग हैं। इनसे सिद्ध, पद्म आदि आसनोंद्वारा उत्पादित भजन-ध्यानकी उपयोगी विद्युत्-शक्तिके निकलनेकी रक्षाके लिये जैसे कुशासन तथा शिखाबन्धनका विधान किया गया है, वैसे ही हाथोंसे निकलनेकी रक्षा करनेके लिये हाथोंमें कुश धारण करनेका विधान किया गया है। कुश भी विद्युत्का संचालक नहीं होता, इसीलिये अपने शरीरकी उपयोगी विद्युत्-शक्तिको बाहर नहीं जाने देता तथा बाहरके वातावरणकी हानिकारक विद्युत्-शक्तिको शरीरमें प्रविष्ट नहीं होने देता। इसीलिये अथर्ववेदमें कहा गया है कि दर्भ (कुश) मेरी सब ओर रक्षा करे—

'दर्भः परि पातु विश्वतः।'

(अथर्ववेद १९।३२।१०)

कुश धारण करके भजन, ध्यान तथा पाठ-पूजा करनेसे एक लौकिक लाभ यह है कि उस समय कीड़े, मकोड़े, मक्खियों आदि जन्तुओंका कुशोंद्वारा निवारण करके उनसे रक्षा की जा सकती है। हाथद्वारा उन्हें हटानेपर उनके मरनेकी आशंका तथा अपने हाथ दूषित होनेपर बार-बार धोनेकी खटपट करनी पड़ेगी। अतः एक हाथमें कुशोंकी मुष्टिका रखनेका विधान किया गया है। दूसरे हाथमें माला रहती है। माला भी प्रायः विद्युत्के कुचालक काष्ठादिसे बनायी जाती है। कुश-धारण तथा माला-धारणकी चर्चा विद्युत्-शक्ति-रक्षाका प्रसंग होनेसे यहीं कर दी गयी है।

सन्ध्या—पिण्ड-ब्रह्माण्ड-विज्ञानानुसार जब बाहर ब्रह्माण्डमें रात्रि तथा दिनकी सन्धि होती है, तब पिण्डरूप मानव-शरीरके भीतर प्राण और मनकी सन्धि होती है; क्योंकि रात्रिका अधिपति चन्द्रमा

है, वही हमारे मनका देवता है और दिनका अधिपति सूर्य है, वही हमारे प्राणोंका संचालक है। मन तथा प्राणोंके सन्धिकालमें सत्त्वगुण बढ़ता है, ऐसी दशामें भजन-ध्यानरूप सन्ध्योपासना करना अति उत्तम माना जाता है। यही कारण है कि दोनों सन्ध्याओंमें सन्ध्योपासना करनेका विधान किया गया है—

(क) 'अहरहः सन्ध्यामुपासीत।' (वेद)

(ख) न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम्।
स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः॥

(मनु० २। १०३)

(क) प्रतिदिन सन्ध्योपासना करनी चाहिये। (ख) जो द्विज प्रातःकाल तथा सायंकालकी सन्ध्योपासना नहीं करता, वह शूद्रकी तरह सभी द्विज-कर्मोंसे बहिष्कार करनेयोग्य है।

अतः द्विजोंको वैदिक मन्त्रोंसे प्रातः तथा सायं अवश्य सन्ध्योपासना करनी चाहिये। स्त्री तथा शूद्रोंको भी वैदिक मन्त्रोंके बिना पौराणिक मन्त्रोंसे अथवा बिना किसी मन्त्रके केवल भगवन्नाम-उच्चारण करते हुए भगवान्‌की उपासना करनी चाहिये। उपासनाके लिये यह समय अति उपयोगी होनेके कारण ही इस समय दूसरे कर्म करनेका शास्त्रोंमें निषेध किया है।

संकल्प—आसनपर बैठकर तिलक-धारण और शिखा-बन्धन करनेके बाद संकल्प करना चाहिये; क्योंकि सम्पूर्ण कर्मोंकी सफलतामें दृढ़ संकल्पका सर्वाधिक माहात्म्य है। मनुस्मृति (२। ३)-में कहा है कि समस्त कामनाएँ यज्ञ-व्रत-नियम-धर्म संकल्पजन्य ही हैं—

सङ्कल्पमूलः कामो वै यज्ञाः सङ्कल्पसम्भवाः।
व्रतानि यमधर्माश्च सर्वे सङ्कल्पजाः स्मृताः॥

मैं चार बजे यह कार्य करूँगा, ऐसी दृढ़ प्रतिज्ञा (संकल्प)-

का करना लोकमें अधूरा माना जाता है, उसकी पूर्ति दिनमें, सोमवारको, चैत्र मासमें, अमुक संवत्में—ये विशेषण जोड़नेसे होती है। ऐसा लौकिक गणना करनेवाले लोकव्यवहारके लोग मानते हैं, सो ठीक ही है। हमारे अलौकिक ऋषि अलौकिक धर्मादि कार्योंमें भी लौकिक लोगोंसे अज्ञात कुछ अलौकिक विशेषण जोड़कर संकल्पकी सम्यक् सम्पूर्ति कर देते हैं। अतः ऋषियोंके मतानुसार संकल्पका रूप यह है—

ॐ तत्सद् अद्य ब्रह्मणो द्वितीयपरार्द्धे श्रीश्वेतवाराहकल्पे वैवस्वतमन्वन्तरे अष्टाविंशतितमे कलियुगे कलिप्रथमचरणे अमुक संवत्सरे अमुक मासे अमुक पक्षे अमुक तिथौ अमुक वासरे अमुक कर्म करिष्ये।

इस संकल्पमें अपूर्ण विशेषणोंकी सम्यक् सम्पूर्ति होती है। इतना ही नहीं अपितु हमें अपनी चिरन्तन सत्ताकी परम्पराका, जो कि लगभग दो अरब वर्ष पूर्व उदित हुई थी, भी स्मरण होता है, जिससे अपनी हिन्दू जातिका गौरव ज्ञात होता है; क्योंकि अन्य कोई भी जातियाँ तीन-चार हजार वर्षसे अधिक सत्तावाली नहीं हैं।

प्राणायामसे आध्यात्मिक लाभ—भजन, ध्यान, पाठ, पूजा आदि सात्त्विक कार्योंके लिये शान्त और सात्त्विक मनकी परम आवश्यकता होती है। प्राणायामद्वारा प्राणकी समगति (दोनों स्वरोंसे बराबर चलना) होनेपर मन शान्त और सात्त्विक हो जाता है। इसकी सत्यतामें प्रमाण यह है कि प्राकृत नियमानुसार जब कभी स्वभावसे ही मन शान्त हो, तब कोई भी व्यक्ति हाथ आदि अंगोंपर श्वास छोड़े तो उसको यह अनुभव होगा कि दोनों स्वरोंसे बराबर वायु निकल रही है एवं जब स्वभावसे सुषुम्ना (दोनों स्वर) चलें, उस समय उसे यह अनुभव होगा कि मन शान्त और सात्त्विक भावोंसे

युक्त है। अतः प्राणायामके विधानका परम प्रयोजन प्राणकी समगतिद्वारा मनकी शान्त तथा सात्त्विक अवस्थाका सम्पादन ही है।

प्राणायामसे शारीरिक लाभ—हमारा जीवन श्वास-प्रश्वास-रूप प्राणोंकी गतिपर आधारित है। इस कार्यको जिन फेफड़ोंद्वारा किया जाता है, उनकी स्थिति-स्थापक शक्तिकी रक्षा आवश्यक है। यह कार्य प्राणायामसे सम्यक् हो जाता है। हमारे फेफड़ोंमें सुईकी नोकका प्रवेश हो सके, इससे भी अति सूक्ष्म वायुकोष हैं। जब हम कुम्भक करते हैं तब वायु उन सूक्ष्म कोष्ठोंमें भी प्रवेश कर जाती है, जिससे वे खुल जाते हैं, अपने कार्य करनेमें समर्थ हो जाते हैं। प्राणायाम न करनेपर ऐसे बहुतसे कोष बेकार हो जाते हैं, जिससे हमारे श्वास-प्रश्वासकी गतिमें बाधा आ जाती है।

(क) 'षट् शतानि दिवा रात्रौ सहस्राण्येकविंशतिः।'
(ख) 'स्थितस्य द्वादश श्वासाश्चलतोऽष्टादश स्मृताः।
चतुर्विंशतिः सुप्तस्य त्रिंशद् ग्रामरतस्य च॥'

(क) एक दिन-रातमें २१,६०० बार श्वास चलता है, (यह एक सामान्य नियम है) (ख) बैठनेपर १२, चलने पर १८, सोनेपर २४, मैथुनमें ३० अंगुल लम्बा श्वास चलता है।

उपर्युक्त (क) वचनानुसार यदि हम २१,६०० श्वास ही एक दिनमें लेते हैं तो हमारी पूर्ण आयु रहती है, परन्तु जीवन-निर्वाहके कार्योंके लिये हमें अधिक परिश्रम करना ही पड़ता है। उसमें हमारा श्वास भी अधिक चलता ही है एवं (ख) नियमानुसार हमें वंशपरम्पराकी रक्षाके लिये मैथुन भी करना ही पड़ता है। उसमें प्राणशक्तिका क्षय होता ही है। इनमें होनेवाली क्षतिकी पूर्ति प्राणायामद्वारा हो जाती है; क्योंकि कुम्भक प्राणायाम करते समय

श्वास रुका रहता है, उससे अधिक श्वासोंकी क्षतिकी पूर्ति हो जाती है और प्राणायामके अभ्यासद्वारा हम प्राणकी लम्बाईको भी क्रमशः १०-८-६-४-२-१ अंगुलतक कम करनेमें समर्थ हो जाते हैं।

प्राणायामका अभ्यास सन्ध्योपासनाके अंगके रूपमें ८-१०-१२ वर्षकी अवस्थासे ही करनेका विधान इसलिये किया गया है कि बाल्यावस्थामें सभी अंग वर्धनशील होते हैं, उस अवस्थामें स्नायु आदि ही नहीं, अपितु अस्थियाँ भी कम कठोर होनेके कारण उनका यथोचित विकास किया जा सकता है। यह लाभ वृद्धावस्थामें नहीं हो सकता। अतः जो लोग वृद्धावस्थामें भी प्राणायामद्वारा ऐसे लाभोंका वर्णन करते हैं, वे ठीक नहीं समझते। हाँ, वृद्धावस्थामें भी किये गये प्राणायामसे भी इतना लाभ अवश्य होता है कि तेजीसे गिरती हुई हालतमें कुछ कमी आ जाती है।

प्राणायामसे विशेष लाभ—सन्ध्योपासनाके अंगरूपमें सामान्य प्राणायाम करनेसे होनेवाले आध्यात्मिक तथा शारीरिक सामान्य लाभोंका ही वर्णन ऊपर किया गया है। इसके अतिरिक्त जो लोग शास्त्रविधिसे प्राणायामका विशेष अभ्यास करते हैं, उन्हें विशेष लाभ भी होता है। छातीपर पत्थर रखकर घनकी चोटें सहना, गाड़ी रोकना, गलेमें फन्दा लगाकर आठ-आठ पहलवानोंसे रस्साकसी खिँचवाना—ये सब चमत्कार मैंने आँखोंसे देखे हैं, वे सभी कुम्भक प्राणायामके ही चमत्कार हैं। इतना ही नहीं, प्राणायामका अत्यन्त अभ्यासकर मूर्धामें प्राणोंकी स्थापना करके समाधिस्थ हो जानेपर हजारों वर्ष आयु बढ़ायी जा सकती है। इसे एक दृष्टान्तसे समझिये—एक वैज्ञानिकने एक मशीन बनायी, अपने गणितद्वारा यह निर्णय किया कि यह मशीन एक लाख चक्कर लगाकर खराब हो जायगी। अतः प्रतिदिन एक हजार चक्कर लगानेपर सौ दिन चलेगी,

यह गारन्टी देता है। परंतु कोई व्यक्ति पचहत्तर दिनतक एक हजार चक्कर लगवाये फिर एक वर्षके लिए बन्द कर दे, फिर पचीस दिन चलाये तो उसकी मशीन एक वर्ष सौ दिन टिकाऊ हो जायगी। इसी प्रकार यदि दो-तीन हजार चक्कर रोज लगवाये तो पचास-पचीस दिनमें ही खराब हो जायगी।

दृष्टान्तकी तरह सिद्धान्तमें भी जिसके जीवनके लिये जितने श्वास-प्रश्वास प्रारब्धानुसार नियत किये गये हैं, उनको यदि अधिक नष्ट किया जायगा तो श्वासोंकी सामान्य गणना २१,६००के आधारपर निर्धारित वर्षोंसे पूर्व ही मृत्यु हो जायगी और यदि २१,६०० से कम श्वास लिये जायँ अथवा समाधिद्वारा श्वासोंको बिलकुल रोक दिया जाय तो निर्धारित वर्षोंसे अधिक वर्षोंतक जीवित रहा जा सकता है। इस रहस्यको समझ लेनेपर 'जितने वर्षोंतक जीवित रहनेका प्रारब्ध है, उसे कोई कैसे कम या ज्यादा कर सकता है?' इस शंकाका समाधान भी समझमें स्वयं आ जायगा; क्योंकि प्रारब्धानुसार वर्ष नहीं, अपितु श्वास या श्वासोंकी संख्या ही निर्धारित की गयी है। इनको अधिक नष्ट करनेपर मनुष्य अल्पायु और कम नष्ट करनेपर दीर्घायु हो सकता है। इतना ही नहीं, यदि प्रबल अभ्याससे मृत्युकालमें मूर्धास्थित दशम द्वार—ब्रह्मरन्ध्रसे प्राण निकालनेमें समर्थ हो जाय तो मुक्तितक हो सकती है। कठोपनिषद्में कहा गया है—

शतं चैका च हृदयस्य नाड्य-
स्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति
विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति॥

(कठो० २।३।१६)

इस हृदयकी १०१ नाड़ियाँ हैं, उनमेंसे एक मूर्धाको भेदन करके निकली है। उसके द्वारा ऊपरकी ओर गमन करनेवाला पुरुष अमृतत्व (मोक्ष)-को प्राप्त होता है। शेष नाड़ियोंसे प्राण निकलनेपर नानायोनिरूप संसारकी प्राप्ति होती है।

प्राणायाम-विधि—भिन्न-भिन्न प्रकारके लाभोंके लिये शास्त्रोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारसे प्राणायाम करनेका विधान किया गया है। सन्ध्योपासनाके अंगरूपमें किये जानेवाले प्राणायामकी सामान्य विधि निम्न निर्दिष्ट श्लोकोंमें कही है—

इडया कर्षयेद् वायुं बाह्यं षोडशमात्रया।
धारयेत् पूरितं योगी चतुःषष्ट्या तु मात्रया॥
एवं कुम्भकं कृत्वा द्वात्रिंशन्मात्रया शनैः।
नाड्या पिङ्गलया चैवारेचयेद् योगवित्तमः॥

(मार्कण्डेयपु०)

(सिद्धासनसे बैठकर) बायें छिद्रसे १६ मात्रा=लगभग ८ सेकेंड वायुको खींचे (इसे पूरक प्राणायाम कहते हैं)। ६४ मात्रा=लगभग ३२ सेकेंड वायुको रोके रहे (इसे कुम्भक प्राणायाम कहते हैं)। इस प्रकार कुम्भक करके दाहिने छिद्रसे ३२ मात्रा=लगभग १६ सेकेंडमें धीरे-धीरे वायुका त्याग करे (इसे रेचक प्राणायाम कहते हैं)।

कुम्भक करते समय ठोड़ीको छातीपर लगा लेना चाहिये। इसे जालन्धरबन्ध कहते हैं, इससे कुम्भक सरलतासे हो जाता है। पूरकसे शुद्ध वायुको हम भीतर खींचते हैं। कुम्भक छोटे-से-छोटे वायुकोषोंमें शुद्ध वायु पहुँचाकर अशुद्ध वायु ग्रहण कर लेता है, इसीलिये कुम्भकमें चार गुना समय लगानेको कहा है। रेचकमें शनैः-शनैः वायु छोड़नेसे वायुकोषोंकी स्थितिस्थापक शक्ति बढ़ती है। पूरक, कुम्भक और रेचक तीनोंको मिलाकर एक पूरा प्राणायाम

होता है। अपनी सामर्थ्यके अनुसार ३-५-७-११ इत्यादि पूरे प्राणायाम करे। एक बार बायें छिद्रसे खींचकर दायेंसे छोड़े, दूसरी बार दायेंसे खींचकर बायेंसे छोड़े, इस प्रकार बदलकर करनेका भी विधान है।

आचमन—प्राणायाम करनेके बाद आचमन करनेका विधान इसलिये है कि प्राणायामसे उत्पन्न आन्तरिक श्रमजन्य उष्णताका शमन हो जाय। यही बात स्पष्ट शब्दोंमें इस श्लोकमें कही है—

प्राणस्यायमनं कृत्वा आचामेत् प्रयतोऽपि सन्।
आन्तरं खिद्यते यस्मात् तस्मादाचमनं स्मृतम्॥

इसी प्रकार सभी धार्मिक कृत्योंके प्रारम्भमें तथा बीच-बीचमें आचमनकी विधि मन्त्रोच्चारणजन्य कण्ठशुष्कता आदिके निवारणके लिये की गयी है, ऐसा लौकिक दृष्टिसे कहा जा सकता है। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि आचमनमें अधिक जल नहीं पीना चाहिये, किंतु शास्त्रप्रमाणानुसार बनी आचमनीसे ही आचमन करना चाहिये; अन्यथा अधिक जल पीनेसे सर्दी-गर्मीका योग होकर जुकाम, स्वरभंग आदि रोग हो जायँगे तथा अधिक लघुशंका (पेशाब) लगनेसे पाठ-पूजामें बाधा होगी। इस प्रकार विधिपूर्वक सन्ध्योपासना करके अन्तमें सूर्योपस्थान करे।

सूर्योपस्थान—वेदोंमें कहा है कि सन्ध्याके अन्तमें सूर्योपस्थान करते हुए जिस जलका प्रयोग किया जाता है, उसकी बूँदें वज्र बनकर असुरोंका विनाश करती हैं। मन्त्र इस प्रकार है—

'सन्ध्यायां यदपः प्रयुङ्क्ते ता विप्रुषो।
वज्री भूत्वा असुरानपाघ्नन्ति॥

असुर नामकी विशेष जातिको न माननेवाले आधुनिक वैज्ञानिक

भी अब यह तो मानने लगे हैं कि सूर्य-प्रकाशके हरे, बैंगनी और अल्ट्रावायलेट भागमें रोगके कीटाणुओंका नाश करनेकी विशेष शक्ति है। सूर्य-प्रकाशके भिन्न-भिन्न रंगोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारके रोगोंकी नाशक शक्तिका अनुसन्धान करके भिन्न-भिन्न रंगवाली बोतलोंमें पानी भरकर सूर्य-प्रकाशमें रखते हैं, उसे रोगियोंको पिलाकर रोगनिवारण करते हैं। इससे यह तो सिद्ध हो ही जाता है कि असुरोंकी तरह कष्ट देनेवाले रोगके कीटाणुरूप असुरोंका नाश करनेकी सामर्थ्य सूर्य-प्रकाशसे प्रभावित जलमें होती है। इस प्रकार उक्त वेद-मन्त्रमें कही बात लौकिक अर्थमें तो सही हो ही गयी। जब सूर्योपस्थान करनेके लिये प्रातःकाल और सायंकाल सूर्यभगवान्‌के सम्मुख खड़े होकर दोनों हाथोंसे जलका पात्र ऊँचे उठाकर सूर्य-भगवान्‌को जल अर्पण करते हैं, तब उस जलधाराको पार करती हुई सूर्य-किरणें हमारे सिरसे लेकर पैरोंतक पड़ती हैं। इस प्रकार सूर्योपस्थानरूप क्रियासे पूर्वोक्त सूर्यप्रकाशयुक्त जल-चिकित्साका लाभ अपने-आप प्राप्त हो जाता है। प्रतिदिन दो बार की गयी सन्ध्याकालीन इस साधनासे हम रोगके कीटाणुओंका नाश करते हुए दीर्घायु प्राप्त करनेमें समर्थ हो जाते हैं। इसीलिये मनुजी कहते हैं—दीर्घकालतक सन्ध्योपासनाकर ऋषियोंने दीर्घायु प्राप्त की थी—

'ऋषयो दीर्घसन्ध्यत्वाद् दीर्घमायुरवाप्नुयुः।'

(मनु० ४।९४)

माला—सन्ध्योपासनाके अंगरूपमें गायत्री आदि मन्त्रोंकी निश्चित संख्याकी पूर्तिके लिये माला रखते हैं। मालाका यह अतिस्थूल प्रयोजन तो सभी जानते ही हैं, परंतु संख्याकी गणनामात्र ही प्रयोजन होता तो किसी पदार्थविशेष तुलसी, रुद्राक्ष आदिकी माला बनानेका विधान न होता; क्योंकि संख्याकी गणना तो किसी भी

पदार्थकी मालासे हो सकती है, अतः यहाँ रहस्य यह है कि सात्त्विक निष्काम भावसे यदि शुद्ध सत्त्वगुणप्रधान विष्णु, राम आदि भगवान्‌की उपासना करनी है तो सात्त्विक त्रिदोषनाशक रुद्राक्ष तथा तुलसीकी माला बनानी चाहिये। राजस सकामभावसे विघ्नरहित कार्यकी सिद्धिहेतु विघ्ननाशक विनायक सिद्धिदाता गणपतिकी उपासनाके लिये राजस हरिद्राकी माला बनानी चाहिये। शास्त्रोंमें जिस देवताको जो पदार्थ प्रिय है, उसकी माला बनानेसे उस देवताकी प्रसन्नता शीघ्र प्राप्त हो जाती है।

मध्यमा अँगुलीसे—मध्यमा अँगुलीकी नसका हृदयसे सीधा सम्बन्ध है, हृदयको सात्त्विक भावोंसे भावित करनेके लिये तथा हृदयमें स्थित ईश्वरको शीघ्र प्रसन्न करनेके लिये सभी सात्त्विक कर्मोंमें मध्यमा अँगुलीसे ही माला घुमानेका विधान किया गया है एवं तमोगुणी कार्योंमें तर्जनी नामकी अँगुलीसे माला फिरानेका विधान किया है। जब किसी बालक आदिको ताड़ना देनी होती है तब सभी अँगूठेके पासकी अँगुली तर्जनीको दिखाकर ताड़ना करते हैं। इसीलिये इसका नाम तर्जनी रखा गया है। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न कार्योंकी सिद्धिके लिये भिन्न-भिन्न पदार्थोंकी मालाका भिन्न-भिन्न अँगुलियोंसे फिरानेका विधान किया गया है।

१०८ दाने—(१) प्रत्येक मनुष्य २४ घंटेमें २१,६०० श्वास लेता है। यदि हम दिनका अधिकांश समय सांसारिक कार्योंके लिये निकाल दें तो कम-से-कम १०८ श्वास भजनमें लगने चाहिये। यदि हम कम-से-कम एक श्वासमें एक बार ही नाम-जप करना चाहें तो १०८ नामोंका विधिवत् उपांशु जप करनेपर १०,८०० नाम-जप हो जाता है; क्योंकि मनुस्मृतिमें उपांशु जपको सौ गुना कहा है

'उपांशुः स्यात् शतगुणः।' इस प्रकार मालामें १०८ दाने ही रखना ठीक होगा।

(२) हमारे ब्रह्माण्डमें २७ नक्षत्रोंकी माला चारों दिशाओं में सुमेरुपर्वतके सहारे घूमती है। अतः ऋषियोंने भी नक्षत्रोंकी मालाके चारों दिशाओंमें घूमनेके कारण चारका गुणा करके २७ × ४=१०८ दानोंकी माला और उसमें एक सुमेरु लगाकर नक्षत्रमालाके समान अपनी माला भी १०८ दाने तथा एक सुमेरुवाली बनायी है। ज्योतिषशास्त्रमें प्रत्येक नक्षत्रके चू चे चो ला आदि चार अक्षर होते हैं, उन्हें नक्षत्रोंकी संख्या २७से गुणा करनेपर भी १०८ दाने ही होते हैं।

श्री १०८—प्रसंगतः यहाँ श्री १०८ लिखनेका रहस्य बताना भी आवश्यक हो जाता है। इस ब्रह्माण्डमें ग्रहोंसे भी ऊपर नक्षत्रोंकी स्थिति है। अतः हम जिन्हें उच्च पद प्रदान करते हैं, उन्हें नक्षत्रोंकी संख्या २७ से जोड़ते हैं, नक्षत्रोंकी तरह चारों दिशाओंमें भ्रमण करनेवाले महापुरुषोंके साथ भी २७ नक्षत्र तथा ४ दिशाओंको गुणित करके २७×४=१०८ श्री लिखते हैं। 'ब्रह्म' शब्दमें ब् र् ह् म्—ये चार अक्षर हैं, कसे बतक २३ अक्षर होते हैं, एवं कसे रतक २७ और कसे हतक ३३ तथा कसे मतक २५ अक्षर होते हैं, इस प्रकार २३+२७+३३+२५=१०८ अक्षर ब्रह्म शब्दमें समाये हुए हैं, ऐसे ब्रह्मकी प्राप्तिमें सहायक होनेसे मालामें १०८ दाने तथा महापुरुषोंके साथ १०८ श्री लिखते हैं।

मूर्ति-पूजापर शंका-समाधान

मूर्ति-पूजाके विषयोंपर वैज्ञानिक विवेचन करनेसे पूर्व मूर्ति-पूजा न माननेवाले सज्जन जो शंकाएँ किया करते हैं, उनको सुनकर या स्वयं ही वैसी शंकाएँ जिनके मनमें उठा करती हैं, उनका समाधान

लिखना आवश्यक प्रतीत होता है। अतः उसे ही यहाँ पहले लिखा जा रहा है।

शंका—व्यापक ईश्वर कभी भी एकदेशीय होकर अवतार नहीं ले सकता। ऐसी दशामें अवतारोंके नामपर बनायी गयी मूर्तियोंकी पूजासे ईश्वर-पूजाका कोई सम्बन्ध नहीं। यदि किसी प्रकार व्यापक ईश्वर एकदेशीय होकर प्रकट होगा तो जहाँ प्रकट होगा, वहीं उसकी सत्ता होगी अन्यत्र सत्ता न होगी, जैसे—जब देवदत्त प्रयागमें होता है, तब वह काशीमें नहीं होता।

समाधान—शंकाकर्तासे मैंने पूछा कि शब्द व्यापक होता है या नहीं? उन्होंने कहा शब्द यदि व्यापक न होता तो सभी जगह रेडियोमें कैसे प्रकट होता है। मैंने कहा कि व्यापक तत्त्व एक देशमें प्रकट (अवतरित) हो सकता है, इसे तो आप स्वयं मानते हैं फिर शंका कैसे करते हैं? दूसरे स्थानोंमें स्थित रेडियोमें भी प्रकट होनेके कारण आप यह भी नहीं कह सकते कि व्यापक शब्द यहाँ प्रकट हो गया तो अब अन्यत्र नहीं होगा तथा यह भी नहीं कह सकते कि अन्यत्र भी होनेके कारण यहाँ पूरे गुणोंके साथ शब्द प्रकट नहीं हुआ। जबकि भौतिक शब्द-तत्त्व व्यापक होकर भी एक देशमें पूरे गुणोंके साथ प्रकट हो सकता है और अन्यत्र भी रह सकता है, तब अभौतिक ईश्वर-तत्त्व व्यापक होकर भी एक देशमें पूरे गुणोंसे प्रकट हो जाय और अन्यत्र भी सर्वत्र बना रहे, इसमें आश्चर्य या शंका करनेका कोई अवसर ही नहीं।

शंका—ऐसा होनेपर भी निराकार ईश्वर साकार तो कभी भी नहीं बन सकता, अतः ईश्वरको साकार मानकर पूजा करना तो सर्वथा मूर्खता ही है; क्योंकि सत्यताके सर्वथा ही विपरीत है।

समाधान—दुर्जनतोषन्यायसे प्रथम तो मैं आपकी बात मानकर

ही उत्तर देता हूँ, सावधान होकर सुनिये। एक सज्जन आपके मूर्ति-पूजाविरोधी विचारोंसे बहुत प्रभावित होकर आपका दर्शन करना चाहते हैं। आपके नगरमें आपका यह परिचय देते हुए कि जो मूर्ति-पूजाविरोधी हैं, २५ वर्षकी आयु है, श्याम वर्णके हैं, कौड़ीपति हैं, छोटी-सी कोठीमें रहते हैं, उनसे मैं मिलना चाहता हूँ। जबतक उनका दर्शन न कर लूँगा, तबतक भोजन-जल कुछ भी नहीं ग्रहण करूँगा। ऐसी प्रतिज्ञा करके ग्रीष्मकालकी तेज धूपसे तपती हुई पत्थरकी सड़कोंपर भूखे-प्यासे चक्कर लगा रहे हैं। आपकी आयु ६० वर्षकी है, गौर वर्णके हैं, करोड़पति हैं, बड़ी-सी कोठीमें रहते हैं। इस प्रकार उसके द्वारा दिये हुए परिचयसे सर्वथा विपरीत होनेके कारण उसका कथन सत्यताके सर्वथा विपरीत है। इतना होनेपर भी यदि कोई व्यक्ति उसकी मिलनेकी तीव्रतम लालसा, भूख-प्यासजन्य व्याकुलता आदिको आँखोंसे देखकर आपको आकर हृदयविदारक करुणाभरी वाणीसे सुनाये तो आप उस व्यक्तिको अपने पास बुलायेंगे या नहीं?

मेरे द्वारा इस प्रकार प्रश्न करनेपर भावावेशपूर्ण वाणीमें वे सज्जन एकदम उच्चस्वरसे बोल पड़े—महाराज! क्या बात करते हैं, उसे बुलानेकी बात ही क्या, मैं तो स्वयं उसके पास चला जाऊँगा। मैंने कहा—वह तो आपका परिचय सर्वथा सत्यताके विपरीत दे रहा है, ऐसे व्यक्तिके पास आप-जैसे सत्यताप्रिय महानुभावका जाना कैसे उचित हो सकता है? वे सज्जन पुनः अति भावावेशमें आकर भावविह्वल होकर अति उच्चस्वरसे कहने लगे, 'मैं सर्वथा दयाशून्य पत्थरहृदयवाला नहीं, भला जो व्यक्ति भूख-प्यासजन्य व्याकुलता, सर्दी-गर्मीजन्य आकुलताको सहन करता हुआ मेरे दर्शनके लिये इतनी अधिक तीव्रतम लालसासे मुझे खोज रहा है, उससे मिले बिना

मेरा हृदय कैसे शान्त हो सकता है? क्या हुआ जो अज्ञानतावश मेरा परिचय सत्यताके विपरीत देता है, मिलना तो मुझसे ही चाहता है।'

मैंने कहा—जब आप उसके पास जाकर उसे अपने घर ले आयँगे, तब उसे इस सत्यताका ज्ञान हो जायगा या नहीं कि आप २५ वर्षके नहीं ६० वर्षके हैं, कौड़ीपति नहीं करोड़पति हैं, श्याम वर्णके नहीं गौर वर्णके हैं, छोटी-सी नहीं बड़ी भारी कोठीमें रहते हैं? उन्होंने कहा—अवश्य हो जायगा।

मैंने कहा कि जिस अपार दयासागर ईश्वरकी एक बूँद दयासे संसारके चराचर प्राणियोंके हृदयमें दयाका संचार होता है, उस ईश्वरका साक्षात्कार करनेके लिये जिसने घरबारका त्याग किया है, भूख-प्यास और सर्दी-गर्मीका महान् कष्ट सहन करते हुए मछलीकी तरह ईश्वरके लिये तड़प रहा है, क्या अपार दयासागर सर्वज्ञ ईश्वर यह कहकर उसकी उपेक्षा कर सकता है कि मुझ निराकारको यह अज्ञानी साकार मानता है, अतः सत्यताके सर्वथा विपरीत होनेके कारण इसको मैं अपना दर्शन नहीं दूँगा? क्या ईश्वर-साक्षात्कारकी तीव्रतम लालसाके प्रबलतम पवन-प्रहारसे उस अपार दयासागरमें सत्यताके आग्रहरूप तटको भंग कर देनेवाली एक भी उत्ताल तीव्रतम तरंग उत्पन्न नहीं होगी?

मैं इस प्रकार भक्तिभावावेशमें आकर उच्चस्वरसे बोलता ही चला जा रहा था, मेरे भक्तिभावावेशपूर्ण वचनोंके प्रवाहमें प्रवाहित होकर नेत्रोंसे प्रवाहित आँसुओंको पोछते हुए भक्तिभावभरे गद्गद स्वरमें वे सज्जन अति उच्चस्वरसे बोल उठे—अवश्य उत्पन्न होगी, अवश्य उत्पन्न होगी। बस, सभी शंकाओंका समाधान हो गया। शान्त हो जाइये, शान्त हो जाइये!

मेरी इस सफल वार्ताको सुनकर दूसरे उनके साथी भी बड़े

प्रभावित हुए, उन्होंने अपने कुतर्की स्वभावको छोड़कर जिज्ञासाभावसे प्रश्न किया।

जड़-साकार मूर्तिकी पूजा करनेसे चेतन-निराकार ईश्वरकी पूजा कैसे हो जाती है? अपना भावावेश शान्त होनेपर मैंने उनकी ओर देखकर पूछा।

आपने किसी श्रद्धास्पद महात्माकी कभी पूजा की है? मैंने जब यह पूछा तो उन्होंने कहा—हाँ, की है। मैंने फिर पूछा कि कैसे की थी? उन्होंने कहा कि उनके पैर धोये, चन्दन लगाया, माला पहनायी—इस प्रकार उनकी पूजा की थी। मैंने कहा कि आपने तो जड़-साकार शरीरकी ही पूजा की है, चेतन-निराकार महान् आत्माकी पूजा नहीं की, फिर झूठ क्यों बोले? इस प्रकार उनकी बात काट देनेपर वे सज्जन कुछ जोशमें आकर बोले कि जड़-साकार शरीरकी पूजाद्वारा ही चेतन-निराकार आत्माकी पूजा हो सकती है; साक्षात् नहीं हो सकती, अतः मैंने महान् आत्माकी पूजा की है, जरा भी झूठ नहीं बोला। मैंने हँसते हुए कहा—महानुभाव! आपने अपने प्रश्नका उत्तर तो स्वयं दे दिया, जैसे जड़-साकार शरीरकी पूजाद्वारा ही चेतन-निराकार आत्माकी पूजा हो सकती है साक्षात् नहीं हो सकती, वैसे ही जड़-साकार मूर्तिकी पूजाद्वारा ही चेतन-निराकारकी पूजा हो सकती है साक्षात् नहीं हो सकती, इसीलिये मूर्ति-पूजा की जाती है।

'प्रश्नकर्ताके मुखसे ही प्रश्नका उत्तर दिलाया जाय तो उसको सन्तोष अधिक होता है' इस मनोविज्ञानके आधारपर जहाँतक सम्भव होता है, मैं उसके मुखसे ही उत्तर निकलवाता हूँ। यही कारण है कि दोनों महानुभावोंको बहुत सन्तोष हुआ। वस्तुस्थिति यह है कि अपनेको मूर्तिपूजक न माननेवाले आर्यसमाजी तथा ईसाई

आदि भी अपने सम्प्रदायके प्रवर्तक दयानन्दस्वामी, ईसामसीह आदि महापुरुषोंके चित्रोंकी नमस्कार आदिद्वारा पूजा करते ही हैं एवं उनके द्वारा लिखित या कथित वेदभाष्य, कुरान, बाइबिल आदि ग्रन्थोंको भी पूजते ही हैं। यह भी मूर्ति-पूजा ही है। कहाँतक कहें, ईश्वरको न माननेवाले जैन और बौद्धोंके मतमें भी महावीर तथा बुद्धभगवान्‌की मूर्तियाँ बनाकर ठीक हिन्दुओंकी तरह घण्टा-घड़ियाल बजाकर पूजा की जाती है। इसका एकमात्र कारण यह है कि भावप्रधान साधारण मानवका मानस स्थूल आलम्बनके बिना सन्तुष्ट नहीं होता, अध्यात्ममार्गपर चल नहीं पाता।

इसके अतिरिक्त मूर्तिपूजासे एक बहुत बड़ा यह लाभ होता है कि श्रद्धालु भक्त अपनी श्रद्धासे लाभ ही उठा सकता है, हानिकी कोई सम्भावना भी नहीं होती। कारण यह कि मूर्तिमें काम, क्रोधादि दोषोंका दर्शन नहीं हो सकता। इस भयंकर कलिकालमें काम, क्रोधादि दोषोंसे रहित गुरु, माता, पिता तथा पति आदिका मिलना कठिन है एवं दोषदर्शनकी भावनासे रहित शिष्य, पुत्र, पत्नी आदिका मिलना भी कठिन है। यही कारण है कि गुरु, शिष्य आदि परस्पर एक-दूसरेकी अवमानना तथा अवहेलना करते हैं। इसे देखकर ही सर्वज्ञ ऋषियोंने त्रेतायुगके आदिमें ही पूजा क्रियाके लिये भगवान्‌की मूर्तियाँ बना दी थीं, यह बात भागवतके निम्ननिर्दिष्ट श्लोकमें स्पष्ट कही गयी है—

दृष्ट्वा तेषां मिथो नृणामवज्ञानात्मतां नृप।
त्रेतादिषु हरेरर्चा क्रियायै कविभिः कृता॥

(श्रीमद्भा० ७।१४।३९)

उपर्युक्त अनेक कारणोंसे इस युगमें मूर्तिपूजा करना परम

आवश्यक है, यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है। इसलिए मूर्तिपूजामें की जानेवाली क्रियाओंका वैज्ञानिक विवेचन करना भी परम आवश्यक हो जाता है।

मूर्तिपूजाका वैज्ञानिक विवेचन

श्रद्धाका यह स्वभाव है कि वह अपने श्रद्धास्पदको अपनी सभी प्रिय वस्तुओंको समर्पण कराती है। जीवके प्रिय अनन्त विषयोंका समावेश शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इन पाँच विषयोंमें ही हो जाता है; क्योंकि भोगकी साधन पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, अतः भोगके विषय भी पाँच ही हो सकते हैं, छः-सात नहीं। अतः श्रद्धावान् जीव अपने श्रद्धास्पद ईश्वरको धूपके रूपमें गन्धको, दीपके रूपमें रूपको, नैवेद्य (भोग)-के रूपमें रसको, चन्दनमालाके रूपमें स्पर्शको, घंटानाद तथा प्रार्थना आदिके रूपमें शब्द-विषयको समर्पित करता है।

शब्दान्तरमें इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि प्रेमका यह स्वभाव होता है कि वह प्रेमीद्वारा प्रेमास्पदको सब कुछ समर्पित कराना चाहता है, परंतु संसारकी अनन्तानन्त वस्तुओंका समर्पण कैसे हो? इस जटिल समस्याका समाधान करनेमें समर्थ सर्वज्ञ ऋषियोंने सुगम, सम्यक्, तात्त्विक तथा सात्त्विक साधन बताते हुए कहा है कि संसारकी समस्त वस्तुओंका निर्माण पंचभूतोंसे ही होता है, यद्यपि उन महत्तम पंचभूतोंका भी समर्पण सम्भव नहीं तथापि उन महत्तम पंचभूतोंकी अतिसूक्ष्म, अणुतम, सारभूत तात्त्विक तन्मात्राएँ हैं—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध। अतः इनके समर्पणसे ही सम्पूर्ण वस्तुओंका समर्पण हो जायगा। इसके लिये ही ऋषियोंने धूपके रूपमें गन्ध, दीपके रूपमें रूप, नैवेद्यके रूपमें रस, चन्दन, माला आदिके रूपमें स्पर्श तथा घंटानाद तथा प्रार्थनाके रूपमें शब्दतन्मात्राके

समर्पणका विधान किया है।

साधनाकी दृष्टिसे विचार किया जाय तो यह कहना पड़ेगा कि सम्यक् इन्द्रियसंयमके बिना साधना सफल नहीं होती। गीता (३।३४)-के अनुसार प्रत्येक इन्द्रियका विषयमें राग व्यवस्थित है, इसलिये इन्द्रियोंका विषयोंकी तरफ दौड़ना स्वाभाविक है। इससे बचनेका एकमात्र समुचित उपाय यही है कि इन्द्रियोंके सम्मुख निकृष्ट पतनकारक राजस और तामस विषयोंकी जगह उत्कृष्ट उत्थानकारक सात्त्विक विषय उपस्थित किये जायँ। इसी साधना-विज्ञानके आधारपर घ्राणेन्द्रिय (नाक)-के संयमके लिये भगवान्‌के सम्मुख धूप जलाकर सुगन्ध उत्पन्न करते हैं। नेत्रेन्द्रियके संयमके लिये भगवान्‌के मुखारविन्द आदि कमनीय अंगोंपर बारम्बार दीप घुमाकर मनोहर रूप दिखाते हैं। रसनेन्द्रियके संयमके लिये नैवेद्य अर्पण करते हैं। त्वचा-इन्द्रियके संयमके लिये चन्दन और माला अर्पण करते हैं। श्रोत्रेन्द्रियके संयमके लिए मधुर शब्दोंमें मन्त्र, श्लोक, कविता आदिका गान करते हैं। बाहरके गन्दे गीत बलात् कानमें प्रवेश न कर सकें, इसके लिये घंटा-घड़ियाल बजाते हैं। इस प्रकार पूजा करके भगवत्-प्रसादके रूपमें चन्दन लगाकर, माला पहनकर, पुष्प-धूप सूँघकर, नैवेद्य ग्रहणकर तथा इन्द्रिय और अन्तःकरणकी स्वच्छतारूप प्रसन्नताको प्राप्तकर दुःखोंसे विनिर्मुक्त हो जाते हैं।

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥

(गीता २।६५)

चरणामृतपान—शास्त्रप्रमाणानुसार शालग्राममें भगवान्‌का सान्निध्य विशेषरूपसे रहता है, इसलिये आस्तिक जनता चरणामृतपान करती

है। पदार्थ-वैचित्र्य-विज्ञानकी दृष्टिसे शालग्राम-शिलामें स्वर्णकी मात्रा रहती है, इसीलिये सर्राफलोग उसका सोनेकी कसौटीके रूपमें उपयोग करते हैं। स्वर्ण त्रिदोषनाशक होता है। रसायन होनेसे जीवनीशक्तिमें स्थिरता लाता है। तुलसीदलके त्रिदोषनाशक तथा मलेरिया, सर्दी, जुकाम, बुखार आदि रोगोंके नाशक गुण तो अति प्रसिद्ध हैं ही। यही कारण है कि आयुर्वेदमें औषधियोंके साथ अनेक रोगोंमें तुलसीका अनुपानरूपसे विधान किया गया है। शंख-भस्म उदररोगसम्बन्धी अनेक विकारोंमें लाभदायक औषधि है। अतः शंखजलमें भी वे गुण आ जाते हैं, इसीलिये शंखजलसे शालग्रामको स्नान कराते हैं। चन्दनके सन्तापनाशक शीतल गुणसे सभी परिचित हैं ही। इस प्रकार चरणामृत अनेक रोगोंका नाशक तथा जीवनी-शक्तिवर्धक गुणोंसे युक्त है, इस कारण उसे अकाल मृत्युहरण करनेवाला कहना ठीक ही है।

भोजन-विज्ञान

भोजनका उद्देश्य—प्रत्येक वैदिक क्रियाकलापका मुख्य उद्द्देश्य निःश्रेयस (मोक्ष)-की प्राप्ति है और गौण उद्देश्य अभ्युदय—लौकिक उन्नति है। अतः भोजनका मुख्य उद्देश्य भी मोक्षके उपयोगी शुद्ध मनका सम्पादन है और गौण उद्देश्य लौकिक उन्नतिके उपयोगी स्वस्थ नीरोग शरीरका निर्माण है। श्रुतिमें कहा है आहारकी शुद्धिसे मनकी शुद्धि होती है, मन शुद्ध होनेपर परमतत्त्वकी अविचल स्मृति होती है, अविचल स्मृतिसे ग्रन्थि-मोक्ष होता है—

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः॥ (छान्दोग्योपनिषद् ७। २६। २)

यद्यपि आहार-शुद्धिसे सभी इन्द्रियोंके आहारों (विषयों)-की शुद्धि ही शास्त्रको अभीष्ट है; क्योंकि यदि कोई साधक शुद्ध भोजन तो करता है, किंतु श्रोत्र, नेत्र आदि इन्द्रियोंसे कामवर्धक शब्द, रूप आदि विषयोंका सेवन करता रहता है तो उसका मन शुद्ध नहीं हो सकता। तथापि मनकी शुद्धिमें अन्न (भोजन)-की शुद्धि सर्वापेक्षा अधिक आवश्यक है; क्योंकि अन्नके सूक्ष्म अंशसे ही मनका निर्माण होता है। उसी छान्दोग्योपनिषद्में कहा है कि खाया हुआ अन्न तीन प्रकारका हो जाता है; अन्नके स्थूल अंशसे मल, मध्यम अंशसे मांस और सूक्ष्म अंशसे मन बनता है, इसलिये मन अन्नमय है। इसी आधारपर लोकमें भी कहते हैं 'जैसा अन्न वैसा मन'। श्रुतिमन्त्र इस प्रकार है—

अन्नमशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति यो मध्यमस्तन्मा꣬सं योऽणिष्ठस्तन्मनः॥

(छान्दोग्योपनिषद् ६। ५। १)

इस प्रमाणानुसार मनकी शुद्धिमें अन्न (भोजन)-की शुद्धिका बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण भाग होनेके कारण ऋषियोंने इसपर गम्भीरतासे विचारकर अन्नशुद्धिके लिये जिन-जिन नियमोंका विधान किया है, उनका वैज्ञानिक विवेचन यहाँ किया जायगा।

भोजन-शुद्धि-प्रकार

(क) अर्थशुद्धि—आगे कही जानेवाली शुद्धियोंसे युक्त शुद्ध भोजन भी अशुद्ध होता है, यदि वह बेईमानीसे दूसरोंको धोखा देकर, हिंसा-पीड़ा पहुँचाकर, चोरी करके, मिलावट करके, घूस लेकर, घूस देकर अन्यायपूर्वक पैदा किये धनसे बनाया गया हो। यही कारण है मनुजीने सभी शुद्धियोंमेंसे अर्थ (धन)-की शुद्धिको ही सर्वश्रेष्ठ कहा है—

'सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम्॥'

(मनु० ५।१०६)

न्यायपूर्वक पैदा किया हुआ धन भी तभी पूर्ण शुद्ध होता है जबकि उसमेंसे दशमांश धनका दान ईश्वर-प्रसन्नताके उद्देश्यसे निष्कामभावसे कर्तव्य समझकर कर दिया जाय। यही बात स्कन्दपुराणमें कही है—

न्यायोपार्जितवित्तस्य दशमांशेन धीमतः।
कर्तव्यो विनियोगश्च ईश्वरप्रीत्यर्थमेव च॥

इसके अतिरिक्त अर्थशुद्धिका एक अर्थ और है, उसे भी गम्भीरतापूर्वक समझ लेना आवश्यक है। जिस भोजनके बनानेमें अर्थसंकट पैदा हो जाता हो, वह चाहे अन्य सब प्रकारकी शुद्धियोंसे युक्त हो तो भी उससे मन शुद्ध नहीं हो सकता; क्योंकि आर्थिक चिन्ताके कारण मन सदा अशान्त रहेगा, अतः परमतत्त्वकी अविचल स्मृति अशान्त मनमें नहीं हो सकती। इतना ही नहीं; किंतु उस

अर्थचिन्तासे ही प्रायः लोग चोरी, बेईमानी आदि गलत कार्य करते हैं। वर्तमानमें यह स्थिति अधिक भयावह हो गयी है। इसलिये साधकको इसपर विशेष ध्यान देना चाहिये।

(ख) पदार्थशुद्धि—उक्त प्रकारसे शुद्ध धनद्वारा खरीदे गये स्वास्थ्य-हानिकारक सड़े-गले फल, बासी दोषयुक्त भोजनके पदार्थ भी अशुद्ध होनेसे नहीं खाने चाहिये। इतना ही नहीं, किंतु स्वास्थ्यदायक प्याज, लहसुन आदि पदार्थ भी मनको अशुद्ध करनेवाले होनेके कारण अशुद्ध पदार्थ माने गये हैं, अतः इनका भी सेवन नहीं करना चाहिये। यद्यपि हमारे आयुर्वेदमें प्याज, लहसुन आदि पदार्थोंको स्वास्थ्यके लिये हितकारी माना है, तथापि धर्मशास्त्रोंमें उनका निषेध इसलिये किया है कि वे पदार्थ मनमें राजसी एवं तामसी वृत्तियाँ पैदा करके मनको अशुद्ध कर देते हैं। आयुर्वेदका मुख्य लक्ष्य शरीरकी स्वस्थता है और धर्मशास्त्रोंका मुख्य लक्ष्य मनकी स्वस्थता है। जीवनके मुख्य उद्देश्य निःश्रेयस (मोक्ष)-की प्राप्तिमें मनकी स्वस्थताकी ही मुख्य आवश्यकता है। इसलिये धर्मशास्त्रोंने शरीर-स्वस्थताप्रदायक पदार्थोंका मन-स्वस्थता-नाशक होनेपर निषेध किया है। इस रहस्यको समझ लेनेपर आयुर्वेद तथा वैदिक धर्मशास्त्रोंमें विरोधका परिहार हो जाता है।

लौकिक दृष्टिसे भी देखें तो मनुष्यको सुखी होनेके लिये शारीरिक स्वस्थताकी जितनी आवश्यकता है, उससे बहुत अधिक मानसिक स्वस्थताकी आवश्यकता है। वास्तविक बात तो यह है कि मानसिक स्वस्थताका नाम ही तो सुख है। यही कारण है कि शरीरसे पूर्ण स्वस्थ होनेपर भी मनसे अस्वस्थ मनुष्य कहता है कि हम बहुत दुःखी हैं। इतना ही नहीं, जितनी आत्महत्याएँ की जाती हैं, उनका भी एकमात्र

कारण मानसिक अस्वस्थता ही है। इस प्रकार मानसिक अस्वस्थता शारीरिक स्वस्थताकी ही नहीं, अपितु शरीरकी भी नाशक है। इतना ही नहीं, आत्महत्याद्वारा वह पारिवारिक तथा सामाजिक अस्वस्थताकी भी जनक होती है। इसी बातको और अधिक स्पष्ट किया जा रहा है। घी, दूध आदि सात्त्विक-पौष्टिक पदार्थोंसे जो रज-वीर्य बनते हैं, वे अति कामोत्तेजक नहीं होते; मांस, अण्डा आदि राजस पौष्टिक पदार्थोंके सेवनसे जो रज-वीर्य बनते हैं; वे अति कामोत्तेजक होते हैं, जिसके फलस्वरूप पति-पत्नीकी शारीरिक स्वस्थताका प्रथम नाश हो जाता है और बादमें वे अनेक रोगोंके शिकार हो जाते हैं। प्याज, लहसुन, शराब, अफीम आदि तामस पदार्थोंके सेवनसे रज-वीर्य अतिशय कामोत्तेजक हो जाते हैं, जिसके फलस्वरूप पति-पत्नी सामाजिक मर्यादाका अतिक्रमण करके कभी-कभी व्यभिचारमें भी प्रवृत्त हो जाते हैं। इससे वे पारिवारिक तथा सामाजिक अव्यवस्थारूप अस्वस्थताके भी जनक हो जाते हैं। इन सब बातोंका अनुभव वर्तमानमें सभी कर रहे हैं, इसलिये इससे अधिक स्पष्ट करनेकी आवश्यकता नहीं है। अतः जो पदार्थ शारीरिक तथा मानसिक-स्वस्थता-सम्पादक हों, वे शुद्ध पदार्थ खाद्य हैं। इसके विपरीत होनेके कारण ही प्याज, लहसुन आदिको अखाद्य पदार्थ माना गया है—

लशुनं गृञ्जनं चैव पलाण्डुं कवकानि च।
अभक्ष्याणि द्विजातीनाममेध्यप्रभवाणि च॥

(मनु० ५। ५)

द्विजोंको लहसुन, प्याज, गाजर, छत्राक तथा विष्ठा आदि अपवित्र पदार्थोंसे उत्पन्न शाक-भाजी नहीं खानी चाहिये। खादके रूपमें जो पदार्थ खेतोंमें दिये जाते हैं, उनके गुण-दोषोंका प्रभाव

उनसे उत्पन्न अन्न, शाक आदिमें भी होता है। इसलिये जो विष्ठा सड़कर पूर्णतया मिट्टीरूप नहीं बन गयी, ऐसी विष्ठाकी खादसे उत्पन्न किये अन्न तथा शाक तन, मन और जीवनके नाशक होनेसे त्याज्य हैं।

प्रसंगतः आधुनिक रासायनिक खादकी चर्चा करना भी आवश्यक है। यह खाद खेतमें नूतन उत्पादक शक्ति पैदा नहीं करती, केवल खेतकी उत्पादक शक्तिको उत्तेजित कर देती है। इससे खेत हर वर्ष शक्तिहीन होते जाते हैं, ऐसा सभी किसानोंका अनुभव है। अतः यदि इसी प्रकार उत्तरोत्तर रासायनिक खादका प्रयोग किया जायगा तो एक दिन ऐसा आयेगा कि खेतमें रेत ही रेत हो जायगी।

इस खादसे अन्न तथा शाकके स्वादमें महान् अन्तर आ गया है, इसका अनुभव करनेके लिये गोबरकी खादसे उत्पन्न अन्न और शाकसे तथा रासायनिक खादसे उत्पन्न अन्न और शाकसे भोजन बनाकर एक-एक ग्रास क्रमशः दोनोंका खाते हुए भोजन करके कोई भी अनुभव कर सकता है। व्यापारियोंने हमें बताया कि इस रासायनिक खादके कारण अनाज प्रथमकी अपेक्षा आधे समयमें ही खराब हो जाता है। पहले गुड़में १०-१५ वर्षमें भी कीड़े नहीं पड़ते थे और सालभरके बाद ही रंग बदलता था, किन्तु अब गुड़में सालभरमें ही कीड़े पड़ जाते हैं और ५-७ महीनेमें ही रंग बदल जाता है। नयी-नयी तथा बढ़ती हुई बीमारियोंमें इस रासायनिक खादका बहुत बड़ा हाथ है, इस बातकी घोषणा तो कुछ कालके बाद वैज्ञानिक ही कर देंगे।

इसी प्रकार कीटाणुनाशक विषाक्त केमिकलोंके छिड़कावसे भी

अन्न तथा शाक दोषयुक्त हो जाते हैं। जिनको खानेसे तन, मन और जीवनकी हानि होती है। यही कारण है कि अमेरिका आदि देश रासायनिक खाद तथा कीटनाशक केमिकलों आदिके प्रयोगमें क्रमशः प्रतिबन्ध लगा रहे हैं। हमारी सरकारको भी उनसे शिक्षा लेकर प्रतिबन्ध लगाना चाहिये, इसीमें दूरदर्शिता है, अन्यथा पीछे पछताना ही पड़ेगा। अन्नागारोंमें कीटाणुओंसे अन्नकी रक्षाके लिये जिन विषाक्त पाउडरोंका प्रयोग किया जाता है, उनसे भी अन्नमें दोष तथा अशुद्धि आ जाती है, अतः उनपर भी प्रतिबन्ध लगाना चाहिये। इन सबपर विचार करनेसे यह निर्णय निकलता है कि जो पदार्थ तन और मन दोनोंकी स्वस्थताका सम्पादक हो, किसी प्रकार भी हानिकारक न हो, वही पदार्थ शुद्ध खाद्य है।

(ग) देशशुद्धि—जिस देश (भूमि)-में अन्न उत्पन्न होता है, पकाया जाता है और बैठकर खाया जाता है, उस देशके भी गुण-दोष भोजनमें आ जाते हैं, अतः इन तीनों दृष्टियोंसे देश (भूमि)-शुद्धिपर यहाँ विचार किया जायगा।

यह सभी जानते हैं कि एक ही गन्ना विभिन्न क्षेत्रोंमें उत्पन्न होनेपर भी सभी जगहके गुड़ोंका स्वाद भिन्न-भिन्न प्रकारका होता है। इसका एकमात्र कारण देश (भूमि)-भेद ही है। चिकनी तथा काली मिट्टीमें उत्पन्न अन्न, शाक, गुड़ आदि पदार्थोंमें अधिक स्वाद, रस और शक्ति होती है, यह मैंने बहुत बार अनुभव करके देखा है। इसी देश-वैचित्र्य-विज्ञानके आधारपर शास्त्रकार ऊसर, बाँबी तथा श्मशानमें उत्पन्न औषधिके ग्रहणका निषेध करते हैं तथा सात्त्विक हिमालयपर्वतमें उत्पन्न औषधियोंके ग्रहणका विधान करते हैं। अतः अन्न भी वही ग्रहण करना

चाहिये, जो शुद्ध भूमिमें उत्पन्न हो। इस दृष्टिसे पवित्र गंगा आदि नदियोंके कछारोंमें उत्पन्न अन्न सबसे अधिक शुद्ध होता है।

[अ] **चौका**—जिस देश (भूमि)-में भोजनका पाक किया जाय, वह देश पवित्र होना चाहिये, इसमें किसी भी भौतिक विज्ञानवादीका मतभेद नहीं है; क्योंकि मल, मूत्र आदिद्वारा अशुद्ध भूमिमें भोजन बनानेसे उनके दूषित परमाणुओंका भोजनमें प्रवेश अवश्य हो जाता है। इसके लिये शास्त्रकारोंने खूब विचारकर चौकेमें भोजन बनानेका विधान किया है। छोटे-छोटे बाल-बच्चे घूम-फिरकर घरमें जहाँ-तहाँ मल-मूत्रका त्याग करते रहते हैं, ऐसी दशामें पूरे घरको लीप-पोतकर प्रतिदिन पवित्र रखना सम्भव नहीं, हाँ; एक छोटा-सा चौका (रसोईघर) प्रतिदिन लीप-पोतकर पवित्र रखा जा सकता है और छोटे बाल-बच्चोंको वहाँ जानेसे रोककर भी रखा जा सकता है। चौकेकी पूर्ण शुद्धिके लिये ही बिना पैर धोये चौकेमें जानेका निषेध किया गया है। इतना ही नहीं, किंतु और अधिक दूरदर्शितासे चौकेकी एक सीमा बनाकर उसके अन्दर भी बिना पैर धोये जाना मना कर दिया है। इसमें दूरदर्शिता यह है कि जब चौकेकी सीमाके अन्दर भी गन्दे पैरोंसे नहीं जाने दिया जायगा तब भोजनपात्रोंतक तो जायगा ही कैसे? यदि सीमा न बनायी जाय तो जबतक हम अपने गन्दे हाथ-पैरोंसे भोजनको न स्पर्श कर दें तबतक अशुद्धि नहीं मानेंगे, परंतु बात ऐसी नहीं है; क्योंकि गन्दे परमाणुओंका प्रभाव एक-दो हाथ दूरसे ही भोजनपर पड़ जाता है, उससे बचनेके लिये सीमा बनानी ही चाहिये।

सीमाभेदके लिये स्मृत्यर्थसारमें कहा है—

'जलतृणाग्निभस्मपथिस्तम्भैः पंक्तिर्भिद्यते'।

जल, तृण, अग्नि, भस्म, मार्ग, खम्भा (दीवार) आदिसे पंक्ति (सीमा)-भेद हो जाता है।

इसी प्रकार कोयला, खड़िया और मिट्टीकी रेखा आदिसे भी सीमा-भेद हो जाता है। इसी शास्त्र-प्रमाणानुसार भोजन बनानेके स्थानपर सीमा बनायी जाती थी और अब भी कुछ लोग बनाते हैं। अतः इसे पाखण्ड नहीं समझना चाहिये।

[ब] चौकेमें ही भोजन, मेज-कुर्सीपर नहीं—शुद्ध देश (चौके)-में बना हुआ भोजन भी यदि बाल-बच्चोंके मल-मूत्रसे लिप्त चौकेसे बाहर अपवित्र स्थानमें, खाटमें, दरी या गद्दोंमें रखकर किया जायगा तो उसमें अशुद्धि आ जायगी, इसलिये चौकेमें बैठकर ही भोजन करना हितकर है। इसीलिये धर्मशास्त्रोंमें कहा है—

'नाधिशयने नासने वाऽश्नीयात्। खट्वारूढो न भुञ्जीत।'

एक चतुर महिला बहन सावित्रीने कहा कि स्वामीजी, हमारे घरमें बच्चोंको प्लास्टिकका कपड़ा नीचे बिछाकर सुलाते हैं, इसलिये दरी, गद्दा तथा खाट अपवित्र नहीं होते और घरमें कहीं भी बच्चे मल-मूत्र कर देते हैं तो तुरंत धोया जाता है, अतः घर भी पवित्र रहता है। मैंने कहा—बाई! सत्य-सत्य बताना, पूरी सावधानी रखनेपर भी कभी इस गद्देपर बालकने मल-मूत्रका त्याग किया है या नहीं? सावित्रीने कहा कि सो तो एक बार ही नहीं अनेक बार किया है। हमने कहा फिर पवित्र कैसे? तुम्हारे घर पक्के हैं, उन्हें धोया जा सकता है, किंतु कच्चे घरोंमें तो बच्चे मूत्र करते हैं, तुरंत जमीन सोख लेती है। अतः चौकेकी प्रथा ही निर्दोष है।

कुछ लोगोंका कहना है मेज प्रतिदिन साफ की जाती है,

इसलिये मेज-कुर्सीपर बैठकर भोजन करना हानिकर नहीं है। इसपर मेरा निवेदन है कि कुर्सीपर बैठकर भोजन करनेपर पैर नीचे लटकाकर रखने पड़ते हैं, इससे नाभिसे सम्बन्धित नीचे भागकी सभी धमनियाँ तनी रहती हैं, इसका पाचन-क्रियापर बुरा प्रभाव पड़ता है, जिससे शारीरिक हानि होती है। मेज-कुर्सीपर बैठकर भोजन करनेके लिये एक अलग कमरेकी आवश्यकता पड़ती है, परोसनेके लिये अतिरिक्त व्यक्तिकी आवश्यकता पड़ती है, इसके लिये और इस कमरे तथा मेज-कुर्सीकी सफाईके लिये यदि नौकर रखा जाय तो आर्थिक हानि होती है। यदि ये सभी काम स्त्रियोंसे ही कराये जायँ तो उनपर अनावश्यक अधिक कार्यभार लादना पड़ता है। मेज-कुर्सी बनवानेमें सैकड़ों-हजारों रुपये व्यर्थ नष्ट करने पड़ते हैं। इन सब हानियोंसे बचनेके लिये चौकेकी प्रथाका ही पालन करना चाहिये।

घरपर आये १०-२० मेहमानोंके लिये बाहरसे माँगकर या किरायेपर मेज और कुर्सियाँ लानी पड़ती हैं। विवाह, भोज आदिमें सैकड़ों-हजारों मनुष्योंको भोजन करानेके लिये सैकड़ों-हजारों मेज और कुर्सियाँ तथा उनपर बिछानेके लिये सैकड़ों-हजारों वस्त्रोंका किरायेपर लाना तथा परोसनेके लिये उनके कार्यकर्ताओंको वेतन देना कितना मँहगा पड़ता है, इस विषयपर हमारे एक अनुभवी मित्र परमेश्वरदयालजीने बताया कि भोजनमें जितना पैसा लगता है, उसकी अपेक्षा भी दूना पैसा मेज-कुर्सीकी इस आधुनिक कुप्रथामें लगता है। इसीलिये धर्मशास्त्रोंने आसन्दी (सिंहासन—मेज, कुर्सी)-में भोजन करना मना किया है—

'नासन्दीकृतभोजनः।'

(घ) कालशुद्धि—किस कालमें भोजन किया जाय, किस

कालमें बनाया जाय एवं किस काल (ऋतु)-में क्या खाया जाय, इन सबका विचार कालशुद्धिमें आ जाता है। अतः इन्हींपर विचार किया जायगा।

चौबीस घंटेमें एकत्रित मल आदि विकारोंका मल-मूत्रत्याग, स्नान आदि शौच-विज्ञानमें कथित विधानसे परित्याग कर देनेसे सभी विषयोंको ग्रहण करनेकी एक नयी योग्यता आ जाती है, इसका अनुभव सभीको होता है। इसके अतिरिक्त स्नानद्वारा शीतल जलके संयोगसे शरीरकी उष्णता भीतरकी ओर चली जानेके कारण जठराग्नि प्रबल हो जाती है। यही कारण है कि शीतकालमें भूख अधिक लगती है। इन्हीं सब कारणोंसे स्नान करनेके बाद ही भोजनका विधान किया गया है। कुछ वस्तुएँ गन्नेका रस, जल, दूध, फल आदि ऐसी हैं कि इन्हें पचानेके लिये अच्छी भूखकी आवश्यकता नहीं होती, इसलिये आवश्यकता होनेपर इन्हें स्नानसे पूर्व भी खाने-पीनेकी अनुमति दी गयी है। यही बात निम्ननिर्दिष्ट श्लोकमें कही है—

इक्षुरापः पयो मूलं फलं ताम्बूलमौषधम्।
भुक्त्वा पीत्वापि कर्तव्या स्नानदानादिकाः क्रियाः॥

गन्नेका रस, जल, दूध, मूल, फल, पान और दवा—इन चीजोंको खा-पीकर भी स्नान, दानादि क्रियाएँ की जा सकती हैं।

न सन्ध्ययोर्न मध्याह्ने नार्धरात्रे कदाचन।
सूर्यग्रहे पूर्वचतुर्यामं नाद्यात् चन्द्रग्रहे त्रियामम्।

दोनों सन्ध्याओंमें, मध्य दिनमें एवं आधी रातमें भोजन न करे एवं सूर्यग्रहणसे १२ घंटे पहले और चन्द्रग्रहणसे ९ घंटे पहले भोजन न करे। इसका कारण यह है कि दोनों सन्ध्याएँ तथा मध्य दिन (मध्याह्नकालीन सन्ध्या) उपासनाके लिये परम उपयोगी काल हैं।

आधी रातका समय निद्राके लिये प्रकृतिके नियमानुसार परम उपयोगी है। सूर्यका सम्बन्ध आधी रातको बिलकुल न रहनेसे जठराग्नि मन्द हो जाती है। यही कारण है कि दिनमें मनुष्य दो-तीन बार खाता है, विवाह-शादियोंमें तथा कारखानोंमें काम करनेपर भी रातको आठ-दस बजे एक बार खाकर ही काम करता रहता है, दो-तीन बार नहीं खाता।

चन्द्रमा अन्नरसका पोषक और सूर्य अन्नरसका परिपाक करनेवाला है। इनकी गति विषम होनेपर ग्रहण होते हैं, जिससे अन्नमें विकृति आ जाती है। उसका प्रभाव क्रमशः १२-९ घंटे पूर्व ही होने लगता है, इसलिये ग्रहण-कालमें भोजनका निषेध किया है। यह बात अब तो वैज्ञानिक भी मानने लगे हैं। इसी प्रकार घरमें या पड़ोसमें कोई मर जाय तो भी शव रखा रहनेतक भोजन नहीं करना चाहिये; क्योंकि प्राण निकलते ही मुर्दा-शरीरसे रोग-कीटाणु बहुत बड़ी संख्यामें चारों तरफ फैलने लगते हैं।

जिस समय भोजन करना है, उससे तीन घंटेसे अधिक पहलेका बना भोजन नहीं होना चाहिये, इसीको शब्दान्तरमें ताजा भोजन कहते हैं। आजकल तवे-चूल्हेसे निकलते हुए पूरी, पराठे, रोटीको ही ताजा भोजन कहते हैं और उसे ही स्वादिष्ट और स्वास्थ्यकर मानते हैं। यह बात ठीक नहीं है; क्योंकि अति उष्ण भोजन दाँतों तथा आँतों—दोनोंके लिये हानिकर है। खूब गरम-गरम भोजन दाँतोंसे चबाकर खाना और खूब ठण्डा पानी पीना तो दाँतोंके लिये बहुत ही हानिकर है। इसलिये गरम-गरम दूध या चाय पीकर पानी पीना या तुरंत कुल्ले करना आजके बाबूलोग भी हानिकर मानते हैं। तवे और चूल्हेसे तुरंत निकली रोटी या पराठेकी अपेक्षा दबाकर रखी हुई

५-१२-३० मिनट पहलेकी रोटी और पराठे मुलायम हो जानेसे अधिक स्वादिष्ट भी लगते हैं।

स्वाभाविक रीतिसे जितने कालमें जो फलादि पदार्थ पकते हैं, उनको अति तेज जहरीले पदार्थोंके संयोगसे शीघ्र पकाकर खाना भी हानिकर है एवं जिस ऋतुमें जो पदार्थ खानेयोग्य होता है, उसे उस ऋतुमें ही खाना चाहिये। जैसे सर्दीके दिनोंमें उष्ण पदार्थ बाजरा, तिल, गुड़ आदि हितकारी हैं एवं गर्मीमें शीतल पदार्थ चावल, चीनी, लस्सी, आँवला, गुलकन्द आदि हितकारी हैं। इनका विशेष ज्ञान आयुर्वेदके ग्रन्थोंसे प्राप्त करना चाहिये। इसके अतिरिक्त सूतक-काल, पातक-कालमें तथा व्रत-कालमें जो भोजनके नियमोंका वर्णन है, उसका उन्हीं प्रसंगोंमें विवेचन किया जायगा।

(ङ) पाचक-शुद्धि—यदि भोजन बनानेवाला व्यक्ति गन्दे वस्त्र पहने हो, रोज न नहाता हो; शौचके बाद अच्छी तरह मिट्टीसे हाथ न धोता हो एवं तम्बाकू पीनेवाला हो तो भी भोजन अशुद्ध हो जाता है। नौकरोंसे भोजन बनवानेसे इसीलिये भोजन अशुद्ध हो जाता है कि प्रायः नौकर उक्त अशुद्धियोंसे युक्त होते हैं। इसके अतिरिक्त गरीब घरके नौकर प्रायः स्वादिष्ट हलुआ, मलाई आदि पदार्थोंको खाकर उच्छिष्ट (जूठा)-कर देते हैं। इन दोषोंसे बचनेके लिये ही शास्त्रोंने अपनी माँ, बहन, पत्नी आदिके हाथका बनाया भोजन ही खानेको कहा है। इसके अतिरिक्त माँ, बहन और पत्नी जिस उदार तथा प्यारभरे भावसे भोजन बनाकर परोसकर खिला सकती हैं, नौकरोंमें उस उदारता, भावभरे प्यारकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। इसीलिये लोकमें एक कहावत

प्रसिद्ध है कि ***‘मघा के बरसे और माता के परोसे’*** ही तृप्ति होती है।

(च) भाव-शुद्धि—ऊपर लिखी सभी प्रकारकी शुद्धियोंसे युक्त पदार्थ भी यदि राजस तथा तामस भावसे खाया जायगा तो वैसी ही मनोवृत्तियाँ बनेंगी। उदाहरणके लिये एक व्यक्ति ईमानदारीकी कमाईसे दूध और बादाम लाता है, पवित्र चौकेमें स्वयं या पत्नीसे गरम कराकर इस भावसे खाता-पीता है कि शरीरमें खूब ताकत आ जायगी तो खूब मौज करूँगा या अमुक दुश्मनको गला घोटकर मार डालूँगा। इस भावसे किया गया दूध और बादामका शुद्ध भोजन भी कथित राजस और तामस भाव ही पैदा करेगा। इस दोषसे बचनेके लिये शास्त्रोंमें भोजनको भगवदर्पण करके (नैवेद्य—भोग लगाकर) अन्तःकरण-शुद्धिके लिये प्रसादके भावसे ग्रहण करनेका विधान किया है। इससे केवल भाव-शुद्धि ही नहीं होती, अपितु अज्ञात अन्न-दोषोंका भी प्रभाव नहीं पड़ता; क्योंकि धर्मशास्त्रोंमें कहा है—

अन्नं ब्रह्मा रसो विष्णुर्भोक्ता देवो महेश्वरः।
एवं ध्यात्वा च यो भुङ्क्ते सोऽन्नदोषैर्न लिप्यते॥

अन्न ब्रह्मा है, रस विष्णु है और खानेवाला महेश्वर है, ऐसा ध्यान करके जो भोजन करता है, वह अन्नके दोषोंसे लिप्त नहीं होता।

अपने भावोंके अतिरिक्त भोजन बनाने, परोसने तथा देखनेवालोंके भावोंका प्रभाव भी भोजनपर पड़ता है। बनाने और परोसनेवालेके दोषोंसे दूषित भावोंसे बचनेके लिये ही माँ, बहन और पत्नीसे भोजन बनवाने तथा परोसनेका विधान किया है। देखनेवालोंके बुरे भावोंसे

बचनेके लिये हारीतऋषिने कहा—

'न शिशून् भर्त्सयन् नाऽप्रदाय प्रेक्षमाणेभ्योऽश्नीयात्।'

बच्चोंको झिड़कता हुआ तथा देखनेवालोंको दिये बिना न खाये। इसी भाव-दोषसे बचानेके लिये दोषयुक्त स्त्री (रजस्वला), चाण्डाल, कुत्ता, कौवा और मुर्गोंकी दृष्टिसे भोजनको बचानेके लिये शास्त्रमें कहा है। राग-द्वेष या घृणाके कारण नहीं कहा; क्योंकि उन्हीं शास्त्रकारोंने कौवे और कुत्तेको रोज रोटी देने (बलिवैश्वदेवके अन्तर्गत काकबलि)-का भी विधान किया है।

(छ) पात्र-शुद्धि—भोजनके पात्रोंकी शुद्धि तथा अशुद्धि शरीर तथा मनको हानि और लाभ पहुँचानेवाले धातुओंसे बने होनेके कारण तथा दोष और गुणोंके ग्रहण और अग्रहण-स्वभावके कारण एवं आगन्तुक गुण-दोषोंके संयोग तथा वियोगके कारण होती है। इन्हींका यहाँ विवेचन किया जाता है।

ताँबेके पात्रमें भोजन करनेसे वमन, मिचली आदि रोग हो जाते हैं; क्योंकि ताँबेमें वमनकारक नीले थोथेका अंश होता है। नीला थोथा जलशोधक होनेके कारण ताँबेके पात्रमें जल रखना तो हितकारी है, किंतु भोजन करना हितकारी नहीं। लोहेका कच्चा अंश अनेक प्रकारकी बीमारियाँ पैदा करता है; इसीलिये आयुर्वेदमें कच्ची लौहभस्मका सेवन तथा लोहेके पात्रमें भोजन करना मना किया है। लोहेका पक्का अंश यकृत्-प्लीहा-सम्बन्धी रोगोंको दूर करता है और रक्तकी वृद्धि करता है, इसलिये आयुर्वेदमें शुद्ध परिपक्व लौहभस्मके सेवनका और लोहेकी कड़ाही आदिमें भोजन बनानेका विधान किया है।

यद्यपि स्टीलके बरतन लोहेको बहुत अधिक शुद्ध करके बनाये

जाते हैं तो भी वे कालान्तरमें रोगोंको उत्पन्न करते ही हैं—ऐसा अब वैज्ञानिक भी स्वीकार करते हैं। इसलिये स्टीलके बरतनोंका भी बर्ताव नहीं करना चाहिये। आर्थिक दृष्टिसे देखें तो वे महँगे भी बहुत हैं। पीतल, काँसेके बरतन टूट-फूट जानेपर बेचनेसे आधेसे अधिक पैसे मिल जाते हैं; किंतु स्टीलके बरतनोंके टूट-फूट जानेपर एक पैसा भी नहीं मिलता। एल्युमिनियम, प्लास्टिक आदि आधुनिक नयी धातुओंके बर्तन सस्ते तो होते हैं, किंतु कैंसर-जैसे भयानक रोगोंके जनक होनेसे अशुद्ध हैं।

स्वर्ण त्रिदोषशामक रसायन होनेसे परम हितकारी है, इसीलिये आयुर्वेदमें अनेक असाध्य रोगोंमें स्वर्णभस्म या स्वर्णभस्ममिश्रित औषधियोंका सेवन कराया जाता है। चाँदी भी पित्तजनित रोगोंका नाश करती है, किंतु सोना तथा चाँदी महँगे होनेके कारण सर्वसाधारणके पास इनके पात्रोंका होना सम्भव नहीं। पीतल और काँसेके बर्तन ही सर्वसुलभ तथा निर्दोष एवं गुणकारी हैं। काँसेके पात्रके विषयमें सुश्रुत तथा पैठीनसिऋषिने कहा है—

नित्यमेव तु यो भुङ्क्ते विमले कांस्यभाजने।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुः प्रज्ञा यशो बलम्॥

अर्थात् जो मनुष्य काँसेके निर्मल पात्रमें प्रतिदिन भोजन करता है,उसके आयु, बुद्धि, यश और बल—इन चारकी वृद्धि होती है।

मिट्टीके बने पात्र सब प्रकारसे तन और मनके लिये हितकारी हैं, किंतु इनका प्रयोग एक बार करके फेंक देना चाहिये; क्योंकि ये भोजनके रस आदि पदार्थोंको अपने अन्दर सोख लेते हैं। यद्यपि काँच और चीनी मिट्टीके बरतन भोजनके रसको तो नहीं सोखते तो भी एक बार मुखसे लगानेपर लाखोंकी संख्यामें कीटाणु आ

चिपकते हैं—ऐसा सूक्ष्मदर्शक यन्त्रोंसे देखा गया है। वे कीटाणु धोनेमात्रसे नहीं मरते। सुना है कि चीनी मिट्टीके बरतनोंमें तो उन्हें चिकना करनेके लिये हड्डी आदि अशुद्ध पदार्थोंका लेप भी किया जाता है। आर्थिक हानि भी अधिक होती है; क्योंकि चाहे जितनी सावधानी रखी जाय बाल-बच्चोंवाले घरोंमें काँच और चीनी मिट्टीके बर्तन फूटते बहुत हैं। शास्त्रकी धार्मिक दृष्टिसे चीनी मिट्टी और काँच मिट्टी ही हैं, इसलिये एक बार उनमें भोजन कर लेनेपर अपवित्र तो हो ही जायँगे, फिर उनमें वस्तु रखकर भगवान्‌को भोग नहीं लगा सकते। इसी दृष्टिसे पहले अमुक-अमुक कार्यविशेषके लिये पत्थर तथा काष्ठके भी बर्तन घरोंमें केवल वस्तु रखनेके काममें ही लाते थे; उनमें खाते नहीं थे। इन्हीं हानि-लाभोंकी दृष्टिसे हाथमें, कपड़ेमें, पत्थरमें तथा ताँबेके बर्तनमें भोजनका निषेध किया है एवं वट, पीपल और आकके पत्तोंमें दूध रहता है; उसके मिश्रणसे भोजनमें दोष आ जाते हैं, इसलिये उनके पत्तोंमें भी भोजन करना निम्नलिखित श्लोकमें मना किया है—

करे कार्पासके चैव पाषाणे ताम्रभाजने।
वटार्काश्वत्थपत्रेषु भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत्॥

वट आदि हानिकारक पत्तोंको छोड़कर पलाश—ढाक, कमल, आम, केला तथा महुआके पत्तोंमें भोजन करना हितकर है; क्योंकि इन पत्तोंपर प्रकृतिने एक ऐसी पालिश की है, जिससे इनके भीतर भोजनका रस प्रवेश नहीं करता तथा इन पत्तोंमें तन और मनके लिये कोई हानिकर दोष नहीं होते। इसीलिये शास्त्रमें इनके पत्तोंपर भोजनका विधान है—

पलाशपद्मिनीचूतकदलीहेमराजते ।
मधुपत्रेषु भोक्तव्यं ग्रासमेकं तु गोफलम्॥

विवाह आदि कार्योंमें जहाँ सैकड़ों-हजारों व्यक्तियोंको भोजन कराना हो, वहाँ तो मिट्टीके बर्तन तथा पलाश आदि पत्तोंकी पत्तलोंका ही प्रयोग सब प्रकारसे हितकर है। इनके प्रयोगसे पैसा कम खर्च होता है, गरीबलोगोंको काम मिलता है, स्वास्थ्यमें किसी प्रकारकी हानि नहीं होती और समय भी अधिक नष्ट नहीं होता। इसके विपरीत धातुके या काँच और चीनी-मिट्टीके बर्तनोंका प्रयोग करनेपर सब प्रकारकी हानि होती है, प्रथम तो इनके बर्तन इकट्ठा करनेमें या किरायेपर लेनेमें ही बहुत पैसा नष्ट होता है, धातुके बर्तन खो जानेपर और काँच एवं चीनी मिट्टीके बर्तन फूट जानेपर उनकी कीमत देनी पड़ती है। हजारों थालियों, कटोरियों एवं प्लेटोंको अच्छी तरह माँजकर—सफाई न करके प्रायः एक बड़े बर्तनमें पानी भरकर उसी गन्दे पानीसे धोकर पुनः उन्हें काममें लाया जाता है, जिससे नाना प्रकारकी शारीरिक हानियाँ होती हैं एवं समय बहुत नष्ट होता है। खर्चेको कम करनेके लिये एक मेजपर एक थालीमें चार मनुष्योंका भोजन करना सर्वथा हानिकर है; क्योंकि भिन्न-भिन्न प्रकृतिके तथा भिन्न-भिन्न रोगोंसे ग्रस्त लोगोंद्वारा एक थालीमें भोजन करनेपर परस्पर रोगोंका आदान-प्रदान हो जाता है। इस प्रकार केवल शारीरिक हानि ही नहीं होती, अपितु मानसिक हानि भी होती है; क्योंकि प्रायः अच्छी चीज लोग अपने हिस्सेसे अधिक खा जानेकी चेष्टा करते हैं।

पात्र-संख्या—भोजन बनाने और खानेमें जितने कम पात्रोंसे काम चल जाय, उतना ही अच्छा होता है। अधिक पात्रोंके खरीदनेमें

व्यर्थकी अर्थ-हानि तथा माँजनेमें व्यर्थ समयका नाश और स्त्रियोंके ऊपर व्यर्थ कार्यभार आ पड़ता है। इस विषयमें मुझे अपने प्रान्तकी प्रथा याद आती है। चार तरहके साग बाजारके दिन खरीदे जाते थे, एक-एक साग प्रतिदिन बनाया जाता था। चारों साग थोड़े-थोड़े प्रतिदिन नहीं बनाये जाते थे। इसमें स्वास्थ्यकी दृष्टिसे तो कोई हानि-लाभ होता नहीं था; क्योंकि वही चार साग उतनी ही मात्रामें चार दिनमें पेटके अन्दर जाते थे, परंतु स्त्रियोंके ऊपर व्यर्थका कार्यभार नहीं आता था। चार शाक प्रतिदिन बनानेमें चार बर्तन पकानेमें और प्रत्येक थालीमें चार बर्तन खानेके समय बढ़ जानेसे स्त्रियोंको कार्य अधिक करना पड़ता है। हमारे यहाँ एक काँसेकी खड़ी किनारेवाली थालीमें एक तरफ लकड़ीका छोटा-सा टुकड़ा लगाकर टेढ़ी रख देते थे। उसमें नीचेकी तरफ दाल, ऊपरकी तरफ रोटी, एक तरफ साग, दूसरी तरफ भात रख देते थे। इस प्रकार एक ही थालीमें अच्छी तरह काम चल जाता था। मुझे तो भोजन करनेमें भी बहुत सुगमता मालूम होती थी। रोटीका ग्रास तोड़ा शाकमें जरा-सा धक्का लगाया और दाल और शाक एक साथ एक ग्रासमें एक बार ही मुखमें चले गये, बार-बार हाथ चलानेकी आवश्यकता नहीं। जब कभी खीर आदि पदार्थ या पतला साग बनता तब उसे अलग कटोरीमें दिया जाता था। अतः जितने पदार्थ थालीमें रखे जा सकें, उनको कटोरियोंमें न रखकर थालीमें ही रखना चाहिये।

इसके विपरीत वर्तमानमें चार शाक प्रतिदिन बनाना, उनको अलग-अलग कटोरियोंमें रखना एवं उनको खानेके लिये चार चम्मचें रखना, इस प्रकार व्यर्थ कार्यभार बढ़ानेकी प्रथाका प्रसार होता जाता है। जरा सोचिये कि एक घरमें १० आदमी भोजन करनेवाले हों तो

१० थालियोंके साथ-साथ ४० चम्मचें, ४० कटोरियाँ और माँजनी पड़ेंगी या नहीं? प्रसंगतः शाकके बारेमें यह बताना आवश्यक है कि आयुर्वेदमें परवल-जैसे सुपथ्य सागका भी अधिक खाना हितकर नहीं माना है, इसलिये साग कम खाना चाहिये।

भोजन-विधि—पूर्वमें कही गयी सभी प्रकारकी शुद्धियोंसे युक्त भोजन करनेसे पूर्व हाथ-पैरोंका धोना अति आवश्यक है; क्योंकि गन्दे मार्गमें चलने-फिरनेसे पैर भी गन्दे हो जाते हैं। उन गन्दे पैरोंको धोये बिना चौकेमें प्रवेश करना तथा गन्दे पैरोंके समीप भोजनकी थाली रखकर भोजन करना ठीक नहीं एवं कभी शरीरको खुजाते हैं, कभी मच्छर या मक्खी मार देते हैं, विशेष करके इस नवीन युगमें जबकि पेशाब करते समय मूत्रेन्द्रियका स्पर्श करके भी हाथ नहीं धोते हैं। इन सब कारणोंसे हाथ गन्दे रहते हैं, उन्हें धोये बिना उन हाथोंसे भोजन करना स्वास्थ्यके लिये अति हानिकारक है। इसीलिये बौधायनऋषिने कहा है—

> **'सुप्राक्षालितपाणिपादोऽयं आचम्य शुचौ संवृते देशे अन्नमुपसंगृह्य कामक्रोधलोभमोहानपहृत्य सर्वाभि-रङ्गुलीभिः शब्दमकुर्वन् प्राश्नीयात्।'**
> **'पादाभ्यां धरणीं स्पृष्ट्वा।'**

अच्छी तरह हाथ-पैर धोकर और आचमन करके पवित्र देश (चौके)-में, बन्द जगहमें अन्न (भोजन) लेकर बैठे। काम, क्रोध, लोभादि दोषोंको त्यागकर सभी अँगुलियोंद्वारा आवाज न करते हुए भोजन करे। पैरोंद्वारा पृथ्वीका स्पर्श करता हुआ बैठे।

इनमेंसे हाथ-पैर धोने तथा चौकेमें भोजन करनेकी उपयोगिता बतायी जा चुकी है। भोजनसे पूर्व आचमन कर लेनेसे गलेकी रुक्षता

नष्ट होकर स्निग्धता आ जाती है, जिससे ग्रासका फन्दा लगनेका भय नहीं रहता। अतिरुक्ष गलेमें भोजनकी तो बात ही क्या, एकदम अधिक पानी भी पिया जाय तो पानीका भी फन्दा लग जाता है। यही कारण है कि ग्रीष्मकालमें धूपमें चलकर आये अर्थात् प्यासे व्यक्तिको गुड़, चीनी आदि रसीले पदार्थका टुकड़ा चूसकर बादमें पानी पीनेका विधान किया गया है। बन्द जगहका तात्पर्य है कि ऐसी खुली जगह न हो, जहाँ सभीकी दृष्टि भोजनपर पड़े; क्योंकि दूषित दृष्टिसे देखा गया भोजन भी दोषयुक्त हो जाता है। काम, क्रोध, लोभादि भावोंसे भावित होकर भोजन भी उन्हीं दोषोंसे युक्त हो जाता है, जिससे पुनः काम, क्रोध, लोभादि दोषयुक्त मनका निर्माण होता है, इसीलिये उनके त्यागका विधान किया गया है।

सभी अँगुलियोंसे खानेसे दाल और शाक कपड़ोंमें गिरते नहीं। भोजन अँगुलियोंसे ही करना चाहिये चम्मचोंसे नहीं; क्योंकि अँगुलियोंसे भोजन स्पर्श करनेपर उसकी उष्णताका ज्ञान हो जाता है, जिससे मुख जलनेकी सम्भावना नहीं रहती; क्योंकि ईश्वरने हाथको जितनी उष्णता सहन होती है, उससे अधिक जीभको उष्णता सहन करनेयोग्य बनाया है। जो पदार्थ इतने पतले हों कि जिन्हें अँगुलियोंसे नहीं उठाया जा सकता, उन्हें चम्मचसे खाना चाहिये। आवाज न करते हुए खानेके लिये मुख बन्दकर ही ग्रास चबाना पड़ता है, मुख बन्द रहनेपर किसी मक्खी, मच्छर आदि जन्तुके मुखमें प्रविष्ट होनेकी सम्भावना ही नहीं रहती। भोजनमें चपड़-चपड़ करते हुए खाना तो शूकर-कूकरका काम है, मनुष्यका नहीं। पृथ्वीका स्पर्श पैरोंसे करते हुए बैठनेपर पेट दबा रहता है, जिससे उदर-वृद्धि नहीं होती, भोजन भी मात्रासे अधिक

नहीं खाया जाता। भोजन-कालमें उत्पन्न अधिक गर्मी (विद्युत्) पृथ्वीमें चली जाती है। हमारे प्रान्तमें जो पैरोंके बलपर बैठकर भोजन करनेकी प्रथा है, वह इसी स्मृति-वचनके आधारपर है, अतः उसे जंगलीपना समझना भूल है। पलथी मारकर बैठनेसे भी कुछ तो पेट दबा रहता ही है, अतः पलथी मारकर बैठना भी बुरा नहीं, किंतु कुर्सीपर बैठकर खानेसे पेट जरा भी नहीं दबता अपितु उलटे तनता ही है जो हितकर नहीं, यह पहले बताया जा चुका है।

एक वस्त्र धारण करके भोजन तथा देवपूजन न करे। यदि एक ही वस्त्र हो तो उसके ऊपरी भागसे शरीरको ढक ले। सिरमें कपड़ा बाँधकर या बहुत-से वस्त्र पहनकर भोजन न करे।

'एकवस्त्रो न भुञ्जीत न कुर्याद् देवतार्चनम्।'

(गोभिल)

'एकं चेत् वासो भवति तस्यैवोत्तरवर्गेण प्रच्छादयीत्।'

(पारस्कर)

'न वेष्ठितशिराश्चापि न बहुवस्त्रयुतोऽपि वा।'

एक वस्त्र धारण करके भोजन तथा पूजन करते समय यदि छींक, आँसू आदि आ जायँ तो उनसे रक्षा न हो सकेगी, अतः दूसरा वस्त्र अँगौछा ओढ़कर भोजन तथा पूजनका विधान है। अभावमें एक ही धोतीके ऊपरी भागको ओढ़नेका विधान किया गया है। आँसू, छींक आदिसे रक्षा करनेके लिये ही रूमालका रखना तो आजकलके बाबूलोग भी आवश्यक समझते हैं। भारतवर्ष गर्म प्रदेश है, भोजन करते समय शरीरमें अधिक गर्मी उत्पन्न होती है। बहुत कपड़े पहनकर भोजन करनेपर और गर्मी उत्पन्न होगी। सिरपर कपड़ा बँधा

होनेपर सिरमें हवा लगकर गर्मी निकल न सकेगी, जिससे मस्तिष्कपर बुरा प्रभाव पड़ेगा।

ग्रासशेषं तु नाश्नीयात् पीतशेषं पिबेन्न च।
बहूनामश्नतां मध्ये न चाश्नीयात् त्वरान्वितः॥

(ब्रह्मपु०)

दाँतोंसे काटकर बचा हुआ ग्रास पुनः न खाये एवं मुख लगाकर पीनेसे बचा हुआ पानी पुनः न पिये। बहुत लोगोंके बीचमें बैठकर भोजन करते समय बहुत जल्दी न खाये।

आजकलके सूक्ष्मदर्शक यन्त्रोंसे देखनेपर यह स्पष्ट अनुभव हो चुका है कि मुखके पानी (लार)-का जिस भोजन या पानीके पात्रसे सम्बन्ध हो जाता है, उसमें तत्क्षण लाखों कीटाणु चिपक जाते हैं। यही कारण है कि हमारे सर्वज्ञ ऋषियोंने दूसरोंके नहीं, अपने ही उच्छिष्ट (जूठे) भोजन तथा पानीके पात्रका पुनः उपयोग न करनेका विधान किया है। पंक्तिमें जल्दीसे भोजन करके दूसरोंकी तरफ देखते रहना दृष्टिदोष-प्रदायक है, इसलिये उसका निषेध किया है। इसी प्रकार बहुत धीरे खाकर दूसरोंसे प्रतीक्षा कराते रहना भी ठीक नहीं माना जाता। अतः समूहमें समूहके अनुकूल ही सर्वत्र व्यवहार करना चाहिये।

'अश्नीयात्तन्मयो भूत्वा पूर्वं तु मधुरं रसम्।
लवणाम्लौ तथा मध्ये कटुतिक्तादिकांस्ततः॥'

(विष्णुपु० ३।११।८७)

'प्राग्द्रवं पुरुषोऽश्नीयान्मध्ये कठिनभोजनः।
अन्ते पुनर्द्रवाशी तु बलारोग्ये न मुञ्चति॥'

(विष्णुपु० ३।११।८८)

'भुक्त्वाऽमृतपिधानार्थं पिबेत्तोयं सकृत् सकृत्।'

(ब्रह्मपु०)

तन्मय होकर पहले मधुर रसका, बीचमें नमकीन तथा खट्टे रसका और अन्तमें कटु तथा तिक्त रसका भोजन करे। पहले पतला, बीचमें कड़ा और अन्तमें फिर पतला भोजन करना चाहिये। भोजन करके जलरूप अमृतसे अन्नको ढकनेके लिये थोड़ा-थोड़ा बारम्बार जल पिये।

भोजनके प्रारम्भमें पित्त प्रबल होता है, अतः उसके शमनके लिये मधुर रसका सेवन करना ही ठीक है; क्योंकि मधुर रस पित्त-शामक होता है। इसके अतिरिक्त मधुर रस सत्त्वगुणवर्धक है, अतः प्रारम्भमें उसका भोजन करना भोजनको सात्त्विक बनाना है। भोजनके प्रारम्भमें पंच प्राण आहुतिके लिये भी लवणादि रसरहित मधुर रसवाले द्रव्यका ही विधान शास्त्रमें किया गया है। नमक और खटाई पित्तवर्धक हैं, अतः बीचमें इनका सेवन करनेसे जठराग्नि तीव्र होकर भोजन सुगमतासे पच जाता है। भोजनके अन्तमें कफकी प्रबलता होती है, अतः अन्तमें कफशामक तिक्त और कटु रसके सेवनका विधान किया गया है। पहले और पीछे द्रव (पतला) और मध्यमें कड़ा भोजन करनेसे आमाशय तथा आँतोंकी कोमल त्वचामें चोट नहीं लगती तथा बीचमें खाया हुआ कड़ा भोजन मुलायम होकर सुगमतासे पच जाता है, जिसका फल आरोग्य तथा बलकी प्राप्ति होना ठीक ही है। खूब चबा-चबाकर भोजन करनेपर भोजन महीन हो जाता है तथा पाचक रस लारका मिश्रण अधिक हो जानेसे आमाशय तथा आँतोंको भोजन पचानेमें बहुत सहायता मिलती है। भोजन करनेके बाद

थोड़ा-थोड़ा बारम्बार पानी पीनेसे भोजनसे रस धातुका निर्माण अच्छा होता है। बीचमें भी एक-दो बार एक-एक घूँट पानी पीनेका विधान आयुर्वेदमें किया गया है। इससे भी भोजनका पाक होने तथा आँतोंमें सरकनेमें सहायता होती है।

जठरं पूरयेदर्धमन्नैर्भागं जलेन च।
वायोः सञ्चारणार्थं तु चतुर्थमवशेषयेत्॥

(ब्रह्मपु०)

न भुञ्जीताघृतं नित्यं गृहस्थे भोजने स्वयम्।
पवित्रमथ वृष्यं च सर्पिराहुरघापहम्॥

(देवल)

कुर्याद् द्वादश गण्डूषान् पुरीषोत्सर्जने द्विजः।
मूत्रोत्सर्गे तु चतुरो भोजनान्ते तु षोडश॥

आधा पेट अन्नसे तथा चौथाई जलसे पूरा करे एवं चौथाई भाग वायुके आने-जानेके लिये खाली रखे। गृहस्थ मनुष्य नित्य घीसे रहित भोजन न करे; क्योंकि घृत पवित्र, बल-वीर्यवर्धक तथा पापनाशक है। भोजनके बाद सोलह, मल-त्यागके बाद बारह और मूत्र-त्यागके बाद चार बार कुल्ला करे।

आयुर्वेदमें घृतकी एक सबसे अधिक विशेषता यह बतायी है कि घृत दूसरे पदार्थोंके दोषोंका नाशक, गुणवर्धक तथा अपने गुणोंका संरक्षक है। दोषोंका नाशक होना ही पापनाशक होना है; क्योंकि दोषोंसे प्रेरित होकर ही मनुष्य पाप करता है। यह बल-वीर्यवर्धक है, इसमें तो किसीका विवाद ही नहीं है। भोजनके बाद अच्छी तरह कुल्ला न करनेसे दाँतोंमें भोजनका अंश लगा रह जाता है; जो सड़कर मुख, दाँत तथा पेटमें आँतसम्बन्धी अनेक बीमारियाँ

पैदा कर देता है।

भोजनके बाद कुल्ला करके तुरंत गीले हाथोंकी अँगुलियोंको आँखोंपर फिरानेसे आँखोंकी ज्योति सुरक्षित रहती है, ऐसा आयुर्वेदमें कहा है। भोजन चबानेमें मुखके भागोंको खूब परिश्रम करना पड़ता है, जिससे गर्मी उत्पन्न होती है। उस गर्मीसे शीतप्रिय मृदु नेत्र सबसे अधिक प्रभावित होते हैं, अतः ज्योतिनाशक गर्मी गीली अँगुलियोंके फिरानेसे शान्त हो जाती है। पेटपर दक्षिणावर्त हाथ फेरनेसे आमाशयगत भोजन सम होकर पक्वाशयकी तरफ गति करनेमें समर्थ हो जाता है। बाईं करवट लेटनेसे दाहिना (सूर्य) स्वर चलने लगता है, जिससे जठराग्नि तीव्र होनेसे अन्न-पाचन अच्छा होता है। गर्मीको छोड़कर अन्य ऋतुओंमें भोजनके बाद सोनेसे कफ-वृद्धि हो जाती है, जिससे मन्दाग्नि होकर अन्न-पाचन ठीक नहीं होता। इसीलिये शास्त्रोंमें इसका निषेध किया है—

भुक्त्वोपविशतः स्थौल्यं शयानस्य रुजस्तथा।
आयुश्चंक्रममाणस्य मृत्युर्धावति धावतः॥

भोजन करके तुरंत बैठे रहनेपर स्थौल्य हो जाता है और तुरंत सो जानेपर मन्दाग्निद्वारा रोग तथा दौड़नेपर मृत्युका भय होता है। चहलकदमी करनेसे आयुकी वृद्धि होती है।

कच्चा-पक्का भोजन—कोई यह शंका कर सकता है कि प्राचीनकालमें या प्राचीन शास्त्रीय पद्धतिसे भोजन करनेवाले व्यक्ति वर्तमानकालमें भी यात्रा आदिके समय लड्डू, पूड़ी आदि बाहर ले जाकर खाते हैं, अतः चौकेके नियमके पालनका विधान ठीक नहीं। इस शंकाका उत्तर यह है कि पक्का भोजन कच्चे भोजनकी तरह शीघ्र दोषयुक्त नहीं होता, इसलिये यात्रादिमें घरसे बाहर चौकेके बिना

भी खानेमें कोई हानि नहीं होती तथा यात्रामें सुगमता भी होती है। इस रहस्यका साक्षात् अनुभव करनेके लिये कुछ पूड़ी और पराठे बनायें और कुछ रोटियाँ बनायें, जितना घी पूड़ी तथा पराठेमें लगाया है, उतना ही रोटियोंमें लगा दीजिये। ऐसा करनेपर भी जितने समयमें रोटी खराब हो जायगी, उतने समयमें पूड़ी तथा पराठे खराब नहीं होंगे। यदि आप पानी बिलकुल न डालकर केवल घृतमें आटा भूनकर लड्डू बनायें तो बरसातमें भी दो-तीन महीनेतक और जाड़ेमें चार-पाँच महीनेतक खराब नहीं होंगे। केवल घृतसे पक्वकी तरह केवल अग्निपक्व (भूने हुए) चने भी बहुत दिनतक खराब नहीं होते। इसीलिये शास्त्रकारोंने केवल घृतपक्व तथा केवल अग्निपक्व भोजनमें स्पर्श आदिका दोष नहीं माना।

रात्रिभोजन—सायंकालमें सन्ध्यावन्दन करके सन्ध्या समाप्त होनेपर ही भोजन करना चाहिये, सन्ध्याके समय नहीं; क्योंकि मनुजीने ऐसा ही कहा है—

चत्वारि खलु कार्याणि सन्ध्याकाले विवर्जयेत्।
आहारं मैथुनं निद्रां स्वाध्यायं च चतुर्थकम्॥

सन्ध्याकालमें भोजन, मैथुन, निद्रा तथा स्वाध्याय न करे।

नौकरोंसे हानियाँ

आधुनिक दूरदर्शितारहित आपातरमणीय प्रथाओंके कारण भोजन बनाने, बर्तन माँजने, कपड़े धोने, घर साफ रखने आदि कार्योंका अनावश्यक बहुत विस्तार हो गया है तथा अपने हाथसे काम न करना सुखी जीवनका लक्षण माना जाता है। इन सब कारणोंसे प्रथम श्रेणीके धन-सम्पन्न परिवारोंमें ही नहीं, बल्कि मध्यम श्रेणीके धनवानोंके घरोंमें भी नौकरके बिना काम नहीं चलता, इसलिये नौकर

और नौकरानियाँ रखते हैं। नौकर और नौकरानियोंसे कितनी हानियाँ हो रही हैं, प्रसंगतः यह बताना अनुचित न होगा।

शारीरिक हानि—जब घरके स्त्री-पुरुष घरके आवश्यक अल्प परिश्रमसे होनेवाले काम भी स्वयं नहीं करते, गद्दे-तकियोंमें पड़े-बैठे रहते हैं, तो शारीरिक श्रमके अभावमें शरीर सुकुमार हो जाता है तथा पाचनशक्ति विकृत हो जाती है, जिसके फलस्वरूप शरीर नाना रोगोंका घर बन जानेसे जीवन दुःखी हो जाता है। अतः अपने हाथोंसे काम न करना सुखी जीवनका नहीं, अपितु दुःखी जीवनका लक्षण है। गरीब घरोंके नौकर भूखे-रूखे तथा क्षुद्र प्रकृतिके होनेके कारण प्रायः घी, दूध, मलाई, बादाम आदिसे बने पौष्टिक मिष्टान्न पदार्थोंको अशुद्ध-जूठे हाथोंसे चुरा-चुराकर खाते हैं, जिससे जूठे दोषयुक्त पदार्थोंको खाकर भी धनिकोंका स्वास्थ्य खराब हो जाता है।

मानसिक हानि—नौकर-नौकरानीसे ही सब काम करानेवाले लोग नौकर-नौकरानीके सर्वथा पराधीन हो जानेके कारण स्वयं अपनी महान् मानसिक हानि कर लेते हैं; क्योंकि नौकर-नौकरानी जब यह देख लेते हैं कि हमारे बिना इनका एक दिन भी निर्वाह नहीं हो सकता तो काम-धन्धेमें मनमानी करने लगते हैं। कुछ भी कहनेपर अपमानतक कर देते हैं। नौकरी छोड़कर चले जानेकी धमकी देते हैं। तब मालिक-मालकिन यह सोचकर कि जबतक दूसरा नौकर न मिलेगा, कैसे काम चलेगा? घबड़ा जाते हैं। तब भीतरसे ही नहीं बाहरसे भी स्पष्ट पराधीनता प्रकट करते हुए आरजू-मिन्नतभरी बातें कहकर नौकरों तथा नौकरानियोंको मनाते हुए मालिक-मालकिन नहीं अपितु नौकर-नौकरानी बन जाते हैं।

आर्थिक हानि—जितनी तनख्वाह मिलती है, उतनेसे पूरे परिवारका पालन न हो सकनेके कारण तथा क्षुद्र स्वभावके कारण प्रायः नौकर चोरी करते हैं। आज अमुक बाबूकी टीशर्ट नहीं है, तो कल अमुक बाबूका पैंट नहीं है, परसों पूजाघरकी चाँदीकी कटोरी नहीं है—ऐसा तमाशा रोज ही होता रहता है। घी, चीनी आदिकी चोरीका तो पता भी नहीं चलता। इतना ही नहीं, जब कभी अधिक धनराशि हाथ लग जाती है तो उसे लेकर सदाके लिये भाग जाते हैं। इस प्रकार नौकर अर्थकी साक्षात् हानि पहुँचाते हैं। इतना ही नहीं, अपने हाथसे कुछ भी काम न करनेके कारण प्रायः बीमार रहनेवाले धनिकोंसे डॉक्टर भी खूब धन निकाल लेते हैं।

वंशशुद्धिकी हानि—यह वर्तमान युग सिनेमा, टेलीविजन, रेडियो, ट्रांजिस्टर, उपन्यास, अंग-प्रदर्शक पोशाक आदि अनंग (काम)-वर्धक साधनोंके प्रचार-प्रसारका युग है। साधकोंके मनको भी क्षुभित कर देनेवाली १६-२०-२५ वर्षकी अवस्थातक अविवाहित रहनेवाली लड़कियाँ तथा लड़के पूर्वोक्त साधनोंके सहयोगसे अति कामोत्तेजित बने रहते हैं। अविवाहित युवक-युवतियाँ ही नहीं, विवाहित स्त्री-पुरुषोंके भी भ्रष्ट हो जानेकी बहुत अधिक सम्भावना रहती है; इस प्रकार वंशशुद्धिकी हानि हो जाती है।

इन दुर्घटनाओंके घटनेमें युवकों और युवतियोंको मुख्य दोषी नहीं ठहराया जा सकता, मुख्य दोषी तो उनके अभिभावक माता-पिता ही होते हैं; क्योंकि उन्होंने शारीरिक, मानसिक और प्राकृतिक विज्ञानके आधारपर ऋषियोंने जो मर्यादाएँ बनायी थीं, उनकी अवहेलना करके तथा अपने अनुभवकी भी अवहेलना करके बीस-

पचीस वर्षतक उन्हें अविवाहित रखा।

मेरे विचारसे तो माता-पिताके अतिरिक्त समाजके कर्णधारों तथा सरकारको भी दोषी ठहराना चाहिये; क्योंकि इन लोगोंने ही सहशिक्षा, सिनेमा, टेलीविजन, रेडियो, ट्रांजिस्टर तथा अंग-प्रदर्शक पोशाक आदि अनंगवर्धक साधनोंका प्रसार-प्रचारकर तथा बीस वर्षसे पहले शादी न करनेका कानून बना करके युवक-युवतियोंको भ्रष्ट होनेके लिये बाध्य किया है और गर्भपात-जैसे महापापका भी विधान बनाकर युवतियोंके स्वास्थ्य-नाशका तथा नरकका द्वार खोला है।

अतः मेरा करबद्ध सविनय निवेदन है कि वंशशुद्धिकी इच्छावाले बुद्धिमान् मनुष्योंको मेरी इन बातोंपर गम्भीरतासे विचार करना चाहिये और शास्त्रीय या धर्ममर्यादानुसार ही व्यवहार करना चाहिये। प्रथम श्रेणीके जिन धनवानोंका नौकरोंके बिना काम नहीं चलता, उन्हें भी वंशशुद्धिकी रक्षापर खूब विचारकर ही नौकर-नौकरानी रखना चाहिये। बाहर-बाहरका काम ही अधिक लेना चाहिये, चौबीसों घंटे घरमें घुसाकर नहीं रखना चाहिये।

रात्रिचर्या-विज्ञान

सोनेसे पूर्व—मनुष्य सोकर उठनेपर शान्त अन्त:करणसे जिसका चिन्तन करता है, उसका प्रभाव गहरा पड़ता है। इसी प्रकार सोनेसे पूर्व जिसका चिन्तन करता हुआ सोता है, उसका भी गहरा प्रभाव पड़ता है। इसका कारण यह है कि उस विषयकी आवृत्ति अनेक बार निद्रा आनेतक हो जाती है, जिसका गुप्तरूपसे प्रवाह निद्रामें भी चलता रहता है, इसका अनुमान लघुशंका (पेशाब) आदिके लिये बीचमें निद्रा टूटनेपर उस विषयके चलते हुए प्रवाहसे लगाया जा सकता है। अत: सोनेसे पूर्व पुराणोंकी सात्त्विक कथा या भक्तगाथा श्रवण करके सोनेका विधान किया गया है। भविष्यपुराणमें कहा गया है—

मुच्यते सर्वपापेभ्यो ब्रह्महत्यादिभिर्विभो।
पुराणं सात्त्विकं रात्रौ शुचिर्भूत्वा शृणोति यः॥

जो हाथ-पैर धोकर पवित्र हुआ मनुष्य सात्त्विक पुराणोंकी कथा सुनता है, वह ब्रह्महत्या आदि सभी पापोंसे मुक्त हो जाता है।

कुछ लोगोंकी धारणा है कि पुराणोंकी कथाएँ सत्य नहीं, अत: उनके श्रवणसे कोई लाभ नहीं हो सकता। यद्यपि पुराणोंकी कथाएँ सत्य ही हैं फिर भी यदि थोड़ी देरके लिये उन्हें सत्य न मानें तो भी उनके सुननेसे लाभ अवश्य होगा; क्योंकि सभी जानते हैं कि उपन्यास एवं सिनेमाकी कहानियाँ सर्वथा असत्य होती हैं, तो भी उनका इतना अधिक प्रभाव हो रहा है कि सारे समाजका उत्थान और पतन उसके द्वारा हो रहा है। इसके अतिरिक्त दिनभर जो काम किये हैं, उनका चिन्तन करके देखें कि कोई गलत कार्य तो नहीं किया। यदि कोई गलत कार्य हो गया हो तो उसके लिये पश्चात्तापपूर्वक भगवान्‌से क्षमा-याचना करे और 'आगे फिर ऐसी

गलती नहीं करूँगा'—ऐसी प्रतिज्ञा करता हुआ शयन करे, इससे जीवनको निर्दोष बनानेमें बहुत सहायता मिलती है।

शयन-विधि—विष्णुपुराण (३।११।१११—११३)-में कहा गया है—

कृतपादादिशौचस्तु भुक्त्वा सायं ततो गृही।
गच्छेच्छय्यामस्फुटितामपि दारुमयीं नृप॥
नाविशालां न वै भग्नां नासमां मलिनां न च।
न च जन्तुमयीं शय्यामधितिष्ठेदनास्तृताम्॥
प्राच्यां दिशि शिरश्शस्तं याम्यायामथ वा नृप।
सदैव स्वपतः पुंसो विपरीतं तु रोगदम्॥

हाथ-पैर धोकर पवित्र हुआ मनुष्य सायंकालीन भोजन करके काष्ठनिर्मित शय्या जो टूटी न हो, बहुत बड़ी न हो, संकुचित न हो, ऊँची-नीची न हो, मैली न हो, जन्तुयुक्त न हो एवं जिसपर कुछ दरी आदि बिछौना बिछाया हो, उसपर शयन करे। पूर्व या दक्षिणको सिर करके सोना अच्छा है, इसके विपरीत दक्षिणको पैर करके सोना रोग पैदा करनेवाला है।

दक्षिणको पैर करके सोनेपर सिर उत्तर दिशाको हो जाता है। उत्तर दिशामें ही ध्रुवतारा है, इस ध्रुवताराकी महान् आकर्षण-शक्तिसे आकृष्ट होकर सम्पूर्ण सौरमण्डल तारागणके सहित उसके चारों ओर चक्कर लगाता है। यही कारण है कि किसी भी यन्त्रमें चुम्बककी सुई सदा उत्तरमें ही रहती है। यदि दक्षिणको पैर और उत्तरको सिर करके सोया जायगा तो ध्रुवकी आकर्षण-शक्तिसे आकृष्ट होकर मल-मूत्र आदि अधोगामी पदार्थोंकी अधोगतिमें बाधा होगी, जिससे रोगका होना अनिवार्य है। इसलिये दक्षिणको पैर करके सोनेका निषेध किया है। सिरहाना (तकिया) भी इसी उद्देश्यकी पूर्तिके लिये

लगाया जाता है कि मलादिकी गति ऊपरको न हो। चारपाईके सिरहानेके दो पायोंको भी इसीलिये कुछ ऊँचा रखा जाता है। शयनविधिके और सब हानि-लाभ तो स्पष्ट ही हैं।

स्त्रीगमन—स्त्री-सहवासके दो उद्देश्य हैं—(१) पुत्रोत्पादनद्वारा वंशकी रक्षा तथा पितृऋणसे उऋण (मुक्त) होना। (२) शरीरको हानि न पहुँचाते हुए सुख-भोग करना। इनमेंसे पहला उद्देश्य ही मुख्य है। शास्त्र-मर्यादानुसार सन्तान-उत्पादक कामको भगवान्‌ने अपनी विभूतियोंमें गिना है—

'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।'

(गीता ७। ११)

'प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः।' (गीता १०। २८)

ऋतुकालाभिगामी स्यात् स्वदारनिरतः सदा।
पर्ववर्जं व्रजेच्चैनां तद्व्रतो रतिकाम्यया॥

(मनु० ३। ४५)

ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रयः षोडश स्मृताः।
चतुर्भिरितरैः सार्धमहोभिः सद्विगर्हितैः॥

(मनु० ३। ४६)

(अमावस्या, पूर्णिमा, चतुर्दशी और अष्टमी)—इन चार पर्वकालोंको छोड़कर (पुत्रार्थी) ऋतुकालमें स्वस्त्रीके पास जाय। (स्त्रीकी प्रसन्नताका) व्रत लेनेवाला (ऋतुकालके अतिरिक्तकालमें भी) रतिकामनासे जाय।

स्त्रियोंका स्वाभाविक ऋतुकाल (रजोदर्शनके दिनसे) १६ रात्रिका होता है, इनमेंसे ११वीं और १३वीं रात्रियोंके सहित प्रथमकी चार रात्रियाँ निन्दित हैं।

रजस्वला अपवित्र—स्त्री-शरीरमें एक मासतक आर्तव अर्थात्

एक प्रकारका दूषित रक्त एकत्रित होता रहता है, वह कुछ काला तथा दुर्गन्धयुक्त होता है। उसीको वायु योनिद्वारसे निकालता है, यह बात सुश्रुतसंहितामें कही गयी है—

मासेनोपचितं काले धमनीभ्यां तदार्तवम्।
ईषत्कृष्णं विगन्धं च वायुर्योनिमुखं नयेत्॥

यह रक्त दुर्गन्धयुक्त ही नहीं अपितु विषैला भी होता है, यह बात आज अनेक परीक्षणोंके द्वारा वैज्ञानिक भी स्वीकार करते हैं। सन् १९२०ई०में डॉक्टर सेरिकने अनुभव किया कि कुछ फूल रजस्वलाके हाथोंमें देनेसे मुरझा जाते हैं। सन् १९२३ई०में डॉ० मिकवर्गने अनुभव किया कि रजस्वलाके हाथमें मेढकको कुछ देर रखनेपर उसके हृदयकी गति मन्द हो जाती है। वैज्ञानिकोंके अतिरिक्त साधारण मनुष्य भी इस प्रयोगको करके देख सकते हैं। रजस्वलाके हाथसे डाला गया अचार बिगड़ जाता है। लौकीके कोमल ४-६ दिनके फलको रजस्वला कुछ समय हाथसे पकड़े रहे तो फल मर जाता है एवं रजस्वलाद्वारा अनेक बार स्पर्श की हुई तुलसी धीरे-धीरे सूख जाती है। इन प्रयोगोंसे स्पष्ट हो जाता है कि रजस्वला स्त्रीके सारे शरीरसे विषाक्त परमाणु निकलते रहते हैं। इसी शरीर-विज्ञानके आधारपर धर्मशास्त्रोंमें रजस्वला स्त्रीके हाथका भोजन करना तथा जल पीना ही मना नहीं किया अपितु स्पर्श करना भी मना किया गया है। यही कारण है कि आयुर्वेद तथा धर्मशास्त्र दोनोंमें ही चार दिन रजस्वला स्त्रीके साथ सम्भोग करना मना किया है तथा उसे प्रज्ञा, तेज, यश, नेत्र तथा आयुका नाशक कहा है—

रजसाभिप्लुतां नारीं नरस्य ह्युपगच्छतः।
प्रज्ञा तेजो बलं चक्षुरायुश्चैव प्रहीयते॥

(मनु० ४।४१)

अष्टमी आदिमें निषेध—रक्त जलीय पदार्थ है, यह तो अति स्पष्ट ही है। प्राण भी जलमय हैं; क्योंकि श्रुतिमें कहा है कि **'आपोमयः प्राणः'** यही कारण है कि केवल जल पीकर मनुष्य बहुत दिन जीवित रह जाता है। यही प्रयोग करानेके बाद छान्दोग्य-उपनिषद् (६।५।२)-में कहा है—

आपः पीतास्त्रेधा विधीयन्ते तासां यः स्थविष्ठो धातुस्तन्मूत्रं भवति यो मध्यस्तल्लोहितं योऽणिष्ठः स प्राणः॥

पीया हुआ पानी तीन प्रकारका हो जाता है। जलका स्थूल भाग मूत्र, मध्यम भाग रक्त और सूक्ष्म भाग प्राण बन जाता है। जलसे बने रक्त तथा प्राणकी गतिपर चन्द्रमाकी गतिका प्रभाव बहुत अधिक पड़ता है; क्योंकि सभी जल तथा जलीय पदार्थोंमें चन्द्रमाका प्रभाव अधिक पड़ता है। इसका प्रत्यक्ष समुद्र-तटपर जाकर कोई भी कर सकता है। उसे देखनेको मिलेगा कि चतुर्दशी तथा पूर्णिमाको समुद्रमें ऊँची-ऊँची लहरें उठ रही हैं और अष्टमीको समुद्र नीचे उतर रहा है, जिसका सीधा अर्थ यह होता है कि इन तिथियोंमें समुद्रका जल अपनी स्वाभाविक स्थितिमें नहीं होता। पिण्ड-ब्रह्माण्ड-विज्ञानके अनुसार अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा और अमावस्या—इन चार तिथियोंको हमारे शरीरके जलीय रक्त तथा प्राणकी गति भी स्वाभाविक स्थितिमें नहीं होती। ऐसी दशामें इन तिथियोंमें स्त्रीसहवास करनेसे प्राण तथा रक्त—इन दोनोंकी गतिमें और अधिक अस्वाभाविकता आ जानेसे विविध रोगोंकी उत्पत्ति हो जानेकी अति सम्भावना है। यही कारण है कि इन तिथियोंमें इसका निषेध शास्त्रोंमें किया गया है। इसके विपरीत पूर्णिमा आदि तिथियोंमें मनको स्वाभाविक अवस्थामें लानेके लिये ही सात्त्विक भजन, ध्यान, दान, व्रत, उपवास आदि साधनोंका विधान किया गया है।

प्रथम खण्डका उपसंहार

सन्देहका अवसर नहीं—जिन पदार्थोंका प्रभाव अति तीव्र होनेके कारण तत्काल अर्थात् दो-चार मिनट या दो-चार घंटेमें ही प्रत्यक्ष फल दिखानेवाला होता है, कहीं उनका फल दो-चार वर्ष या जीवनभर न दिखनेमें आनेपर भी उनके कार्य-कारणभावमें सन्देह नहीं किया जाता, केवल किसी प्रबल प्रतिबन्धक कारणकी ही कल्पना या खोज की जाती है। जैसे संखिया या अफीम आदि तीव्र विष अमुक मात्रामें एक बार खानेपर भी दो-चार मिनट या दो-चार घंटेमें ही मनुष्य मर जाता है, परंतु जिन्होंने शनैः-शनैः खानेका अभ्यास बढ़ा लिया है, वे लोग चार-छः गुनी मात्रामें प्रतिदिन अनेक बार खाकर दो-चार वर्ष ही नहीं जीवनभर स्वस्थ रहते हैं, कोई भी हानि नहीं होती। इतना ही नहीं, यदि उन्हें वे विष खानेको न दिये जायँ तो वे अस्वस्थ हो जाते हैं तथा पुनः खानेको दिये जानेपर ही स्वस्थ होते हैं। ऐसा होनेपर भी वे विष तत्काल फल देनेवाले नहीं होते या प्राणघातक नहीं होते—ऐसा कोई नहीं मानता तथा वे स्वास्थ्य-प्रदायक होते हैं, ऐसा भी कोई नहीं मानता; अपितु उन विषोंका फल अन्यत्र सभी मनुष्योंमें प्राणघातक एवं स्वास्थ्यनाशक प्रत्यक्ष दिखनेके कारण उन्हें हानिकर ही माना जाता है, अतः उनसे बचकर रहनेका ही विधान किया जाता है। जिनमें उनका हानिकारक फल देखनेमें नहीं आता, उनमें उन मनुष्योंका शनैः-शनैः पचा जानेका अभ्यास ही प्रतिबन्धक माना जाता है।

वैसे ही मद्य (शराब), मांस, अण्डा आदि राजस-तामस पदार्थोंका प्रतिदिन अधिक मात्रामें वर्षों या जीवनभर सेवन करनेपर भी कोई हानि या राजस-तामस-वृत्तियोंका उदय देखनेमें नहीं आता,

अतः 'मद्य आदि पदार्थ हानिकर नहीं या राजस-तामस-वृत्तियोंको पैदा करनेवाले नहीं' यह नहीं माना जा सकता; क्योंकि जिन्हें मद्य आदि सेवनका अभ्यास नहीं—ऐसे सभी मनुष्योंको वे हानि पहुँचाते हैं, उनमें राजस-तामस-वृत्तियोंका उदय करते हैं, ऐसा प्रत्यक्ष देखनेमें आता है। अतः जहाँ उनका फल देखनेमें नहीं आता, वहाँ भी उनकी कारणतामें सन्देह न करके प्रतिदिन शनैः-शनैः खाकर पचा जानेके अभ्यासको या प्रबल सात्त्विक स्वभावको ही प्रतिबन्धक माना जाता है और उन मद्य आदि पदार्थोंका सेवन न करनेके विधानको ही उचित माना जाता है।

यदि कहा जाय कि जहाँ नब्बे-पंचानबे प्रतिशत फल प्रत्यक्ष हो और पाँच-दस प्रतिशत फल प्रत्यक्ष न हो, वहीं प्रतिबन्धककी कल्पना या खोज करना उचित हो सकता है, इसके विपरीत होनेपर नहीं, तो यह कथन ठीक नहीं; क्योंकि जिनका कार्य-कारणभाव अनुभवसे और वैज्ञानिक प्रयोगों या विचारसे निश्चित हो जाता है; उनका नब्बे प्रतिशत स्थलोंमें फल न देखकर भी प्रतिबन्धककी ही कल्पना या खोज की जाती है। यही कारण है कि आधुनिक विज्ञानसिद्ध स्वास्थ्यके नियमोंका नब्बे प्रतिशत परिश्रमी गरीब ग्रामीण जनता पालन न करके स्वस्थ रहती है, इसके विपरीत परिश्रम न करनेवाले धनी लोग उन नियमोंका पालन करके भी नब्बे प्रतिशत अस्वस्थ रहते हैं। ऐसा होनेपर भी विज्ञानसिद्ध स्वास्थ्यके नियमोंमें सन्देह न करके गरीबके परिश्रमको और धनीके परिश्रम न करनेको ही प्रतिबन्धक माना जाता है। अतः ग्रन्थमें प्रदर्शित रीतिसे विविध विज्ञानोंके आधारपर निर्मित तत्काल फल देनेवाले विधि-निषेधोंका नब्बे प्रतिशत फल न देखनेमें आनेपर भी उनके कार्य-कारणभावमें सन्देह न करके प्रबल प्रतिबन्धककी खोज या कल्पना

ही करनी चाहिये, उन्हें कपोलकल्पित या अन्धविश्वासपर आधारित नहीं मानना चाहिये। अन्यथा उक्त रीतिसे नब्बे प्रतिशत फल देखनेमें न आनेके कारण आधुनिक विज्ञानको और उस विज्ञानसे सिद्ध नियमोंको भी कपोलकल्पित या अन्धविश्वासपर आधारित मानना होगा।

पूर्वकथित रीतिसे जबकि अति तीव्र—तत्काल दो-चार मिनटमें ही फल प्रदर्शित करनेवाले संखिया आदि पदार्थोंका और तीव्र—कुछ काल चार-छः घंटेमें फल देनेवाले मद्य आदि पदार्थोंका दस-बीस वर्ष या जीवनभर फल प्रत्यक्ष न होनेपर भी उनके कार्य-कारणभावपर सन्देह नहीं किया जा सकता, तब मन्द या अति मन्द गतिसे दस-बीस-पचास वर्षोंमें ही फल देनेवाले पदार्थोंका फल तत्काल देखनेमें न आये तो उनके कार्य-कारणभावमें सन्देह करना किसी प्रकार भी उचित नहीं हो सकता। जैसे 'तम्बाकूसे कैंसर-जैसे भयानक रोग होते हैं' यह बात आजके प्रमाणतम माने जानेवाले विकसित विज्ञानसे सिद्ध है। परंतु मन्दगतिसे फल प्रदर्शित करनेवाला होनेके कारण तम्बाकू खाने-पीनेवालोंको दो-चार मिनट या दो-चार घंटे या दो-चार महीने ही नहीं दो-चार वर्षोंतक भी कोई हानि नहीं होती, किसी-किसीको जीवनभर हानि नहीं होती। इतना ही नहीं, किसी-किसीको तम्बाकूके सेवनसे अमुक-अमुक रोगोंकी निवृत्ति होकर स्वास्थ्यका अच्छा लाभ हो जाता है तो भी 'तम्बाकू हानिकर नहीं, स्वास्थ्यप्रद है' ऐसा नहीं माना जाता।

वैसे ही मन्दगतिसे लाभ या हानि पहुँचानेवाले प्रातःकाल ब्रह्मवेलामें सोकर उठने, न उठने आदि नियमोंसे तत्काल हानि-लाभ न देखकर शास्त्रके विधि-निषेधोंपर सन्देह करना भी उचित नहीं। संसारी लोगोंकी तो बात ही क्या, तमोगुणप्रधान वर्तमान कलियुगके

पंचानबे प्रतिशत सच्चे साधक भी अपने अनुभवके आधारपर यह कह सकते हैं कि 'ब्राह्ममुहूर्तमें चित्त शान्त होता है, अतः ध्यान लग जाता है' यह शास्त्रकी बात हमारे अनुभवमें नहीं आती। ऐसा होनेपर भी शास्त्रकी वह बात गलत नहीं है; क्योंकि साधकोंकी तो बात ही क्या, घोर संसारी लोगोंके चित्त भी प्रातःकाल अपेक्षाकृत शान्त होते ही हैं। यही कारण है कि संसारी लोग भी प्रातःकालमें जिस ग्रन्थको पढ़ने या याद करनेके लिये बैठते हैं, उसे अन्य समयकी अपेक्षा शीघ्र याद कर लेते हैं। ध्यान लग जानेयोग्य चित्तकी शान्तिका अनुभव न होनेमें राजस-तामस खान-पान, रहन-सहन, पठन-पाठन, संग-वातावरण, तमोगुण-प्रधान वर्तमान कलियुग आदि ही कारण हैं। अतः मन्द गतिसे लाभ-हानि देनेवाले शास्त्रीय विधि-निषेधोंमें सन्देह करना भी उचित नहीं हो सकता।

ऐसी दशामें अति मन्द गतिसे हानि पहुँचानेवाले लोहेके पात्र (स्टीलके बर्तन)-में भोजन करना, दक्षिणकी ओर पैर करके सोना आदि निषेधोंमें तथा काँसा, चाँदी, सोना आदिके पात्रोंमें भोजन करना, प्राणायामसे आयुवृद्धि होना आदि विधियोंमें सन्देह करना तो किसी प्रकार भी उचित नहीं हो सकता; क्योंकि इनसे होनेवाले लाभ-हानि बहुत कालके बाद ही प्रत्यक्ष करनेयोग्य होते हैं।

कहनेका तात्पर्य केवल इतना ही है कि जिनके कार्य-कारणभाव प्रत्यक्ष अनुभव, निर्दोष अनुमान, आप्तवचन आदि साधनोंद्वारा तथा वर्तमानमें प्रमाणतमरूपसे माने जानेवाले उन्नतिके शिखरपर पहुँचे, परम विकसित कहे जानेवाले वैज्ञानिक सिद्धान्तोंसे भी सुनिश्चित हैं—ऐसे शास्त्रीय विधि-निषेधोंका एक प्रतिशत नहीं, नब्बे प्रतिशत फल न दिखनेपर भी उनमें सन्देह नहीं करना चाहिये, केवल प्रतिबन्धकोंकी खोज करके उनका यथासामर्थ्य निराकरण ही

करना चाहिये।

वैदिक दिनचर्या ही पूर्ण है, आधुनिक नहीं

सर्वज्ञ ऋषियोंने लौकिक और अलौकिक विविध विज्ञानोंके आधारपर विधि-निषेध बनाये हैं, उनमेंसे अलौकिक विविध विज्ञानोंपर तो आजके लौकिक भौतिक विज्ञानके अनुसार कुछ भी विवेचन किया ही नहीं जा सकता। इतना ही नहीं, किंतु लौकिक विविध विज्ञानोंके आधारपर बनाये नियमोंका भी पूरा विवेचन आजके भौतिक विज्ञानके आधारपर नहीं किया जा सकता। इसका एकमात्र कारण यह है कि विविध लौकिक विज्ञानोंमेंसे भी मन्त्र-तन्त्र-विज्ञान, सादि-अनादि-विज्ञान, सान्त-अनन्त-विज्ञान आदि ऐसे अनेक विज्ञान हैं, जिनपर आजके भौतिक विज्ञानने अभीतक कुछ भी अनुसन्धान ही नहीं किया है। जिनपर अनुसन्धान किया है, वे अनुसन्धान यद्यपि जनसाधारणको अति आश्चर्यचकित कर देनेवाले हैं तथापि भौतिक विज्ञानके निष्पक्ष मर्मज्ञ विशेषज्ञ अनुसन्धाता इस बातको हृदयसे स्वीकार करते हैं कि अभी इन विषयोंपर भी बहुत कुछ खोज करना बाकी है। उदाहरणके लिये सूर्य-चन्द्रकी गतिका जानना, पृथ्वीपर उनके स्थूल प्रभावका समझना, चन्द्रमण्डलपर उतरना आदि ऐसे अनुसन्धानपूर्ण कार्य हैं कि एक बार जनसाधारणको ही नहीं अपितु सामान्य शास्त्रज्ञाताको भी आश्चर्यचकित कर देते हैं। तो भी सूर्य-चन्द्रकी अपेक्षा दूरस्थित सूक्ष्म बुध, शुक्र आदि तारागणोंका पृथ्वी तथा मानव-पिण्डपर क्या सूक्ष्म प्रभाव पड़ता है—इस विषयमें अभीतक कोई सम्यक् अनुसन्धान नहीं हुआ। ऐसी दशामें अति दूर तथा अति सूक्ष्म प्रभाव डालनेवाले ध्रुव आदि अनन्तानन्त तारागणोंके बारेमें तो कुछ कहना ही सम्भव नहीं।

जिन शरीर-विज्ञान, विद्युत्-विज्ञान, रसायन-विज्ञान आदिपर

पूरा तो नहीं किंतु पर्याप्त अनुसन्धान हो गया है, ऐसा माना जाता है, वे भी परस्पर टकराकर क्या पिण्ड तथा ब्रह्माण्डमें हानि-लाभ पैदा कर देंगे, इसका सम्यक् ज्ञान न होनेके कारण उनसे लाभ थोड़ा और हानि अधिक हो रही है। उदाहरणके लिये शरीरको नीरोग रखनेके लिये जिन डॉक्टरी औषधियोंका प्रयोग किया जाता है, वे औषधियाँ जिस विकारको दूर करनेके लिये दी गयी हैं, उनको दूर करके अन्य विकारोंको तो उत्पन्न नहीं कर देंगी—इस बातका पूरा अनुसन्धान न कर सकनेके कारण ही एक रोगका विनाश होता है तो अनेक रोगोंका विकास हो रहा है। यह बात अनेक डॉक्टरोंके मुखसे मैंने सुनी है। दूसरा उदाहरण देखिये—फसलकी रक्षा करनेके लिये जिन विषैले कीटनाशक केमिकलोंका प्रयोग किया जाता है, उनसे एक तरफ फसलकी रक्षा होती है तो दूसरी तरफ अन्न, साग आदि खाद्य पदार्थोंमें तथा वायु एवं जलमें विषका मिश्रण हो जाता है, जिनके सेवनसे तन और मनमें विविध विकार उत्पन्न हो रहे हैं। यही कारण है कि अमेरिका आदि देशोंमें कीटनाशक प्रयोगमें शनैः-शनैः प्रतिबन्ध लगाया जा रहा है।

भौतिक विज्ञान चाहे जितना और अधिक विकसित हो जाय, वह इन समस्याओंको पूरी तरह कभी भी सुलझा न सकेगा। इसका एकमात्र कारण यह है कि अलौकिक विविध विज्ञानोंके साथ कहाँ-क्या टकराव होकर क्या हानि-लाभ होगा? इसे तो वह कभी समझ ही नहीं सकेगा, इतना ही नहीं, किंतु लौकिक विविध विज्ञानोंमें और उनके सूक्ष्म-अतिसूक्ष्म स्तरोंमें कहाँ-क्या टकराव होकर पिण्ड और ब्रह्माण्डमें क्या-क्या हानि-लाभ उत्पन्न होते हैं, इसे भी असर्वज्ञ वैज्ञानिक कभी भी समझनेमें समर्थ न हो सकेगा। इनका सम्यक् ज्ञान तो सर्वज्ञ त्रिकालज्ञ ऋषियोंको ही हो सकता है। ऐसी दशामें यह

बात स्वयं ही स्पष्ट हो जाती है कि लौकिक और अलौकिक विविध विज्ञानोंका, उनके सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्तरोंका एवं उनके परस्पर टकरानेसे उत्पन्न होनेवाले हानि-लाभोंका सम्यक् ज्ञान रखनेवाले सर्वज्ञ त्रिकालज्ञ सर्वहितैषी ऋषियोंके बनाये विधि-निषेधोंका सम्यक् श्रद्धापूर्वक पालन करनेपर ही मानवका लोक और परलोकमें सर्वदा सार्वकालिक हित होगा। इसके विपरीत जो पारलौकिक विविध विज्ञानोंसे सर्वथा अनभिज्ञ हैं तथा लौकिक विविध विज्ञानोंमेंसे भी अनेक विज्ञानोंसे अनभिज्ञ हैं एवं अभिज्ञात विज्ञानोंके भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्तरोंसे और उनके परस्पर टकरावसे उत्पन्न हानि-लाभोंसे भी अनभिज्ञ हैं, ऐसे असर्वज्ञ वर्तमानकालमात्रके ज्ञाता हिताहितकी परिभाषासे भी सम्यक् अपरिचित भौतिक विज्ञानके विशेषज्ञोंके बनाये विधि-निषेधोंसे पारलौकिक हितकी तो बात ही क्या; लौकिक हित भी नहीं होगा। इसमें परम प्रमाण भौतिक विज्ञानके विकासके साथ-साथ दूने-चौगुने वेगसे विकासको प्राप्त होती हुई शारीरिक बीमारियाँ, मानसिक अशान्तियाँ, कलह, हिंसा, व्यभिचार, भ्रष्टाचार और आत्महत्याओंकी घटनाएँ हैं। यदि मानवने इन प्रमाणोंसे शिक्षा लेकर इनसे विमुख होकर वैदिक दिनचर्याको न अपनाया तो परिणाममें कल्याणकी आशा नहीं की जा सकती।

जब मैं व्याख्यान देता था तब एक बार मेरे इस प्रकारके विवेचनोंको सुनकर कुछ व्यक्तियोंने कहा—महाराज, आप तो वर्तमान युगको हजारों, लाखों वर्ष पीछे घसीट ले जाना चाहते हैं; भला, यह कैसे सम्भव है? मैंने कहा यदि यह असम्भव है तो हजारों, लाखों वर्ष पूर्वकी परम सुख-शान्तिको वर्तमानमें घसीटकर ले आना भी असम्भव है। अतः यदि आपलोग परम सुख-शान्तिके इच्छुक हैं तो एकसाथ पीछे हटना असम्भव होनेपर भी आपको शनैः-शनैः

क्रमशः पीछे हटनेका प्रयास करना ही पड़ेगा।

लौकिक तथा अलौकिक विविध विज्ञानोंके आधारपर बनाये सर्वज्ञ त्रिकालज्ञ ऋषियोंके विधि-निषेधोंका सम्पूर्ण विवेचन, मेरी तो बात ही क्या; कोई भी अल्पज्ञ मानव नहीं कर सकता; क्योंकि एक-एक विषयपर ही अनेक-अनेक मन्त्रोंमें विधि-निषेधका प्रतिपादन ऋषियोंने किया है। उनमेंसे एक-एक, दो-दो श्लोकोंका उद्धरण देकर उनका कुछ वैज्ञानिक विवेचन किया गया है। इसका एकमात्र उद्देश्य इतना ही है कि आजकलके विज्ञानसे प्रभावित पुरुषों और स्त्रियोंका विशेष करके युवकों और युवतियोंका कहना है कि हम अन्धविश्वासी नहीं जो बिना विचारे आपके कहनेमात्रसे आपकी बात मान लें। ऐसे लोगोंको ही यह दिखानेके लिये कि देख लीजिये—ऋषियोंके विधि-निषेध अन्धविश्वासपर नहीं अपितु उन लौकिक तथा अलौकिक विविध विज्ञानोंके ठोस आधारपर आधारित हैं, जिनको आपका भौतिक विज्ञान आज नहीं अपितु कभी भी जान न सकेगा।

विश्वास करना बुरा नहीं

वस्तुतः अपनेको विश्वासी न माननेवाले तथा विचारकपनेका अभिमान धारण करनेवाले ये लोग ९५ प्रतिशत नियमोंका पालन विचारपूर्वक नहीं, अपितु केवल विश्वासके आधारपर ही करते हैं। उदाहरणके लिये एक डॉक्टर उन्हें अमुक रोगमें अमुक एक दवा और अमुक एक साग खानेके लिये बतलाकर अन्य सभी दवाओं और सागोंको खानेका निषेध कर देता है। हम पूछते हैं कि क्या उन्होंने कभी इसपर विचार किया है कि अमुक दवा और अमुक साग मेरे इस रोगमें कैसे लाभ करता है तथा उसके अतिरिक्त अन्य हजारों दवाओं और पचासों सागोंका प्रयोग करके आपने उनके हानिकारक होनेका अनुभव किया है? इसपर उत्तर दिया जाता है

कि हमने तो विचार या अनुभव नहीं किया, किंतु हमारे वैज्ञानिकोंने तो किया ही है। इसपर मेरा निवेदन है कि यह उत्तर तो हम भी दे ही सकते हैं कि हमने तो विचार या अनुभव नहीं किया, किंतु हमारे सर्वज्ञ ऋषियोंने तो किया ही है। लौकिक तथा अलौकिक विविध विज्ञानोंके मर्मज्ञ सर्वज्ञ ऋषियोंके अनुभवोंपर आधारित विधि-निषेधोंका विश्वासपूर्वक पालन करनेवाले हम धार्मिक लोग अन्धविश्वासी हैं और पूर्वोक्त रीतिसे प्रदर्शित अधूरे-अधकचरे विज्ञानपर आधारित नियमोंका विश्वासपूर्वक पालन करनेवाले आपलोग विचारक हैं, यह कहना कहाँतक शोभायुक्त है, आप ही विचारकर देख लीजिये।

विश्वास अति आवश्यक

वास्तविक बात तो यह है कि लोकव्यवहारके छोटे-से-छोटे कार्यको करनेके लिये एक नहीं; अनेक लौकिक विज्ञानोंकी आवश्यकता होती है। उन्हें अल्पज्ञ तथा अल्प सामर्थ्यवाला एक मनुष्य कभी भी जान ही नहीं सकता। ऐसी दशामें उसे दूसरेके अनुभवपर विश्वास करना ही पड़ेगा। यही कारण है कि जनसाधारणका ही नहीं, एक विषयके विश्वमान्य विशेषज्ञका भी जीवन-व्यवहार पंचानबे प्रतिशत दूसरेके ज्ञानपर विश्वास करनेपर ही चल पाता है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि विश्वास करना बुरी बात नहीं, अपितु सुखी जीवन बितानेके लिये विश्वास करना अति आवश्यक भी है।

अन्तमें फिरसे करबद्ध प्रार्थना करता हूँ कि आस्तिक लोगोंको तो वैदिक धर्मशास्त्रोंके विधि-निषेधोंका पालन ईश्वरकी आज्ञा मानकर ही श्रद्धापूर्वक करना चाहिये, इससे लौकिक तथा अलौकिक—उभय फल प्राप्त होंगे। इस ग्रन्थमें किये गये वैज्ञानिक विवेचनके

आधारपर विधि-निषेधोंका पालन करनेपर तो केवल लौकिक फल ही प्राप्त होता है। यह जानते हुए भी वर्तमान भौतिक विज्ञानके चमत्कारोंसे चमत्कृत, अतएव वैदिक धर्मशास्त्रोंके विधि-निषेध ज्ञानसे विचलित जनता-जनार्दनके लिये ही लिखित इस ग्रन्थको उन्हीं जनता-जनार्दनके हाथोंमें समर्पित करता हूँ।

त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये।
गृहाण सम्मुखो भूत्वा प्रसीद पुरुषोत्तम॥

हरिः ॐ तत् सत्

द्वितीय खण्ड

वैदिक-जीवनचर्या-विज्ञान

मङ्गलाचरण

अखण्डानन्दबोधाय शिष्यसन्तापहारिणे।
सच्चिदानन्दरूपाय रामाय गुरवे नमः॥

उपक्रम—गर्भाधानसे लेकर शरीर-दाहपर्यन्त होनेवाले वैदिक संस्कारोंका वैज्ञानिक विवेचन करके यहाँ यह दिखाना है कि वैदिक शास्त्रोंके निर्माता ऋषियोंने लाखों वर्षमें भी जिनका अनुभव भौतिक विज्ञानद्वारा नहीं प्राप्त किया जा सकता, ऐसे लौकिक तथा अलौकिक विविध विज्ञानोंका अपनी ऋतम्भरा प्रज्ञासे साक्षात् अनुभव करके अनादि, अपौरुषेय, वैदिक धर्माधर्मके अनुकूल लोक और परलोकको सफल बनानेवाले विविध संस्कारोंसे संस्कृत जीवनचर्याका विधान किया है, उसमें अन्धविश्वासका लेश भी नहीं है। अतः उसके अनुसार ही जीवनचर्या बनाकर हम लोक तथा परलोकमें सुखी हो सकते हैं, अन्य प्रकारसे नहीं।

संस्कारोंकी अनिवार्यता—प्रकृतिसे उत्पन्न पदार्थोंको प्राकृत पदार्थ कहते हैं, वे अनेक गुण और दोषोंसे युक्त होते हैं, अतः उनको यों ही काममें लाया जाय तो अभीष्ट फलकी सिद्धि नहीं होती, इतना ही नहीं, अपितु अनिष्ट फलकी प्राप्ति भी हो जाती है। इसलिये विविध संस्कारोंद्वारा उनके दोषोंका परिमार्जन तथा गुणोंका उन्नयन करके संस्कृत पदार्थोंको ही काममें लाना अनिवार्य हो जाता है। उदाहरणके लिये प्रकृतिसे प्राप्त प्राकृत पारदमें विविध रोगनाशकत्व ही नहीं; किंतु अजरत्व और अमरत्व-प्रदायक गुण

भी विद्यमान हैं। इसके साथ ही उसमें अनेक दोष भी विद्यमान हैं, जिनका संस्कारोंद्वारा संशोधन किये बिना सेवन करनेपर पारद विविध रोगप्रदायक ही नहीं, अपितु जरा-मरण-प्रदायक भी हो जाता है। यही कारण है कि आयुर्वेदमें कथित अष्ट विधियोंसे संस्कार करके ही पारदका सेवन किया जाता है।

बाह्य पदार्थोंकी तरह शरीर, मन तथा बुद्धिको भी संस्कारोंसे संस्कृत करनेपर ही अभीष्ट फलकी प्राप्ति होती है; अन्यथा नहीं। यही कारण है कि ऋषियोंने इन्हें संस्कृत करनेके लिये समुचित संस्काररूप साधनोंका विधान विविध विज्ञानोंके आधारपर किया है। संस्कार अनिवार्य होनेके कारण हमारे ऋषियोंने ही नहीं, अपितु सभी देशों तथा जातियोंमें शरीर, मन तथा बुद्धिका संस्कार किसी न किसी रूपमें किया ही जाता है। देखिये, जन्म लेते ही बालकके शरीरपरसे गर्भसम्बन्धी जल, रक्त आदिके परिमार्जनहेतु शरीरका जातकर्म-संस्कार सभी देशों तथा जातियोंमें होता ही है एवं परोपकार आदि सद्भावना और विविध विज्ञानोंकी शिक्षा देकर क्रमशः मन और बुद्धिका भी संस्कार सभी देशों तथा जातियोंमें किया ही जाता है। इसका एकमात्र कारण यही है कि इन संस्कारोंके बिना मनुष्यका अपना तथा समाजका जीवन सुखमय न होकर दुःखमय हो जाता है।

संस्कारोंको तीन भागोंमें विभक्त किया जा सकता है—(१) दोषनिवारक, (२) गुणाधायक तथा (३) हीनांगपूरक। गर्भाधान, जातकर्म, मुण्डन आदि दोषनिवारक संस्कार हैं; चूड़ाकरण, उपनयन आदि गुणाधायक संस्कार हैं एवं विवाह आदि हीनांगपूरक संस्कार हैं। इनका विशेष विवेचन इन संस्कारोंके विवेचनके समय तत्-तत् प्रकरणोंमें किया जायगा। यद्यपि अपनी-अपनी रीतिसे सभी

देशों तथा जातियोंमें कुछ संस्कारोंसे मनुष्यको संस्कृत करते ही हैं, तथापि सम्पूर्ण अंग-उपांगसहित सम्पूर्ण संस्कार आर्यजातिमें ही होते आये हैं। कुछ तो कालक्रमसे और विशेष करके इस भौतिक विज्ञानके चमत्कारोंसे चमत्कृत आर्यजातिमें भी उन संस्कारोंका लोप होता जा रहा है। इसका एकमात्र कारण यह है कि लोगोंके मनमें यह धारणा दृढ़ होती जा रही है कि इनमें वैज्ञानिक तथ्य कुछ भी नहीं हैं, ये केवल अन्धविश्वासपर आधारित हैं। ऐसी दशामें संस्कारोंका, उनमें किये जानेवाले क्रिया-कलापोंका तथा प्रयोगमें लाये जानेवाले पदार्थोंके लाभोंका वैज्ञानिक विवेचन जबतक न किया जायगा, तबतक आर्यजातिमें भी संस्कारोंके प्रति बढ़ती हुई अश्रद्धाको मिटाया नहीं जा सकता है। यही विचारकर कुछ महानुभावोंने उनका वैज्ञानिक विवेचन भी किया है। हम उन्हींके ज्ञानका सम्मान करते हुए उसे अपनी भाषामें लिखनेका प्रयास करेंगे।

श्रीगणेश-नवग्रहादि-पूजन-विज्ञान

सभी संस्कारोंके प्रारम्भमें स्वस्तिवाचन, शान्तिपाठ, गणेशपूजन, नवग्रह-पूजन आदि कार्य अवश्य करने पड़ते हैं, इसलिये इन कार्योंको संस्कारोंके सामान्य कार्य कहा जाता है। अतः पहले इनपर वैज्ञानिक रीतिसे विचार लिखकर तदनन्तर गर्भाधान आदि संस्कारोंपर क्रमशः विचार किया जायगा।

स्वस्तिवाचन-शान्तिपाठ

सभी देशोंके, सभी जातियोंके तथा सभी सम्प्रदायोंके मनुष्य किसी भी कार्यको प्रारम्भ करनेसे पूर्व कार्य-सम्पादनके अनुकूल वातावरण बनानेका प्रयास करते हैं। उदाहरणके लिये राष्ट्रपति या प्रधानमन्त्री या पथप्रदर्शक नेताका व्याख्यान होनेसे पूर्व कोलाहलका शान्त होना अति आवश्यक है। इसके लिये प्रबन्धकलोग उच्चस्वरसे 'शान्त हो जाइये, शान्त हो जाइये, शान्त हो जाइये', शब्दोंका बारम्बार उच्चारण करते हैं तथा पुनः कोलाहल प्रारम्भ न हो जाय, इसके लिये कार्यके अनुकूल पदगान करते हैं। यह सब प्राचीन वैदिक स्वस्तिवाचन तथा शान्तिपाठका ही अपनी-अपनी शैलीसे अनुकरणमात्र है। लौकिक कार्योंके सम्पादनके अनुकूल होनेसे हम उसका समर्थन भी करते हैं एवं अलौकिक कार्योंमें स्वस्तिवाचन तथा शान्तिपाठ भी अलौकिक देवोंकी शान्तिके लिये अलौकिक वेदमन्त्ररूप शब्दोंद्वारा करना भी सर्वथा उचित ही है। अलौकिक देवोंकी सत्ताका प्रतिपादन आगे किया जायगा। स्वस्तिवाचन-मंत्र—

हरिः ॐ

'स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्ताक्ष्र्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥'

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

महान् कीर्तिमान् इन्द्र हमारा कल्याण करें, परम ज्ञानवान् अथवा परम धनवान् पूषा हमारा कल्याण करें, जो अरिष्टों (आपत्तियों)-के लिये चक्रके समान (घातक) हैं, वे गरुड़ हमारा कल्याण करें तथा बृहस्पतिजी हमारा कल्याण करें। त्रिविध तापोंकी शान्ति हो।

सभी देशोंकी भाषाओंमें कुछ ऐसे ही विशिष्ट शब्द चुने हुए होते हैं, जिनके उच्चारणका बहुत महत्त्व माना जाता है। जैसे हिन्दीमें 'धन्यवाद', 'त्रुटियोंके लिये क्षमा', अंग्रेजीमें 'थैंक्यू', 'वैरी गुड' आदि शब्द हैं। इन छोटे-छोटे शब्दोंके उच्चारणसे कार्यमें होनेवाली नाना प्रकारकी गलतियोंका शोधन तथा नाना प्रकारके उपकारोंके प्रति की गयी कृतज्ञताका ज्ञापन हो जाता है। अन्य भाषाओंमें परम्परासे आया हुआ यह विशिष्ट शब्द-व्यवहार भी सर्वाधिक प्राचीन वैदिक विशिष्ट शब्दोंके व्यवहार-प्रयोगका ही अनुकरणमात्र है। वैदिक कार्योंके प्रारम्भमें **'हरिः ॐ'** शब्दका उच्चारण सबसे प्रथम करते हैं; क्योंकि **'हरिः ॐ'** इस भगवन्नामका उच्चारण करनेसे कार्यकी त्रुटियोंकी पूर्ति हो जाती है, ऐसा श्रीमद्भागवत (८। २३। १६)-में कहा है—

मन्त्रतस्तन्त्रतश्छिद्रं देशकालार्हवस्तुतः।
सर्वं करोति निश्छिद्रं नामसंकीर्तनं तव॥

मन्त्रोच्चारण, विधि-विधान, देश, काल और वस्तुकी कमीके कारण होनेवाली सम्पूर्ण त्रुटियोंकी पूर्ति आपके (भगवान्‌के) नाम-संकीर्तनसे हो जाती है। शारीरिक, मानसिक तथा बौद्धिक अथवा आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक त्रिविध तापोंकी शान्तिके लिये तीन बार 'शान्ति' शब्दका उच्चारण किया जाता है। कार्यके प्रारम्भकी तरह कार्यकी समाप्तिपर भी **'हरिः ॐ तत्सत्'** उच्चारण करना भी कार्यकी त्रुटियोंकी पूर्तिके लिये ही किया जाता है। यह

शब्द इतना अधिक प्रचलित हो गया है कि भारतीय अनपढ़ मनुष्य भी किसी भी कार्यकी समाप्तिको कहनेके लिये **'हरिः ॐ तत्सत्'** कह देता है।

श्रीगणेश-नवग्रह-पूजन

प्रबन्धक शान्ति स्थापित हो जानेके बाद उपद्रवी लोगोंके उपद्रवसे भाषण आदि कार्योंमें विघ्न न हो, इसके लिये उपद्रव-दमनकारी विशेष अधिकारीका आदर-सम्मान करके उनसे प्रार्थना करते हैं। यह प्रथा भी वैदिक प्रथानुसार विघ्नविनाशक श्रीगणेश तथा नवग्रह-पूजनके आधारपर ही परम्परासे प्रचलित है; क्योंकि याज्ञवल्क्यस्मृतिके आचाराध्याय श्लोक २९३में कहा गया है—

एवं विनायकं पूज्य ग्रहांश्चैव विधानतः।
कर्मणां फलमाप्नोति श्रियं चाप्नोत्यनुत्तमाम्॥

पूर्वोक्त विधिके अनुसार श्रीगणेश तथा ग्रहोंकी पूजा करनी चाहिये, जिससे समस्त कर्मोंका फल प्राप्त होता है तथा उत्तम लक्ष्मीकी भी प्राप्ति होती है।

लौकिक कार्योंमें लौकिक उपद्रवका दमन करनेवाले विशेष अधिकारीकी आदर-सम्मानरूप पूजा जैसे की जाती है, वैसे ही अलौकिक वैदिक कार्योंमें अलौकिक विघ्नविनाशक श्रीगणेश आदिका पूजन प्रारम्भमें करना ही चाहिये। अतः याज्ञवल्क्यजीका वचन सर्वथा पालन करनेयोग्य है।

श्रीगणेश-आकृति-विज्ञान

आस्तिकोंको तो भगवान् गणेशके विचित्र रूपको देखकर कोई छोटी-सी भी शंका होती नहीं, तथापि नास्तिकोंको तो अनेक शंकाएँ होती ही हैं। अतः प्रसंगतः उनपर विचार करना भी यहाँ आवश्यक प्रतीत होता है। आस्तिकोंको शंका न होनेमें एकमात्र कारण यह है

कि सर्वसमर्थ, सर्वरूप या अनेक रूप धारण करनेवाले भगवान्‌के लिये विचित्र गणेशरूप धारण करना भी सर्वथा सम्भव ही है। नास्तिकोंको शंकाएँ होनेमें एकमात्र कारण यह है कि किसीको भी आजतक संसारमें ऐसा प्राणी देखनेको नहीं मिला, जिसके हाथ-पैर मनुष्यके जैसे हों और सिर हाथी-जैसा हो। इतना ही नहीं इतने विशाल शरीरवाले गणेशका वाहन लघु जीव चूहाका होना सर्वथा ही असम्भव है। यदि किसी प्रकार ऐसे विचित्र प्राणीका होना मान भी लिया जाय तो भी उसका कार्यके प्रारम्भमें स्मरण या पूजन कार्यकी निर्विघ्न समाप्तिमें हेतु कैसे होता है, इसका समुचित प्रतिपादन नहीं किया जा सकता। इतना ही नहीं किंतु मनोविज्ञानके अनुसार तो ऐसे विचित्र भयंकर प्राणीके स्मरण और पूजनसे तो कार्यमें विचित्र भयंकर विविध विघ्नोंके ही आनेकी सम्भावना अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होती है।

यद्यपि समाचार-पत्रोंमें विचित्र प्राणियोंकी उत्पत्तिके समाचार आते ही रहते हैं। इसलिये गणेश-जैसे विचित्र आकृतिवाले प्राणीका होना सर्वथा असम्भव है, ऐसा कम-से-कम वर्तमान युगमें समाचारपत्रोंको वेदोंके सदृश परम प्रमाण माननेवाले तो नहीं ही कह सकते। तथापि हम उसे असम्भव मानकर भी गणेशकी विचित्र आकृतिका स्मरण तथा पूजन किस प्रकार कार्यकी निर्विघ्नतामें हेतु होता है, यह बतानेका प्रयास करते हैं। यह प्रयास भी केवल दुर्जनतोषन्यायसे सामनेवालेकी बातको थोड़ी देरके लिये मानकर समाधान देनेके लिये ही किया जा रहा है। वस्तुतः हम आस्तिकलोग तो श्रीगणेशजीको भगवान् ही मानते हैं और उनके स्मरण और पूजनको शास्त्र-प्रमाणानुसार कार्यकी निर्विघ्न-समाप्तिमें हेतु मानते हैं।

आजकल समाचार-पत्रोंमें प्रायः विचित्र आकृतिके चित्र (कार्टून) बनकर आया करते हैं। जो लोग उन्हें समझनेमें असमर्थ होते हैं, उनको यह कहते हुए सुना जाता है कि 'यह नया बेहूदापना है।' परंतु जो लोग उनके रहस्यको समझनेमें समर्थ हैं, वे उसे बड़े मजेसे ध्यानपूर्वक देखकर उसका जो भाव बताते हैं, उस भावको दो-चार पृष्ठोंमें लिखकर भी उतना अच्छा नहीं समझाया जा सकता, जितना कि उस छोटे-से विचित्र चित्रद्वारा समझा जा सकता है। यही कारण है कि देशके चिन्तनशील सम्माननीय महापुरुष भी उस विचित्र चित्रमें विचित्ररूपसे चित्रण करनेवाले चतुर चितेरेके चिन्तनकी प्रशंसा ही करते हैं, न कि निन्दा।

हमारे श्रीगणेशजीकी विचित्र आकृतिसे भी कार्यसिद्धिके लिये जो रहस्यमयी शिक्षा मिलती है, उसे यदि कोई ठीक-ठीक समझ ले तो चतुर चितेरे व्यास आदि ऋषियोंकी प्रशंसा अवश्य करेगा, इसलिये उस रहस्यमयी शिक्षाका ही कुछ प्रतिपादन यहाँ किया जाता है। श्रीगणेशजी के विशाल गजमस्तकसे यह शिक्षा दी गयी है कि कार्यसिद्धि चाहनेवालेको विशाल मस्तकवाला होना चाहिये अर्थात् अपने कार्यपर आगे-पीछे अच्छी तरह विचार कर लेना चाहिये। सूप-जैसे कान यह बताते हैं कि सुने तो सबकी परंतु सूपकी तरह सार-सारको ही ग्रहण करे बाकीको उड़ा दे। बड़ा पेट होनेका तात्पर्य यह है कि जो बात ग्रहण करे उसे भी बक-बक करता न फिरे, उसे बड़े पेटमें पचा जाय। इसीलिये लोकमें बातको न पचा सकनेवालेके लिये कहते हैं, इसका पेट बहुत छोटा है।

हाथीकी आँखोंमें विपरीत ढंगसे नेत्र-पटलों (लेंसों)-की योजना होनेके कारण इसे छोटी वस्तु भी बड़ी दीखती है। यही कारण है कि यह विशालकाय प्राणी लघुकाय मनुष्यके वशमें हो

जाता है। हाथीकी इन छोटी विचित्र आँखोंसे यह शिक्षा मिलती है कि कार्यसिद्धि चाहनेवालोंको सामनेवालेको छोटा-तुच्छ नहीं देखना चाहिये। हाथीकी जीभ मनुष्यादि प्राणियोंसे सर्वथा विपरीत होती है; क्योंकि उसकी जीभ गलेकी तरफ लपलपाती है और दाँतोंकी तरफ जुड़ी होती है। उससे यह शिक्षा मिलती है कि कार्यसिद्धि चाहनेवालेको चाहिये कि अपनी कटुवादिनी जीभकी नोकको भीतरकी तरफ ही रखे, बाहर न निकाले। नाकका अर्थ लोकमें प्रतिष्ठा भी होता है। इसीलिये किसीकी प्रतिष्ठा नष्ट होनेपर लोग कहते हैं कि 'अमुककी नाक कट गयी।' अतः हाथीकी लम्बी नाक (सूँड) यह शिक्षा देती है कि अपनी तथा अपने पूर्वजोंकी जिसमें प्रतिष्ठा बढ़े, ऐसा कार्य करो। 'हाथीके खानेके दाँत और होते हैं और दिखानेके और होते हैं' इस लोकप्रसिद्ध कहावतका अर्थ होता है—करनी और कथनी—व्यवहारमें '**मायाचारो मायया वर्तितव्यः**'— इस नीतिके अनुसार दुश्मनोंसे भी ऊपर-ऊपर हँसकर बोलनेकी शिक्षा दी गयी है, अन्यथा वे काममें विघ्न पैदा कर देंगे।

मनुष्यके जैसे हाथ-पैर इसलिये बनाये गये हैं कि उसका कर्म तथा चाल-चलन मानवोचित होना चाहिये। मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है, जिसको कर्मके प्रतीक हाथ केवल कर्म करनेके लिये मिले हैं। बन्दर आदि प्राणियोंके भी हाथ होते हैं, किंतु वे उनसे चलनेका भी काम करते हैं। इसीलिये मनुष्य-योनिको ही कर्म-योनि कहा गया है। चूहा कुतर्कका प्रतीक है, अतः चूहेको वाहन बनाकर यह शिक्षा दी गयी है कि कुतर्कको दबाकर रखे। इस प्रकार गणेशजीकी आकृतिसे मिलनेवाली शिक्षाएँ कार्य-सिद्धिमें परम सहायक ही नहीं परम आवश्यक हैं, इसमें किसीका विवाद नहीं हो सकता। अतः आकृतिकी इस मनोवैज्ञानिक

शिक्षाद्वारा श्रीगणेश-आकृतिका स्मरण तथा पूजन कार्यसिद्धिमें परम उपयोगी होनेके कारण ही ऋषियोंने प्रत्येक कार्यके प्रारम्भमें उसका विधान किया है। इस प्रकार कार्टून-विज्ञानकी दृष्टिसे भी देखें तो नास्तिकोंकी शंकाका समाधान अवश्य हो जाना चाहिये। भगवान्‌की दृष्टिसे देखनेपर तो कोई शंका होती ही नहीं।

श्रीगणेश-आकृतिसे प्राप्त शिक्षाओंके आधारपर कार्य करनेवाले व्यक्तिके कार्योंकी सिद्धि अवश्य होती है, इसी बातको प्रकट करनेके लिये गणेशभगवान्‌के दोनों ओर ऋद्धि और बुद्धिको स्त्रीरूपमें खड़ा किया गया है। कुछ लोग श्रीगणेशजीकी विचित्र आकृति देखकर यह कल्पना करते हैं कि आर्योंमें गणेश-पूजा अनार्योंके सम्बन्धसे आयी है। उनकी यह कल्पना ठीक नहीं; क्योंकि आर्योंके श्रुति, स्मृति, पुराणादि प्रामाणिक ग्रन्थोंमें श्रीगणेश-पूजाका विधान जब प्राप्त है, तब उसे 'अनार्योंके सम्बन्धसे आयी है' यह कहना निराधार हो जाता है।

अधिदैव-विज्ञान

प्रत्येक कार्यके प्रारम्भमें गणेशभगवान्‌के पूजनकी तरह नवग्रहोंका पूजन भी किया जाता है, अतः नवग्रह-पूजनपर कुछ लिखनेसे पूर्व जिन नवग्रहोंकी देवतारूपमें पूजा की जाती है, उनके देवरूपपर विचार करना आवश्यक है। सूर्य और चन्द्रमाका प्रकटरूपमें प्रभाव मानव-शरीरपर ही नहीं सभी चराचर पदार्थोंपर पड़ता है, इसमें जैसे किसीका विवाद नहीं, वैसे ही बुध, बृहस्पति आदि ग्रहोंका अप्रकटरूपमें प्रभाव अवश्य पड़ता है—यह बात भी सभी विचार-कुशलोंको माननी ही पड़ती है। अतः आधिभौतिक रूपमें ग्रहोंके प्रभावकी बातपर भी कोई विशेष विचार करना आवश्यक नहीं, इसलिये केवल आधिदैविक रूपपर ही यहाँ विचार किया जा रहा है।

पशु, पक्षी, कीट, पतंग तथा मानवशरीरका संचालक, नियामक तथा अधिष्ठाता आत्मा होता है, इसमें प्रायः विवाद नहीं है। जबसे जगदीशचन्द्र बसुने अपने प्रयोगोंद्वारा वृक्षोंपर भी मनुष्य-शरीरकी तरह इन्जेक्शनोंका प्रभाव होता है—यह प्रयोग करके दिखा दिया तबसे प्रायः सभी वृक्षोंमें भी आत्मा मानने लगे हैं। सुना है, पर्वतोंके घटने-बढ़नेसे पर्वतोंमें भी आत्मा मानना चाहिये, ऐसा भी कुछ वैज्ञानिक कहते हैं। इन सबपर विचार करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि संसारमें जितने पिण्ड हैं, उनमें उनका कोई अधिष्ठाता आत्मा भी अवश्य है। वे पिण्ड चाहे पार्थिव हों या तैजस या वायवीय हों, इन सभी प्रकारके पिण्डोंमें अधिष्ठाता आत्मा होता ही है। ऐसी दशामें इन सूर्य, चन्द्र, बुध, बृहस्पति आदि विशाल पिण्डोंमें भी उनके अधिष्ठाता आत्माको स्वीकार करना अनिवार्य हो जाता है। इन्हीं आत्माओंको वैदिकलोग अधिदेव नामसे पुकारते हैं। इन्हींकी नवग्रहरूपमें पूजा की जाती है, जड़ ग्रह-पिण्डोंकी नहीं। जड़ पिण्ड तो सर्वत्र चेतनकी पूजाका माध्यम ही होता है। यह बात मूर्ति-पूजाके प्रकरणमें कही जा चुकी है।

नवग्रहोंका आवाहन और पूजन

लोकमें यह सर्वत्र देखनेमें आता है कि जिनका जिनके साथ विशेष सम्बन्ध है और जो लोकमें विशेष अधिकारी या प्रभावशाली हैं, जिनके प्रकोप या प्रसादसे हमारी महती हानि या महान् लाभ हो सकता है, उनको लोग अपने कार्योंकी सफलताके लिये आमन्त्रित करते हैं तथा उनके अनुरूप उनका मान, सम्मान, पूजन आदि करके उन्हें सन्तुष्ट करते हैं। इसी न्यायके अनुसार हमारे शरीरसे विशेष सम्बन्धित नवग्रहोंका आवाहन करना तथा उनका पूजन करना भी

सर्वथा उचित ही है। हमारे छोटे-से गृहमें इतने बड़े विशाल ग्रह कैसे समा सकेंगे? इस शंकाका उत्तर भी अधिदैव-विज्ञानकी सिद्धि कर देनेसे ही हो जाता है। जैसे लंकामें भारत, चीन और रूसको आमन्त्रित किया जाता है तो लंकाकी छोटी-सी भूमिपर भारत, चीन आदिकी सम्पूर्ण भूमि या जनता नहीं जाती, जिससे वे कहाँ समा सकेंगे—ऐसा प्रश्न उपस्थित किया जाय। केवल भारत, चीन आदिके प्रतिनिधि ही जाते हैं। उन्हींका सम्मान कर देनेसे सम्पूर्ण भारत, चीन आदिका सम्मान हो जाता है।

वैसे ही ग्रहोंका आवाहन करनेपर उनके अधिष्ठाता देव या उनके प्रतिनिधि ही आते हैं, उनका ही पूजन किया जाता है। इसी प्रकार 'ग्रह मनुष्यपर कैसे चढ़ जाते हैं?' यह प्रश्न भी लोग करते हैं, उसका भी उत्तर अधिदैव-विज्ञानसे ही हो जाता है। जिसका स्पष्ट तात्पर्य यह है कि अनादिकालसे विधान की हुई वैदिक मर्यादानुसार नवग्रह-पूजा न करना अपराध है। उस अपराधका दण्ड देनेके लिये नवग्रह अपने अधिकारानुसार मनुष्यके शरीरमें, मनमें तथा बुद्धिमें जाकर विकार पैदा कर देते हैं। इसीको लोकभाषामें ग्रहोंका चढ़ना कहा जाता है।

दान करनेसे ग्रहोंका प्रकोप कैसे शान्त होता है? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि किसी अपराधीको न्यायाधीश दण्ड देता है कि इसको १०० बेंत मारो अथवा यह ५० रुपये जुर्माना दे। यहाँ जैसे बेंत मारनेसे शरीरको कष्ट होता है, वैसे ही पैसा कमानेमें भी शरीरको कष्ट होता है, इसलिये दोनों दण्ड बराबर माने जाते हैं। उनमेंसे एकको भोग लेनेसे अपराधका फल मिल जाता है। इसी प्रकार पैसेके दानसे भी ग्रह-प्रकोपजन्य शारीरिक पीड़ासे बच जाना और दानको ग्रह-प्रकोपकी शान्तिमें हेतु कहना

भी सर्वथा ठीक ही है। उस विकारका दमन कर देनेवाली उस ग्रह-विशेषसे सम्बन्धित औषधि, धातु, रत्न आदिके धारणका ग्रह-प्रकोपकी शान्तिके लिये विधान शास्त्रोंने किया है, वह भी ठीक ही है; क्योंकि ग्रह-प्रकोपका अर्थ है शरीरादिमें विकारका होना और ग्रहशान्तिका अर्थ है विकारकी शान्ति हो जाना। जिन औषधि, धातु तथा रत्नोंमें सूर्य आदि महाग्रहोंका अंश विशेषरूपसे रहता है, उनके नाम इस प्रकार हैं—

ग्रह	धातु	रत्न	औषधि
सूर्य	स्वर्ण	माणिक	अपामार्ग
चन्द्र	चाँदी	मोती	अर्क
मंगल	ताँबा	मूँगा	पलाश
बुध	पीतल	पन्ना	खदिर
बृहस्पति	काँसा	पुखराज	उदुम्बर
शुक्र	पारा	हीरा	पीपल
शनि	लोहा	नीलम	कुश

हवन-विज्ञान

अधिदैव-विज्ञानके अनुसार केवल पार्थिव पिण्डोंके ही नहीं किन्तु जलीय, तैजस तथा वायवीय पिण्डोंके भी अधिष्ठाता देवता होते हैं। अतः गंगा, समुद्र आदि जलीय पिण्डोंके भी अधिदैवरूपसे गंगादेवी तथा समुद्रदेवताका वर्णन शास्त्रोंमें आता है। यह केवल शास्त्रीय या यौक्तिक कल्पनामात्र ही नहीं है, अपितु उपासनाके द्वारा उनका साक्षात्कार होता है और उनके अनुग्रहसे लौकिक तथा अलौकिक विविध लाभोंकी भी प्राप्ति होती है। इस विषयमें गंगाजीका माहात्म्य बताते हुए स्नान-प्रकरणमें मोकलपुरके बाबाको गंगाजीका दर्शन हुआ था, यह लिखा जा चुका है। गंगाजीने उन्हें कृपा करके विविध लौकिक एवं अलौकिक सिद्धियाँ भी दी थीं। इसी प्रकार अन्य देवताओंकी आराधना करके उनके अनुग्रहसे मनुष्य सहजमें विविध लाभ उठा सकता है तथा कल्याणका भागी बन सकता है। इसके लिये ही हवन (यज्ञ)-का विधान स्थूल-सूक्ष्म-विज्ञानके आधारपर किया गया है; क्योंकि देवता वस्तुका सूक्ष्म सारभाग ही ग्रहण करते हैं।

किसी थोड़ी-सी वस्तुको उसके अनुरूप विज्ञानके आधारपर हजारों-लाखों गुना किया जा सकता है तथा उससे हजारों-लाखों व्यक्तियोंको सन्तुष्ट किया जा सकता है एवं उसकी शक्तिको हजारों-लाखों गुना बढ़ाया जा सकता है, उदाहरणके लिये देखिये, एक कृषि-विज्ञानका सामान्य ज्ञान रखनेवाला ग्रामीण किसान अपने परिवारके बाल-बच्चोंका भी पेट काटकर अनाजको मिट्टीमें मिलाकर अनेक गुना कर लेता है। एक मिर्चको एक व्यक्ति रोटी-दालके साथ खा जाता है। उसमें उसको जितना कड़ुवेपनका अनुभव होता है, यदि उसी मिर्चको पानीके साथ खूब महीन पीसकर एक कटोरीभर पानीमें पीनेको दिया जाय तो उसे अनेक गुना

कड़ुवाहटका अनुभव होगा, पीना मुश्किल हो जायगा। इसी विज्ञानके आधार पर होम्योपैथिकवाले स्प्रिट या फिल्टर किये हुए पानीमें औषधि डालकर हिला-हिलाकर उसकी शक्ति तथा गुणोंमें हजारों-लाखों गुना वृद्धि कर देते हैं, जिसे वे पुटेन्सी नामसे पुकारते हैं। यदि उसी एक मिर्चको आगमें डाल दिया जाय तो उसके अति सूक्ष्म परमाणु बनकर प्रथम वायुमें व्याप्त होकर पुनः आकाशमें व्यापक हो जायँगे, जिससे वहाँ बैठे सैकड़ों मनुष्योंको परेशान कर देंगे। इसी विज्ञानके आधारपर आयुर्वेदमें अभ्रक आदि वस्तुओंको विधिपूर्वक आगमें अनेक बार जलाकर उनकी रोगनाशक शक्तिको हजारों-लाखों गुना बढ़ा लेते हैं, जिसे वे पुट कहते हैं।

इसी स्थूल-सूक्ष्म-विज्ञानके आधारपर हवन-विधिद्वारा करोड़ों देवताओंको सन्तुष्ट किया जाता है, जिससे वे सन्तुष्ट होकर आवश्यकतानुसार वर्षा आदि करते हैं, जिससे मनुष्य अनायास सहजमें जीवनके उपयोगी अन्नादि प्राप्त कर लेता है। इसके विपरीत शास्त्रविधिका अतिक्रमण करके देव-आराधना न करनेपर अपराध होता है, जिसका फल दैवीकोप होता है; जिसे अतिवृष्टि, अनावृष्टि, असामयिक वृष्टि, भूचाल, तूफान, महामारी आदिके रूपमें मनुष्यको भोगना पड़ता है। अतः यज्ञ (हवन)-का विधान परस्पर एक-दूसरेको सन्तुष्ट करनेके लिये किया गया है। यह बात अति स्पष्ट शब्दोंमें गीतामें कही गयी है—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥
देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥
इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥

अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद् भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥

(गीता ३।१०—१२, १४)

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥

(मनु० ३।७६)

प्रजापति (ब्रह्मा)-ने कल्पके आदिमें यज्ञसहित प्रजाको रचकर कहा कि इस यज्ञद्वारा तुमलोग वृद्धिको प्राप्त होओ और यह यज्ञ तुमलोगोंकी इच्छित कामनाओंको देनेवाला हो। इस यज्ञद्वारा तुमलोग देवताओंका संवर्धन करो और वे देवतालोग तुम्हारा संवर्धन करें। इस प्रकार परस्पर कर्तव्य समझकर उन्नति करते हुए तुम परम कल्याणको प्राप्त होओगे। यज्ञद्वारा बढ़ाये हुए देवतालोग तुम्हारे लिये प्रिय भोगोंको देंगे, उनके द्वारा दिये हुए भोगोंको जो पुरुष उन देवताओंको यज्ञद्वारा दिये बिना ही भोगता है, वह निश्चय ही चोर है। सम्पूर्ण प्राणी अन्नसे उत्पन्न होते हैं और अन्नकी उत्पत्ति वृष्टिसे होती है, वृष्टि यज्ञसे होती है और वह यज्ञ शास्त्रविहित कर्मसे होता है। अग्निमें शास्त्रविधिसे भलीभाँति डाली हुई आहुति अति सूक्ष्म रसरूपसे आदित्य (सूर्य)-में पहुँचती है, सूर्यमें स्थित रससे वृष्टि होती है। वृष्टिसे अन्न और अन्नसे प्रजा होती है।

इस हवन-विज्ञानको न जाननेके कारण ही नास्तिकलोगोंको उपयोगी खाद्य पदार्थोंको आगमें जलाना मूर्खता प्रतीत होती है। वस्तुतः जैसे किसानका पेट काटकर भी अन्नको मिट्टीमें मिलाना कृषि-विज्ञानानुसार सर्वथा ठीक ही है। वैसे ही हवन-विज्ञानानुसार घृत, चीनी आदिका आगमें जलाना भी सर्वथा उचित ही है।

गर्भाधान-संस्कार-विज्ञान

गर्भाधान-संस्कारकी आवश्यकता

यह सभी जानते हैं कि कंकड़, पत्थर, झाड़-झंखाड़ आदि दोषोंके निवारणरूप संस्कारोंसे संस्कृत क्षेत्र (खेत)-में निर्दोष तथा गुणयुक्त बीज डालनेसे ही उत्तम फल प्राप्त होता है। इसके विपरीत आचरण करनेपर विपरीत फल मिलता है अथवा कुछ भी फल नहीं मिलता, बीज भी नष्ट हो जाता है। गर्भाधान भी स्त्रीरूपी क्षेत्रमें वीर्यरूपी बीज डालकर सन्तानरूप फलकी प्राप्तिके लिये किया जाता है, अतः यहाँ भी अभीष्ट पुत्र या पुत्रीकी प्राप्ति तभी होगी, जब स्त्रीरूपी क्षेत्र तथा वीर्यरूपी बीज दोषनिवारक संस्कारोंसे संस्कृत और गुणयुक्त होंगे। इसलिये गर्भाधान-संस्कार अति आवश्यक है। गर्भाधान-संस्कारकी विधि जो शास्त्रोंमें सर्वज्ञ ऋषियोंने बतायी है, उसका प्रायः लोप हो जानेके कारण ही आज कुलकलंक तथा देशमें आतंक पैदा करनेवाली सन्तानोंकी उत्पत्ति हो रही है।

गर्भाधान-संस्कारके बिना ही पशु-पक्षी सन्तानोत्पत्ति कर रहे हैं, फिर इस संस्कारकी क्या आवश्यकता है? ऐसा प्रश्न हो सकता है। इसका उत्तर यह है कि प्रायः पशु, पक्षी आदि सभी प्राणियोंमें गर्भाधानका कार्य प्रकृतिके पूर्ण नियन्त्रणमें होता है। पशु कभी भी अयोग्यकालमें गर्भाधान नहीं करता। गर्भवतीके साथ समागम नहीं करता, किंतु मनुष्य अयोग्यकालमें तथा गर्भवतीके साथ भी समागम करता है। इसके अतिरिक्त मनुष्य सर्वाधिक बुद्धिमान् प्राणी है, वह प्राकृत पदार्थों तथा नियमोंमें अपनी बुद्धिसे और कुछ संशोधन करके अधिक लाभ उठाता है। इन कारणोंसे गर्भाधानादि संस्कारोंकी आवश्यकता सिद्ध हो जाती है। स्मृतिमें कहा है—

निषेकाद् बैजिकं चैनो गार्भिकं चोपमृज्यते।
क्षेत्रसंस्कारसिद्धिश्च गर्भाधानफलं स्मृतम्॥

गर्भाधान-संस्कारसे बीज (वीर्य) तथा गर्भाशय-सम्बन्धी दोषका मार्जन होता है और क्षेत्रका संस्कार होता है, यही गर्भाधान-संस्कारका फल है। गर्भाधान करते समय स्त्री-पुरुष जिस भावसे भावित होते हैं, उसका प्रभाव उनके रज-वीर्यमें पड़ता है, उस रज-वीर्यसे जन्य सन्तानमें भी वे भाव प्रकट होते हैं। ऐसी दशामें केवल कामवासनासे प्रेरित होकर मैथुन करनेपर उत्पन्न सन्तान भी कामुक ही होती है। अतः इस कामवासनाको नियन्त्रणमें रखकर शास्त्र-मर्यादानुसार केवल सन्तानोत्पत्तिके लिये ही जो स्त्रीसमागममें प्रवृत्त होते हैं, वह काम तो भगवान्‌की विभूति ही है; क्योंकि गीतामें कहा है—

'**धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि**' (गीता ७। ११)
तथा '**प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः**' (गीता १०। २८)।

अमुक शुभ मुहूर्तमें अमुक शुभ मन्त्रसे प्रार्थना करके गर्भाधान करें, इस विधानसे कामुकताका दमन तथा शुभभावापन्न मनका सम्पादन हो जाता है; क्योंकि शुभ मुहूर्ततक प्रतीक्षा करना कामुकताका दमन किये बिना हो ही नहीं सकता तथा देवोंसे प्रार्थना करते समय मन शुभभावापन्न अवश्य होगा। गर्भाधानसे पूर्व पवित्र होकर द्विजातिको इस मन्त्रसे प्रार्थना करनी चाहिये—

गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि सरस्वति।
गर्भं तेऽश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजौ॥

हे अमावस्यादेवी तथा हे सरस्वतीदेवी! आप इस स्त्रीको गर्भधारण करनेकी सामर्थ्य दें और उसे पुष्ट करें। कमलोंकी मालासे सुशोभित दोनों अश्विनीकुमार तेरे गर्भको पुष्ट करें।

सभी संस्कारोंकी इतिकर्तव्यताका यहाँ केवल संकेत ही किया जायगा। पूरी विधि तो शास्त्रोंसे ही जाननी चाहिये।

इच्छाके अनुकूल सन्तान

जो स्त्री चाहती है कि मेरे पतिके समान गुणवाला या ध्रुव-जैसा भक्त या अभिमन्यु-जैसा वीर या कर्ण-जैसा दानी पुत्र हो, उसको चाहिये ऋतुकालमें चौथे दिन स्नान आदिसे पवित्र होकर अपने पतिका ही प्रथम दर्शन करे, ध्रुव आदिके चित्रका दर्शन या मन-ही-मन पूर्ण सात्त्विक भावसे चिन्तन करे तथा उसी भावसे भावित रहकर पतिसे गर्भाधान कराये। पति भी उसी भावसे भावित रहे। ऐसा करनेसे जैसे पुत्रकी इच्छा होगी, वैसा ही पुत्र उत्पन्न होगा; क्योंकि ऋतुकालमें स्त्रीका चित्त कैमरेके चित्रग्राही पर्देकी तरह होता है, उसपर उस समय जैसी छाप पड़ जाती है, वैसी ही सन्तान उत्पन्न होती है। सुश्रुतसंहिता (शारीर० २।२६)-में स्पष्ट कहा गया है—

पूर्वं पश्येदृतुस्नाता यादृशं नरमङ्गना।
तादृशं जनयेत् पुत्रं भर्तारं दर्शयेदतः॥

ऋतुस्नानके बाद स्त्री जैसे पुरुषका दर्शन करती है, वैसा ही पुत्र उत्पन्न होता है, अतः सर्वप्रथम पतिका दर्शन करना चाहिये।

अनेक बार प्रयोग करके यह देखा गया है कि ऋतुमती घोड़ीकी आँखोंके सामने जिस रंगका पर्दा लगाकर घोड़ेसे गर्भाधान कराया गया है, वैसे ही रंगका बच्चा पैदा हुआ है। सन्तानमें वे गुण स्थायी बने रहें, इसके लिए गर्भकालमें भी बराबर नौ महीनेतक उन्हींके गुणोंका चिन्तन तथा कथाका श्रवण करते रहना चाहिये तथा सन्तान उत्पन्न होनेके बाद भी माता-पिता एवं शिक्षकोंद्वारा उनके अनुकूल ही आचरण और शिक्षण प्राप्त होना चाहिये।

रजस्वलावस्थामें अकरणीय

'दिवास्वपन्त्याः स्वापशीलः, अञ्जनादन्धः, रोदनाद् विकृतदृष्टिः, स्नानानुलेपनाद् दुःखशीलः, तैलाभ्यङ्गात् कुष्ठी, नखापकर्तनात् कुनखी, प्रधावनात् चञ्चलः, हसनात् श्यावदन्तौष्ठतालुजिह्वः, प्रलापी चातिकथनात्,अतिशब्दश्रवणाद् बधिरः, अवलेखनात् खलतिः, मारुतायाससेवनात् मत्तो गर्भो भवति इति एवमेतान् परिहरेत्।' (सुश्रुत० शारीरस्थान २। २५)

रजस्वला स्त्री यदि दिनमें सोये और कदाचित् उसे उसी ऋतुकालमें गर्भ रह जाय तो भावी शिशु अति सोनेवाला उत्पन्न होगा। काजल लगानेसे अन्धा, रोनेसे विकृतदृष्टि, स्नान और अनुलेपनसे शरीर-पीड़ावाला, तेल लगानेसे कुष्ठी, नख काटनेसे कुनखी, दौड़नेसे चंचल, हँसनेसे काले दाँत, काले ओष्ठ तथा विकृत जिह्वा और तालुवाला, बहुत बोलनेसे बकवादी, बहुत सुननेसे बहरा, कंघीसे बाल खींचनेपर गंजा, अधिक वायुसेवनसे तथा परिश्रम करनेसे पागल पुत्र उत्पन्न होता है। इसलिये रजस्वला स्त्री इन कार्योंको न करे। इन शास्त्रीय नियमोंका पालन न करनेसे ही अनिच्छित सन्तानें होती हैं। अतः इच्छित सन्तान चाहनेवालोंको गर्भाधान-संस्कारके नियमोंका पालन अवश्य करना चाहिये।

गर्भाधान किसमें

माताकी पाँच तथा पिताकी सात पीढ़ियोंको छोड़कर असगोत्रा अपनी जातिकी कन्याके साथ विवाह करके उसीमें शास्त्रमर्यादानुसार गर्भाधान करना चाहिये। अन्यत्र कहीं भी करनेसे वर्णसंकर सन्तान उत्पन्न होती है, जो अपने समाजका अहित करके इस लोकमें और पितरोंका पतन करके परलोकमें भी दुःख देनेवाली होती है। माताकी पाँच तथा पिताकी सात पीढ़ियोंतक रक्तकी अति समान जातीयता होती है। अति समानजातीय पदार्थोंको परस्पर मिलानेसे विकास नहीं होता,

जैसे पानीमें पानी या दूधमें दूध मिलानेसे कुछ भी नया विकास नहीं होता। यही कारण है कि पशु-पक्षियोंमें कोई विकास नहीं होता, वे अनादिकालसे ज्यों-के-त्यों चले आ रहे हैं। अति विजातीय पदार्थोंको परस्पर मिलानेसे विनाश या विकृत विकास होता है। जैसे दूधमें नींबूका रस डालनेसे दूध फट जाता है। घोड़ेसे गधीमें गर्भाधान कराकर उत्पन्न किया हुआ खच्चर अधिक बलवान् होनेपर भी स्ववंश-संचालक नहीं होता। कलमी आम अधिक स्वादिष्ट तथा बड़ा होनेपर भी स्वास्थ्यके लिये अधिक हितकर नहीं होता तथा कलमी आमके बीजसे कलमी आम पैदा नहीं होता। किंचित् समान जातीयको समान जातीयके साथ मिलानेपर विकास होता है। जैसे दूधमें दहीका तोड़ मिला देनेसे मक्खन-जनक स्वास्थ्यप्रदायक स्वादिष्ट दही बन जाता है।

इसी पदार्थ-मिश्रण-विज्ञानके आधारपर ऋषियोंने अति समान जातिवाले होनेके कारण माताकी पाँच तथा पिताकी सात पीढ़ियोंको छोड़ अपनी जातिकी कन्याके ही साथ विवाह करके गर्भाधान करनेका विधान किया है तथा अति विजातीय अन्य वर्णकी कन्याके साथ विवाह करनेका तथा उसमें गर्भाधान करनेका निषेध किया है। कुछ लोगोंका कहना है कि '**समानप्रसवा जातिः**' अर्थात् जो अपने समान सन्तान उत्पन्न करे उसे जाति कहते हैं, इस नियमके अनुसार मनुष्य नामकी एक ही जाति है; उसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि जातियोंकी कल्पना सर्वथा अवैज्ञानिक है। इतना ही नहीं किन्तु घृणामूलक तथा द्वेषमूलक होनेसे समाजमें कलह पैदा करनेवाली है। अतः इसपर भी ऋषियोंके दृष्टिकोणका वैज्ञानिक रीतिसे विवेचन करना आवश्यक प्रतीत होता है, जो आगे तृतीय खण्डके अन्तमें विस्तारपूर्वक किया जायगा।

पुंसवन-संस्कार-विज्ञान

फल—'गर्भाद् भवेच्च पुंसूते पुंस्त्वस्य प्रतिपादनम्।'

इस गर्भसे पुत्र ही उत्पन्न हो, इसके लिये पुंसवन-संस्कार किया जाता है।

आवश्यकता—मनुष्यकी अनेक कन्याएँ होनेपर भी यदि पुत्र न हो तो उसे सन्तोष नहीं होता। वह पुत्र-प्राप्तिके लिये नाना उपाय करता है। इसका लौकिक कारण तो यह है कि वृद्धावस्थामें सभीको सेवाकी आवश्यकता होती है। उसके लिये पुत्र होना आवश्यक समझा जाता है। अलौकिक कारण यह है कि 'पुं' नामके नरकसे त्राण (रक्षा) करता है, इसलिये पुत्र कहा जाता है। **'पुंनाम्नो नरकात् त्रायते इति पुत्रः'**—इस यास्क-वचनके आधारपर नरकसे रक्षा प्राप्त करनेकी दृष्टिसे आस्तिक मनुष्य पुत्र-प्राप्तिके लिये नाना लौकिक उपाय करता है तथा देवी-देवताओंकी मनौतीरूप अलौकिक उपाय भी करता है।

काल—मनुष्यकी इस अभिलाषाकी पूर्तिके लिये शास्त्रकारोंने पुंसवन-संस्कारका विधान किया है। शरीर-विज्ञानके अनुसार स्त्री-पुरुष-विभेदक अंगोंका बनना तीसरे या चौथे मासके बाद ही प्रारम्भ होता है, इससे पूर्व गर्भ मांसका पिण्डमात्र ही होता है। इसलिये जब गर्भ दो-तीन महीनेका होता है, तभी पुंसवन-संस्कार करनेका विधान किया गया है। पुरुषके ही अंग बनें, इसके लिये इस संस्कारमें मनोविज्ञान और औषधि-विज्ञान इन दो उपायोंको कार्यमें लाया गया है।

यह सभी जानते हैं कि जो जैसी प्रबल भावना करता है, उसके बाह्य तथा आन्तर अंगोंपर उसका वैसा ही प्रभाव अवश्य पड़ता है।

भाव-प्रधान होनेके कारण स्त्रियोंपर भावनाका प्रभाव अधिक होता है। यदि इस भावनाको कोई ऐसा आधार प्राप्त हो जाय, जिसकी प्रामाणिकतापर उसे पूरा विश्वास हो तब तो तत्काल ही फल देखनेको मिल जाता है। एक भावुक सज्जनको यह वहम हो गया कि मुझे क्षयका रोग हो गया है। एक डॉक्टरको दिखाया, उसने रुपया ठगनेकी दृष्टिसे उसकी पुष्टि कर दी। इसका प्रभाव यह हुआ कि उनके मनमें हर समय क्षय रोगके चिन्तनका ऐसा गहरा प्रभाव पड़ा कि उन्हें क्षय रोग सचमुचमें ही हो गया।

इस मनोविज्ञानके आधारपर प्रामाणिक वेदमन्त्रोंके अलौकिक प्रभावपर परम श्रद्धा रखनेके कारण जब वेदमन्त्रोंद्वारा पुंसवन कर दिया जाता है, तब भावप्रधान स्त्रीके मनमें पुत्रभावका प्रवाह प्रवाहित हो जाता है, जिसके प्रभावसे गर्भके मांसपिण्डमें पुरुषके अंग उत्पन्न होते हैं। वेदमन्त्र इस प्रकार है—

पुमानग्निः पुमानिन्द्रः पुमान् देवो बृहस्पतिः।
पुमांसं पुत्रं विन्दस्व तं पुमान्नु जायताम्॥

(सा० वे० मं० ब्रा० १।४।९)

अग्निदेवता पुरुष हैं, देवराज इन्द्र भी पुरुष हैं तथा देवताओंके गुरु बृहस्पति भी पुरुष हैं, तेरे भी पुरुषत्वयुक्त ही पुत्र उत्पन्न हो।

औषधि-विज्ञानके अनुसार पुंसवन-संस्कारमें वटके अंकुरको अन्य औषधियोंके साथ पीसकर पान कराया जाता है। वटका अंकुर व्रणका रोपण करनेवाला तथा सन्धिकारक होता है, अतः गर्भ-मांसपिण्डमें योनिरूप व्रणके बननेमें बाधक होता है। बल-वीर्यवर्धक सोमलताका भी विधान है, किंतु सोमलता अब मिलती नहीं।

सीमन्तोन्नयन-संस्कार-विज्ञान

फल—'निषेकफलवज्ज्ञेयं फलं सीमन्तकर्मणः।'

गर्भाधान-संस्कारकी तरह सीमन्तोन्नयनका फल भी गर्भकी शुद्धि है।

काल—यह संस्कार तब किया जाता है, जब गर्भ चार महीनेका हो जाता है; क्योंकि चार महीनेके बाद बालकके अंग-प्रत्यंग अर्थात् हाथ, पाँव, नाक, आँख, हृदय आदि सभी अंग प्रकट हो जाते हैं, चेतनाका स्थान हृदय बन जानेके कारण गर्भमें चेतना आ जाती है, इसलिये उसमें इच्छाओंका उदय होने लगता है। वे इच्छाएँ माताके हृदयमें प्रतिबिम्बित होकर प्रकट होती हैं। इसलिये माता दो हृदयवाली कहलाती है। यह सब बातें निम्नलिखित सुश्रुतवाक्योंमें स्पष्ट कही गयी हैं—

'चतुर्थे सर्वाङ्गप्रत्यङ्गविभागः प्रव्यक्तो भवति। गर्भहृदय-प्रव्यक्तिभावात् चेतनाधातुरभिव्यक्तो भवति, कस्मात्तत्स्थानत्वात्; तस्माद् गर्भश्चतुर्थे मास्यभिप्रायमिन्द्रियार्थेषु करोति, द्विहृदयां च नारीं दौहृदिनीमाचक्षते।' (सुश्रुत० शारीरस्थान अ० ३। १८)

इसके आगे सुश्रुतने कहा है कि दो हृदयवाली माताकी विविध इच्छाएँ अवश्य पूरी करनी चाहिये, नहीं तो जिस इच्छाकी पूर्ति न की जायगी, उस इच्छाकी पूर्ति बालकके जीवनमें कभी भी न होगी, उस विषयमें वह सदा अतृप्त रहेगा। ४ से ८ महीनेतक यह क्रम रहनेके कारण छठे या आठवें महीनेमें भी यह संस्कार किया जाता है। यह संस्कार शुक्ल पक्षमें पुरुषवाची नक्षत्रमें करना चाहिये।

आवश्यकता—गर्भमें जब मन तथा बुद्धिमें नूतन चेतनाशक्तिका उदय होता है, तब उसमें जो संस्कार डाले जाते हैं, उनका बालकपर

बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है। प्रह्लादसे असुर-बालकोंने पूछा कि हम-तुम सभी इन्ही गुरुओंसे साथ-साथ पढ़े हैं। इन्होंने तो यह ज्ञान सिखाया नहीं, फिर तुम्हें यह ज्ञान कहाँसे प्राप्त हुआ? इसके उत्तरमें प्रह्लादने कहा कि जब मेरी माताको दयालु नारदजी ज्ञानका उपदेश करते थे तब नारदजीकी दृष्टि मुझ गर्भस्थ शिशुपर भी रहती थी, ऋषिके अनुग्रहसे मुझे आज भी उसकी स्मृति बनी है—

ऋषिःकारुणिकस्तस्याः प्रादादुभयमीश्वरः।
धर्मस्य तत्त्वं ज्ञानं च मामप्युद्दिश्य निर्मलम्॥
× × ×
ऋषिणानुगृहीतं मां नाधुनाप्यजहात् स्मृतिः॥

(श्रीमद्भा० ७।७।१५-१६)

अभिमन्युने गर्भावस्थामें ही चक्रव्यूह-भेदन करनेका ज्ञान प्राप्त किया था, यह कथा तो बहुत ही प्रसिद्ध है। यही कारण है कि सीमन्तोन्नयन-संस्कारके कार्योंमें गर्भिणी प्रसवपर्यन्त महापुरुषोंके चरित्रोंका श्रवण करे—यह संकेत किया गया है।

इतिकर्तव्यता—इस संस्कारमें यज्ञ-अवशिष्ट अधिक घृतयुक्त सुपाच्य पौष्टिक खिचड़ी गर्भवतीको खिलायी जाती है। यदि भोजन सुपाच्य न हो तो बालक तथा माता—दोनों रोगग्रस्त हो जायँगे। यदि भोजन पौष्टिक न हो तो बालक और माता—दोनों दुर्बल हो जायँगे। संस्कारके दिन सुपाच्य-पौष्टिक भोजनका विधान करके यह संकेत कर दिया गया है कि प्रसवपर्यन्त ऐसा ही सुपाच्य-पौष्टिक भोजन देना चाहिये। इसकी आवश्यकता तो आजकलके डॉक्टर भी मानते हैं।

इस संस्कारमें पति शास्त्रवर्णित गूलर आदि वनस्पतिद्वारा गर्भिणीके सीमन्त (माँग)-का पृथक्करणादि क्रियाएँ करता हुआ यह

मन्त्र कहता है—

येनादितेः सीमानं नयति प्रजापतिर्महते सौभगाय।
तेनाहमस्यै सीमानं नयामि प्रजामस्यै जरदष्टिं कृणोमि॥

जिस प्रकार देवमाता अदितिका सीमन्तोन्नयन प्रजापतिने किया था, उसी प्रकार इस गर्भिणीका सीमन्तोन्नयन करके इसके पुत्रको जरावस्थापर्यन्त दीर्घजीवी करता हूँ।

इसके बाद वृद्धा ब्राह्मणियोंद्वारा आशीर्वाद दिलाया जाता है। गोभिलगृह्यसूत्र (२।७।९—१२)-में लिखा है—

'किं पश्यसीत्युक्त्वा प्रजामिति वाचयेत्। तं सा स्वयं भुञ्जीत। वीरसूर्जीवसूर्जीवपत्नीति ब्राह्मण्यो मङ्गल्याभिर्वाग्भि-रुपासीरन्।'

क्या देखती हो? ऐसा पूछा जानेपर गर्भिणी कहे—पुत्र देखती हूँ। उस खिचड़ीको स्वयं खाये। ब्राह्मणियाँ कल्याणमयी वाणीसे आशीर्वाद दें—तू वीर सन्तानको उत्पन्न करनेवाली हो, जीवित सन्तानको उत्पन्न करनेवाली हो, तू चिरकालतक सौभाग्यवती हो।

वेदमन्त्रों तथा ब्राह्मणोंपर परम श्रद्धा रखनेवाली भावप्रधाना गर्भिणीके मनपर तथा बालकपर इस भावप्रधान वातावरणका कितना अच्छा प्रभाव पड़ता होगा, यह तो मनोविज्ञानके विशेषज्ञ ही समझ सकते हैं।

जातकर्म-संस्कार-विज्ञान

फल—'गर्भाम्बुपानजो दोषो जातात् सर्वोऽपि नश्यति।' जातकर्म-संस्कारद्वारा गर्भका पानी पीनेसे होनेवाले सभी दोषोंका विनाश हो जाता है।

काल—बालकका जन्म होते ही यह संस्कार किया जाता है, यह बात 'जातकर्म' इस नामसे ही स्पष्ट हो जाती है।

आवश्यकता—उत्पन्न हुए बालककी नाभिमें लगे हुए नालका छेदन किये बिना बालक माँसे अलग कैसे ग्रहण किया जा सकेगा। इसलिये नाल-छेदन करनेकी आवश्यकता तो स्पष्ट ही है। गर्भके अशुद्ध जलसे भींगे हुए बालकको पोंछकर शुद्ध करना भी स्वच्छता तथा स्वास्थ्यकी दृष्टिसे परम आवश्यक है—ये शारीरिक कार्य तो ऐसे हैं कि सभी देशों, सभी जातियोंमें सामान्य रीतिसे किये ही जाते हैं। वैदिक जातकर्ममें उक्त कार्योंको अपनी विशेष पद्धतिसे करते हैं। इसके अतिरिक्त नवजात बालकके विशुद्ध मनपर भी प्रभाव डालनेवाले वैदिक मन्त्रोंका प्रयोग मनोविज्ञानके आधारपर करते हैं, जिससे बालकके तन और मन दोनोंके संस्कार सम्पन्न हो जानेसे जीवनके लिये परम उपयोगी बन जाते हैं; क्योंकि शारीरिक संस्कारसे भी अधिक मानसिक (आध्यात्मिक)-संस्कारकी आवश्यकता होती है।

इतिकर्तव्यता—नाल-छेदन तथा स्नान कराके बालकको मधुस्वर्ण-मिश्रित घृत चटाया जाता है। इसमें स्वर्ण त्रिदोषनाशक है, घृत आयुवर्धक तथा वात-पित्तनाशक है एवं मधु कफनाशक है। इन तीनोंके मिश्रणको चटानेसे दोषोंका नाश होकर बालकके शारीरिक यन्त्र—आँत आदि कर्म करने लगते हैं। डॉक्टरलोग मधुके साथ एरण्डीका तेल मिलाकर देते हैं, परन्तु स्वर्ण एवं घृत-जैसे रासायनिक

जीवनशक्तिप्रदायक पदार्थोंसे युक्त प्राचीन शास्त्रीय प्रयोग ही अत्यधिक उपयुक्त है।

'अग्निरायुष्मान्स वनस्पतिभिरायुष्मान् तेन त्वायुषाऽऽयुष्मन्तं करोमि।'

जिस प्रकार अग्निदेव वनस्पतियोंद्वारा आयुष्मान् हैं, उसी प्रकार उनके अनुग्रहसे मैं तुम्हें दीर्घायुसे युक्त करता हूँ।

ऐसे ८ मन्त्रोंको बालकके कानके पास गम्भीरतापूर्वक जपकर उसके मनको उत्तमभावोंसे भावित करते हैं एवं उसके शरीरका स्पर्श करके भी कुछ मन्त्र बोलनेका विधान किया गया है।

दूध माँका ही—इस संस्कारमें माँके स्तनोंको धोकर दूध पिलानेका विधान इसलिये किया गया है कि माँके रक्त और मांससे उत्पन्न बालकके लिये माँका दूध ही शरीर-विज्ञानकी दृष्टिसे सर्वाधिक पोषक पदार्थ है। इस बातको आजके डॉक्टर भी स्वीकार करने लगे हैं। मनोविज्ञानकी दृष्टिसे माँका स्नेह ही साक्षात् स्निग्ध दूध बनकर निकलता है, अतः बालकपर माँके स्नेहकी अमिट छाप पड़ती है तथा माँके गुणोंका बालकमें संचार हो जाता है। 'जो स्त्रियाँ बालकको अपना दूध पिलाती हैं, वे जल्दी वृद्धा हो जाती हैं, उनके शरीरकी शोभा मारी जाती है' इत्यादि विलासितामूलक धारणाओंको बालकके लिये अति अहितकारी तो आजके डॉक्टरोंने भी माना है, अतः जहाँतक हो सके, माँका ही दूध पिलाना चाहिये। अन्यथा यदि माँ मूर्खतायुक्त स्वार्थके वश होकर अपना स्नेहमय दुग्ध बालकको नहीं पिलाती तथा धायके पराधीन बालकको कर देती है, तो माँके स्नेहसे वंचित बालक माँसे स्नेह न करे तथा मूर्खतायुक्त स्वार्थवश माँका पालन न करके माँको पराधीन कर दे तो इसमें आश्चर्य ही क्या है?

नामकरण-संस्कार-विज्ञान

फल—

आयुर्वर्चोऽभिवृद्धिश्च सिद्धिर्व्यवहृतेस्तथा।
नामकर्मफलं त्वेतत् समुद्दिष्टं मनीषिभिः॥

(स्मृतिसंग्रह)

बुद्धिमान् ऋषियोंने नामकरणका फल आयु तथा तेजकी वृद्धि और व्यवहारकी सिद्धि बताया है।

काल—

'जननाद् दशरात्रे व्युष्टे शतरात्रे संवत्सरे वा नामकरणमिति।'

(गो० गृ० सू० २)

जन्मसे दस रात्रियोंके बाद ग्यारहवें दिन या सौवें दिन या एक वर्ष बीत जानेपर नामकरण-संस्कार करे।

नामकरण-संस्कारमें माताकी उपस्थिति हो सके इसके लिये दस दिनके बाद ग्यारहवें दिन नामकरण करनेको कहा है। मुख्य पक्ष यही है, किंतु माताकी रुग्णावस्था या पिताके घरपर न होने आदि कारणोंको ध्यानमें रखकर सौवें दिन या एक वर्ष बाद—ये दो पक्ष विकल्परूपमें और रखे हैं।

आवश्यकता—संसारमें व्यवहारकी सुगमताके लिये सभी पदार्थोंके पृथक्-पृथक् नाम रखने ही पड़ते हैं। उन पदार्थोंके नाम भी प्रायः सोच-विचारकर इस प्रकार रखे जाते हैं, जिससे उन नामोंको सुनकर ही उनके गुणों तथा उपयोगिताका बोध हो जाय। पुस्तकोंके नाम रखनेमें तो इस बातपर बहुत अधिक ध्यान वर्तमानकालमें भी सभी रखते हैं। भूतकालमें शास्त्रके आज्ञानुसार मनुष्योंके नामकरणमें भी इसका बहुत ध्यान रखा जाता था। जैसे **'रमणात् रामः'** अर्थात् सबके हृदयमें अपने उत्कृष्ट गुणों तथा आचरणसे जो रम जाय सो राम। जो सबको रुलाये सो रावण। दस दिनके बालकका गुणोंके अनुसार नामकरण करना दूसरोंकी तो बात ही क्या, माता-पिताद्वारा

भी सम्भव नहीं; क्योंकि बालकके गुण-दोष अभी प्रकट ही नहीं हुए। अतः यह कार्य किसी सुयोग्य भविष्यवेत्ता ज्योतिषीसे कराना चाहिये। अन्यथा अत्यन्त भयभीत स्वभाववालेका निर्भयसिंह नामकरण हो जानेपर व्यवहारमें उसे लोग शर्मिन्दा करते रहेंगे और वह मनुष्य भी अपनेमें हीनताका अनुभव करता रहेगा।

इतिकर्तव्यता—'द्व्यक्षरं चतुरक्षरं वा घोषवदाद्यन्तरन्तःस्थं दीर्घाभिनिष्ठानं कृतं कुर्यात् न तद्धितम्। अयुजाक्षरमाकारान्तं स्त्रियै तद्धितम्। शर्म ब्राह्मणस्य वर्म क्षत्रियस्य गुप्तेति वैश्यस्य।'

(पार० गृ० सू० १।१७।२-३)

नाम दो या चार अक्षरोंका होना चाहिये। आदिमें ग घ ज झ ड ढ आदि घोष अक्षर हों, मध्यमें य र ल व अन्तःस्थ अक्षर हों, अन्तमें दीर्घ स्वरसंयुक्त कृदन्त नाम रखे, तद्धित नहीं। स्त्रियोंके नाम अयुग्म अक्षरोंका आकारान्त हो, तद्धित होनेपर भी कोई हानि नहीं। ब्राह्मणका शर्मा, क्षत्रियका वर्मा, वैश्यका गुप्त ऐसा विशेषण अन्तमें लगाये।

दो या चार अक्षरोंका नाम रखनेका विधान इसलिये किया है कि बहुत बड़ा नाम पुकारनेमें असुविधा-सी होती है, जिससे लोग नामको तोड़-मरोड़कर अधूरा नाम लेकर ही पुकारने लगते हैं, परंतु यह नियम भगवत्-सम्बन्धी नामोंके लिये नहीं है। वे नाम तो जैसे प्रसिद्ध हैं, वैसे ही रखने चाहिये। घोष आदि अक्षरोंका विधान उच्चारणकी सुगमताकी दृष्टिसे किया गया है। स्त्रीके नामकरणमें भेद स्वरमें कोमलता तथा स्त्रीपनाको प्रकट करनेके लिये किया गया। स्त्रीका नाम वृक्ष, नदी, पर्वत, सर्पादि भयंकर वस्तु-वाचक नहीं होना चाहिये। यह नियम गंगा, यमुना आदि पवित्र नदियोंको छोड़कर अन्यके बारेमें ही समझना चाहिये।

निष्क्रमण-संस्कार-विज्ञान

फल—'निष्क्रमणादायुषो वृद्धिरप्युद्दिष्टा मनीषिभिः।' निष्क्रमणका फल बुद्धिमानोंने आयुकी वृद्धि बताया है।

काल—यह संस्कार जब बालक चार महीनेका हो जाता है, तब किया जाता है।

आवश्यकता—एक महीनेसे चार महीनेतक बालकका शरीर अत्यन्त कोमल रहता है, अतः उसके अनुरूप घरके अन्दरकी ही धूप तथा वायुका सेवन कराया जाता है, बाहरकी तेज धूप तथा वायुसे और क्रूर दृष्टियोंसे कोमल बालककी रक्षा करनेके लिये घरसे उसे बाहर नहीं ले जाते। चार महीनेमें जब धीरे-धीरे बालक बाह्य वातावरणको सहन करनेयोग्य हो जाता है, तब उसे घरसे बाहर निकालते हैं। बाहरकी खुली धूप तथा वायु घरकी धूप तथा वायुकी अपेक्षा स्वास्थ्यके लिये हितकर होनेसे आयुवृद्धि होना ठीक ही है।

इतिकर्तव्यता—'शिवे ते स्तां द्यावापृथिवी असंतापे अभिश्रियौ। शं ते सूर्य आ तपतु शं वातो वातु ते हृदे। शिवा अभि क्षरन्तु त्वापो दिव्याः पयस्वतीः॥' (अथर्व० ८।२।१४)

हे बालक ! तेरे निकलनेके समय द्युलोक तथा पृथ्वीलोक कल्याणकारी, सुखद एवं शोभास्पद हों। सूर्य तेरे लिये कल्याणकारी प्रकाश करें। तेरे हृदयमें स्वच्छ कल्याणकारी वायुका संचार हो। गंगा, यमुना आदि दिव्य जलवाली नदियाँ तेरे लिये निर्मल स्वादिष्ट जलका वहन करें।

आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वीसे बालकका शरीर बना है। इन्हींसे आजीवन उसकी वृद्धि तथा पुष्टि होनी है, अतः वात्सल्य (प्रेम)-परवश सुहृद् पिता अधिदैव-विज्ञानानुसार आकाशादि पंचभूतोंके अधिष्ठाता देवताओंसे बालकके कल्याणकी कामना करता है।

अन्नप्राशन-संस्कार-विज्ञान

फल—'अन्नाशनान्मातृगर्भे मलाशाद्यपि शुध्यति।'

अन्नप्राशन-संस्कारद्वारा माताके गर्भमें मलिनताभक्षणजन्य दोषोंका नाश हो जाता है।

काल—जब बालक छः-सात महीनेका होता है, दाँत निकलने लगते हैं, पाचन-शक्ति प्रबल होने लगती है, तब यह संस्कार किया जाता है।

आवश्यकता—पाचन-शक्तिकी वृद्धि हो जानेके कारण केवल माताके दूधसे बालकका भरण-पोषण पूरा हो नहीं पाता, ऐसी अवस्थामें यदि अन्न न खिलाया जायगा तो बालकके रक्त और मांसको ही जठराग्नि जलाने लग जायगी, जिससे बालक दुबला होता जायगा तथा क्षुधा-निवृत्तिके लिये मिट्टी आदि अभक्ष्य पदार्थोंका भक्षण करने लगेगा, जिससे नाना प्रकारके पाण्डु आदि रोग उत्पन्न हो जायँगे। दाँतोंका निकलना यह सूचित कर देता है कि बालकका भोजन अब दूध नहीं, अपितु उसे दाँतसे खानेयोग्य अन्न देना चाहिये।

इतिकर्तव्यता—

शिवौ ते स्तां व्रीहियवावबलासावदोमधौ।
एतौ यक्ष्मं वि बाधेते एतौ मुञ्चतो अंहसः॥

(अथर्व० ८।२।१८)

हे बालक! जौ और चावल तुम्हारे लिये बलदायक तथा पुष्टिकारक हों; क्योंकि ये दोनों वस्तुएँ यक्ष्मानाशक हैं तथा देवान्न होनेसे पापनाशक हैं।

इस मन्त्रको बोलकर घरके दादा-दादी, माता-पिता आदि **सोनेकी मोहरसे या चाँदीके सिक्केसे या चाँदी-सोनेकी चम्मचों**

अथवा शलाकाओंसे बालकको खीर आदि अन्न चटाते हैं। प्रारम्भमें अन्न खिलानेका ही विधान करके यह सूचित कर दिया गया है कि अन्न ही मनुष्यका स्वाभाविक भोजन है, मांस आदि नहीं। विशेष करके इस कलियुगमें तो अन्नपर ही जीवन निर्भर है। सोना-चाँदी रसायन होनेसे जीवनशक्ति बढ़ाते हैं।

चूडाकरण-संस्कार-विज्ञान

फल—'बलायुर्वर्चोवृद्धिश्च चूडाकर्मफलं स्मृतम्।'

बल, आयु तथा तेजकी वृद्धिको ही चूड़ा (चोटी)-करणका फल कहा है।

काल—यह संस्कार प्रथम या तीसरे वर्षमें किया जाता है।

आवश्यकता—जीवनके सभी कार्योंकी सफलतामें बल तथा बुद्धिकी परम आवश्यकता होती है। सिर ज्ञानका केन्द्र है, इसमें तो किसीको विवाद ही नहीं, बल (क्रियाशक्ति)-का आधार शरीरमें स्थित मेरुदण्डके भीतर रहनेवाली सुषुम्ना नाड़ी है। इसी नाड़ीसे दूसरी नाड़ियाँ और उपनाड़ियाँ शरीरमें जालकी तरह फैली हुई हैं। जिनके द्वारा शरीरके अंग-प्रत्यंगमें क्रिया करनेकी सामर्थ्य आती है। क्रियाशक्ति (बल)-की आधारभूता यह सुषुम्ना नाड़ी सिरमें जहाँ जाकर समाप्त होती है, वहाँ 'अधिपति' नामका अति कोमल मर्मस्थान होता है, यहाँ चोट लगनेपर तत्काल मरण हो जाता है। ऐसा सुश्रुतसंहितामें भी अति स्पष्ट शब्दोंमें कहा गया है—

'मस्तकाभ्यन्तरोपरिष्ठात् सिरासन्धिसन्निपातो रोमावर्तोऽधिपतिः तत्रापि सद्य एव [मरणम्]।' (सुश्रुत० शारीर० ६। २७)

मस्तकके भीतर ऊपरको जहाँपर बालोंका भँवर होता है, वहाँ सम्पूर्ण नाड़ियों और सन्धियोंका मेल हुआ है। उसे 'अधिपति' नामका मर्मस्थान कहा जाता है, जहाँपर चोट लगनेसे तत्काल मृत्यु हो जाती है।

ऐसे प्राणनाशक मर्मकी रक्षाके लिये तथा ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्तिकी सुरक्षा एवं वृद्धिके लिये ऋषियोंने उस स्थानपर चोटी रखनेका विधान किया है। मर्मस्थानके रक्षित हो जानेसे आयुकी वृद्धि

होना तथा क्रियाशक्ति (बल)-की और ज्ञानशक्तिकी रक्षा तथा वृद्धिसे बल तथा बुद्धि (ज्ञान)-की वृद्धि होना ठीक ही कहा गया है। लौकिक दृष्टिसे देखें तो सभी जातियों या धर्मोंका एक अपना चिह्न होता है, जिससे लोग उसे पहचान लेते हैं। इस दृष्टिसे चोटी हिन्दू जातिका तथा सनातन धर्मका चिह्न भी है। अतः इन सभी कारणोंसे चोटी रखनेकी अति आवश्यकता है।

इतिकर्तव्यता—

'नि वर्त्तयाम्यायुषेऽन्नाद्याय प्रजननाय रायस्पोषाय सुप्रजास्त्वाय सुवीर्याय॥' (यजु० ३।६३)

हे बालक! दीर्घायुके लिये, अन्नग्रहणमें समर्थ बनानेके लिये, उत्पादनशक्तिके लिये, ऐश्वर्यवृद्धिके लिये, सुन्दर सन्तानके लिये, बल तथा पराक्रम-प्राप्तिके योग्य होनेके लिये तेरा चूड़ाकरण (मुण्डन) करता हूँ।

इस मन्त्रसे बालकको सम्बोधित करके शुभ मुहूर्तमें हल्के हाथवाले कुशल नाईसे बालकका मुण्डन कराये। बादमें सिरपर मक्खन या मलाईकी मालिश करे।

उपनयन-संस्कार-विज्ञान

फल—

उपनीतेः फलं त्वेतद् द्विजतासिद्धिपूर्विका।
वेदाधीत्यधिकारस्य सिद्धिः ऋषिभिरीरिता॥

उपनयनका फल ऋषियोंने यह बताया है कि द्विजत्वकी प्राप्ति होकर वेदके अध्ययनका अधिकार प्राप्त हो जाता है।

काल—

गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम्।
गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः॥

(मनु० २।३६)

ब्राह्मण-बालकका गर्भसे आठवें वर्ष, क्षत्रियका ग्यारहवें वर्ष और वैश्यका बारहवें वर्ष उपनयन-संस्कार करना चाहिये।

इस प्रकारके काल-विभागमें भी दो कारण हैं। एक तो यह कारण है कि देवताओंमें वसुओंको ब्राह्मण माना जाता है, उनकी संख्या आठ है, अतः ब्राह्मण बालकका आठवें वर्ष उपनयन (यज्ञोपवीत—जनेऊ) संस्कार करनेको कहा है एवं देवताओंमें रुद्र ग्यारह और आदित्य बारह हैं, इन्हें क्रमशः क्षत्रिय और वैश्य माना गया है, अतः क्षत्रिय बालकका ग्यारहवें और वैश्य बालकका बारहवें वर्षमें उपनयन करनेको कहा है। दूसरा कारण यह है कि गायत्री, त्रिष्टुभ् और जगती छन्दोंसे क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यकी उत्पत्ति हुई है, ऐसा शास्त्रमें कहा है—

'गायत्र्या छन्दसा ब्राह्मणमसृजत् त्रिष्टुभा राजन्यम्, जगत्या वैश्यम्।'

इन तीनों छन्दोंके प्रथम चरण क्रमशः ८-११-१२ अक्षरोंके

होते हैं, अतः उत्पादक छन्दके अक्षरोंके अनुसार आठवें वर्षमें ब्राह्मण, ग्यारहवेंमें क्षत्रिय तथा बारहवें वर्षमें वैश्य बालकका उपनयन-संस्कार करनेको कहा है। यदि किसी कारणवशात् इन कालोंमें उपनयन-संस्कार न हो सके तो ब्राह्मणका सोलहवें, क्षत्रियका बाईसवें और वैश्यका चौबीसवें वर्षतक उपनयन अवश्य कर देना चाहिये। यह बात भी मनुजीने ही कही है—

आ षोडशाद् ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्तते।
आ द्वाविंशात्क्षत्रबन्धोरा चतुर्विंशतेर्विशः॥

(मनु० २।३८)

वसन्त-ऋतुमें ब्राह्मणका, ग्रीष्म-ऋतुमें क्षत्रियका और शरत्-ऋतुमें वैश्यका उपनयन करनेका जो विधान किया है, उसका कारण यह है कि वसन्त-ऋतु अति शीत तथा अति उष्ण न होकर सौम्य प्रकृतिकी होती है, अतः ब्राह्मणकी सौम्य प्रकृतिके अनुकूल है एवं ग्रीष्म-ऋतु उग्र होनेसे उग्र प्रकृतिवाले क्षत्रियके स्वभावके अनुकूल है। इसी प्रकार शरत्-ऋतु धन-धान्य-सम्पन्न होनेसे धन-धान्य-सम्पन्न होनेकी इच्छावाले वैश्यके स्वभावके अनुकूल है।

'वसन्ते ब्राह्मणं ग्रीष्मे राजन्यं शरदि वैश्यम्'

आवश्यकता—किसी भी कार्य-क्षेत्रमें प्रवेश पानेके लिये अधिकार प्राप्त करना परम आवश्यक होता है, इसमें किसीका भी विवाद नहीं है। अतः वेदाध्ययन आदि श्रौत, स्मार्त कर्म करनेके लिये भी अधिकार-प्राप्तिरूप उपनयन-संस्कार कराना परम आवश्यक है; क्योंकि मनुजीने स्पष्ट कहा है कि मौंजी-बन्धनरूप उपनयन-संस्कारके बिना द्विज किसी भी वैदिक कर्मका अधिकारी नहीं होता—

'न ह्यस्मिन् युज्यते कर्म किञ्चिदामौञ्जिबन्धनात्।'

(मनु० २। १७१)

इसका मुख्य कारण यह है कि द्विजका ही वेदाध्ययन आदि वैदिक कर्मोंमें अधिकार है, इस द्विजत्व (द्वितीय जन्म)-में गायत्री माता स्थानीय और आचार्य पिता स्थानीय होता है, ऐसा मनुजीने कहा है—

'तत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते।'

(मनु० २। १७०)

इतिकर्तव्यता—शास्त्रीय इतिकर्तव्यता देना यहाँ सम्भव नहीं, अतः अति उपयोगी इतिकर्तव्यताका कुछ भाव यहाँ दिया जाता है। शास्त्रविधिसे सभी कार्य सम्पन्न हो जानेके अनन्तर गुरु बालकके कन्धेपर हाथ रखकर अपनापन प्रकट करते हुए अति वात्सल्यभावसे प्यारभरे उदार शब्दोंमें कहता है—

मम व्रते ते हृदयं दधामि। मम चित्तमनुचित्तं तेऽस्तु।
मम वाचमेकमना जुषस्व बृहस्पतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम्॥

वत्स! मैं अपने व्रतका तेरे हृदयमें आधान करता हूँ। मेरे चित्तके अनुकूल तेरा चित्त हो। मेरी वाणीको एकाग्र मनसे श्रवण करना। देवगुरु बृहस्पति तुझे मुझसे संयुक्त करें।

इस प्रकार आचार्यके परम प्यारभरे उदार उद्गारपूर्ण वचनको श्रवण करके बालकको अपने गुरुसे वैसा जरा भी डर नहीं लगता, जैसा आजकलके बालकोंको पाठशालामें प्रवेश करनेपर लगता है। अपने पास बालकको रखकर आचार्य वेदाध्ययनके अतिरिक्त निम्नलिखित उपदेश भी देता है—

नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद् देवर्षिपितृतर्पणम्।
देवताभ्यर्चनं चैव समिदाधानमेव च॥

वर्जयेन्मधु मांसं च गन्धं माल्यं रसान् स्त्रियः।
शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम्॥
अभ्यङ्गमञ्जनं चाक्ष्णोरुपानच्छत्रधारणम्।
कामं क्रोधं च लोभं च नर्तनं गीतवादनम्॥
द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथानृतम्।
स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भावुपघातं परस्य च॥

(मनु० २। १७६—१७९)

(इन श्लोकोंमें लोक, परलोक-सुधार और ब्रह्मचर्य-पालनकी आधारभूत शिक्षाएँ दी गयी हैं। विभागपूर्वक अर्थ नीचे दिया गया है।)

(१) नित्य स्नान करके पवित्र हुआ ब्रह्मचारी देवता, ऋषि तथा पितरोंका तर्पण करे और देवताओंकी पूजा भी करे तथा हवनके लिये लकड़ी लाये। (यह परलोक-सुधारकी आधारभूत शिक्षा है।) (२) मधु, मांस, गन्ध, माला, अतिवीर्य-वर्धक रस, स्त्री, शुक्त (खटाई), तेल-मालिश, अंजन, जूता, छाता, नाचना, गाना, स्त्रीको देखना, आलिंगन करना आदिको छोड़ दे (यह ब्रह्मचर्य-पालनकी आधारभूत शिक्षा है।) (३) प्राणियोंकी हिंसा, जुआ, कलह, पर-निन्दा, झूठ, पर अपकार न करे (यह लोकसुधारभूत शिक्षा है)।

केवल वाणीसे ही ये शिक्षाएँ नहीं दी जाती थीं, किन्तु गुरुजन तत्परतासे इनका पालन भी कराते थे। आज इन शिक्षाओंके अभावके कारण ही परलोक-सुधारकी बात तो दूर रही, इस लोकका सुधार भी नहीं हो रहा है। स्त्री-पुरुषोंकी युवावस्थापर्यन्त सहशिक्षा, नाच, गान, शृंगार आदि विपरीत साधनोंके कारण विद्यार्थी-अवस्थामें ब्रह्मचर्य-पालनके स्थानपर पूर्ण रीतिसे ब्रह्मचर्यका विनाश हो जाता है। इसका फल यह हो रहा है कि पाठशालामें रहते ही विद्यार्थी

अध्यापकों तथा समाज एवं अपने जीवनमें भी जटिल समस्याएँ पैदा कर रहे हैं।

प्राचीन गुरुकुल-शिक्षाप्रणालीमें उक्त लोक-परलोक तथा जीवन-सुधारके अतिरिक्त एक यह भी विशेषता थी कि धनी तथा गरीब सभी एक स्तरपर रहते थे। धनाभावके कारण किसीको शिक्षासे वंचित नहीं रहना पड़ता था। सादगीयुक्त साधनामय जीवन-यापनका स्वभाव बन जाता था। १२ वर्षपर्यन्त गुरुजनोंके सामने विनयपूर्वक रहनेके कारण विद्याका फल (**विद्या ददाति विनयम्**) प्रथम ही प्राप्त हो जाता था।

यज्ञोपवीत—किसी कार्यमें अधिकार-प्राप्त अधिकारीको धारण करनेके लिये चिह्न-विशेष देनेकी प्रथा सर्वत्र है। उस चिह्नमें जो चित्र या रेखाएँ या अंक आदि बनाये जाते हैं, उनका उस कार्यके विषयमें या अधिकारीके विषयमें कुछ संकेत या निर्देशरूपमें सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। इससे यह लाभ होता है कि उस कार्यके लिये उस व्यक्तिसे लोग आशा रखते हैं और चिह्नके अनुकूल कार्य करनेपर उसकी प्रशंसा तथा न करनेपर निन्दा करते हैं। इसका मनोवैज्ञानिक प्रभाव यह होता है कि उस चिह्नको धारण करनेवाला व्यक्ति उसके अनुकूल कार्य-सम्पादनकी कुशलता प्राप्त करनेकी पूरी चेष्टा करता है। चिह्न-धारणके इस मनोवैज्ञानिक लाभको आधार बनाकर यज्ञोपवीतरूप चिह्न भी धारण कराया जाता है, अतः अन्य प्रकारके चिह्न धारण करनेकी तरह यज्ञोपवीत धारण करना-कराना बुद्धिमत्तामूलक ही है, मूर्खतामूलक जंगलीपना नहीं।

इस यज्ञोपवीत (जनेऊ)-में तीन धागे होते हैं, यह त्रिवृत् होता है, ९६ चप्पेका बनाया जाता है, ब्रह्मग्रन्थि ऊपर लगायी जाती है। इनमें किन बातोंका संकेत या निर्देश है, यह बात समझकर धारण

करनेपर सदाचार-सम्पादनमें बहुत सहायता होती है, अतः संक्षेपमें उन्हें यहाँ लिखा जा रहा है।

९६ चप्पे—(१) वेदोंमें एक लाख मन्त्र हैं। उनमेंसे अस्सी हजारमें कर्म, सोलह हजारमें उपासना और चार हजारमें ज्ञानका प्रतिपादन है। ज्ञानके अधिकारी संन्यासी होते हैं, कर्म और उपासनाके अधिकारी अन्य तीन आश्रमी हैं। संन्यासाश्रममें शिखा और सूत्रका परित्याग हो जाता है, अतः ज्ञानके चार हजार मन्त्रोंको निकालकर छियानबे हजार मन्त्र शेष बचते हैं, इसलिये छियानबे चप्पे रखे जाते हैं। (२) गायत्री-मन्त्रमें चौबीस अक्षर होते हैं, चारों वेदोंमें व्याप्त गायत्री छन्दके २४×४=९६ अक्षर होते हैं। गायत्री तथा वेदोंमें अधिकार यज्ञोपवीत-संस्कार हो जानेपर ही होता है, इसलिये भी ९६ चप्पे रखे जाते हैं। यह बात स्पष्ट कही गयी है—

चतुर्वेदेषु गायत्री चतुर्विंशतिकाक्षरी।
तस्माच्चतुर्गुणं कृत्वा ब्रह्मतन्तुमुदीरयेत्॥

(३) सामुद्रिकशास्त्रकी दृष्टिसे मानव-शरीरकी लम्बाई ८४से १०८ अंगुलतक होती है, जिसकी बीचकी लम्बाई ९६ अंगुल होती है, अतः ९६ चप्पे रखे जाते हैं।

तीन धागा तथा त्रिवृत्—शारीरिक, मानसिक, वाचिक—इन तीन प्रकारके व्रतोंको धारण करनेकी सूचना तीन धागोंसे दी गयी है। उन व्रतोंका पालन सब देशोंमें तथा सब कालोंमें सब व्यक्तियोंको करनेकी सूचना त्रिवृत् (तिहरा)-से दी गयी है। यज्ञोपवीत शास्त्रविधिसे बना हुआ ही धारण करना चाहिये, बाजारू नहीं। कटि (कमर)-तक हो, इससे कम या ज्यादा नहीं।

ब्रह्मग्रन्थि—ब्रह्मकी प्राप्ति ही जीवनका मुख्य उद्देश्य है, इस बातको गाँठमें बाँध लो अर्थात् दृढ़तासे धारण करो। इस भाषाको

दर्शनेके लिये ही यज्ञोपवीतके ऊपर ब्रह्मग्रन्थि लगायी जाती है, इसीलिये इसका एक नाम ब्रह्मसूत्र भी है।

यज्ञोपवीत-धारण-विधि—निम्नलिखित मन्त्र बोलकर यज्ञोपवीत धारण करना चाहिये—

'यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात्।
आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः॥'

यज्ञोपवीत परम पवित्र है, सृष्टिके प्रारम्भमें प्रजापति ब्रह्माके साथ ही यह उत्पन्न हुआ है। यह आयु, बल और तेज देनेवाला है, इसलिये इसे धारण करना चाहिये।

सूतके मृतके क्षौरे चाण्डालस्पर्शने तथा।
रजस्वलाशवस्पर्शे धार्यमन्यन्नवं तदा॥
मलमूत्रे त्यजेद् विप्रो विस्मृत्यैवोपवीतधृक्।
उपवीतं तदुत्सृज्य दध्यादन्यन्नवं तदा॥

घरमें किसीका जन्म या मृत्यु होनेपर, क्षौरकर्मके अनन्तर, रजस्वला स्त्री, चाण्डाल तथा मुर्दाको छूनेपर, कानमें यज्ञोपवीत चढ़ाये बिना मल-मूत्रका त्याग करनेपर नया यज्ञोपवीत धारण करना चाहिये। इसी प्रकार श्रावणी (रक्षाबन्धन—श्रावण पूर्णिमा), चन्द्र और सूर्य-ग्रहणपर भी यज्ञोपवीत बदलनेका विधान किया गया है।

'ब्रह्मचारिण एकं स्यात्।'
'यज्ञोपवीते द्वे धार्ये श्रौते स्मार्ते च कर्मणि।
तृतीयमुत्तरीयार्थे वस्त्राभावे तदिष्यते॥'

(विश्वामित्र)

ब्रह्मचारीको एक, श्रौत तथा स्मार्त कर्म करनेके लिये दो, उत्तरीय-वस्त्रके अभावमें तीन यज्ञोपवीत धारण करने चाहिये।

यज्ञोपवीत कानपर क्यों—शरीर-विज्ञानकी दृष्टिसे दाहिने कानकी लोहितिका नामकी नाड़ी मल-मूत्रके द्वारतक पहुँचती है, इसको वेध देनेपर या कसकर बाँध देनेपर मल-मूत्र त्याग करते समय जोर लगानेपर वीर्यपात या अन्य गुदा तथा मूत्रेन्द्रिय-सम्बन्धी रोग उत्पन्न होनेमें रुकावट होती है। शास्त्रीय दृष्टिसे तो ज्ञान-केन्द्र होनेके कारण शरीरमें सिरको पवित्र माना गया है। उसमें भी दाहिने कानमें आदित्य, वसु, रुद्र, वायु, अग्नि और धर्म नामके देवताओंका निवास माना है। इसलिये दाहिने कानके परमपवित्र होनेके कारण यज्ञोपवीतको कानपर चढ़ाते हैं—

आदित्या वसवो रुद्रा वायुरग्निश्च धर्मराट्।
विप्रस्य दक्षिणे कर्णे नित्यं तिष्ठन्ति देवताः॥

सूर्य, वसु, रुद्र, वायु, अग्नि और धर्मराज—ये सभी देवता ब्राह्मणके दाहिने कानमें सदा निवास करते हैं।

इस प्रकार यज्ञोपवीत-संस्कारकी उपयोगिता, स्वरूप, अधिकार, धारणविधि आदिको समझकर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यको यज्ञोपवीत अवश्य ही धारण करना चाहिये और उनके नियमोंका तत्परतापूर्वक पालन भी अवश्य करना चाहिये, इसे जंगलीपना या व्यर्थका ढकोसला नहीं मानना चाहिये।

समावर्तन-संस्कार-विज्ञान

फल—'गृहप्रवेशाधिकारः समावर्तनफलं स्मृतम्।'

गृहस्थीमें प्रवेश पानेका अधिकारी हो जाना समावर्तन-संस्कारका फल है।

काल—

वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम्।
अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममावसेत्॥

(मनु० ३।२)

तीनों वेदोंका या दो वेदोंका या एक वेदका क्रमानुसार अध्ययन करके अखण्ड ब्रह्मचर्ययुक्त (समावर्तन-संस्कार कराके) गृहस्थाश्रममें निवास करे।

आवश्यकता—ब्रह्मचर्य-पालनमें बाधक होनेके कारण तैल-मर्दन, अंजन लगाना, फूलमाला पहनना आदि शृंगारके साधनोंका परित्याग कराया गया है। गृहस्थीमें प्रवेश करके सन्तान-उत्पादनके लिये उनका ग्रहण करना आवश्यक है। अतः समावर्तन-संस्कारमें स्नान कराके शृंगारके साधनोंसे अलंकृत करके गृहप्रवेशका अधिकारी बनाना अति आवश्यक है।

इतिकर्तव्यता—यद्यपि ब्रह्मचारी नित्य ही स्नान करके सन्ध्यावन्दन आदि करता था तथापि वह स्नान केवल पवित्रता-सम्पादनके लिये किया जाता था, सुन्दरता-सम्पादनके लिये नहीं किया जाता था। गृहस्थीमें प्रवेश करनेके लिये समावर्तन-संस्कारके माध्यमसे सुन्दरता-सम्पादक स्नान कराया जाता है। इसके लिये वेदमन्त्रोंसे अभिमन्त्रित जलभरे आठ घड़ोंसे विधिपूर्वक विशेष स्नान कराया जाता है। उसके बाद सुन्दर वस्त्राभूषण आदिसे अलंकृत

करके लोक-परलोक-हितकारी एवं जीवनोपयोगी शिक्षा देकर गुरुजन ब्रह्मचारीको विदा करते हैं।

'वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति—सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्॥ १॥

देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्। मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि। तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि। यान्यस्माकꣳ सुचरितानि। तानि त्वयोपास्यानि॥ २॥

नो इतराणि। ये के चास्मच्छ्रेयाꣳसो ब्राह्मणाः। तेषां त्वयासनेन प्रश्वसितव्यम्। श्रद्धया देयम्। अश्रद्धयादेयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्। अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्॥ ३॥

ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः। युक्ता आयुक्ताः। अलूक्षा धर्मकामाः स्युः। यथा ते तत्र वर्तेरन्। तथा तत्र वर्तेथाः। अथाभ्याख्यातेषु । ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः। युक्ता आयुक्ताः। अलूक्षा धर्मकामाः स्युः। यथा ते तेषु वर्तेरन्। तथा तेषु वर्तेथाः। एष आदेशः। एष उपदेशः। एषा वेदोपनिषत्। एतदनुशासनम्। एवमुपासितव्यम्। एवमु चैतदुपास्यम्॥ ४॥

(तैत्तिरीयोपनिषद्, शिक्षावल्ली, अनुवाक ११)

वेदाध्ययन करानेके अनन्तर आचार्य शिष्यको उपदेश देता है—सत्य बोलना। धर्मका आचरण करना। स्वाध्यायमें प्रमाद न करना। आचार्यके लिए प्रिय धन लाकर देना। सन्तान-परम्पराका उच्छेद

न करना। सत्यमें प्रमाद नहीं करना चाहिये। कुशल कर्मोंमें प्रमाद नहीं करना चाहिये। ऐश्वर्य देनेवाले कर्मोंमें प्रमाद नहीं करना चाहिये। स्वाध्याय और प्रवचनमें प्रमाद नहीं करना चाहिये॥ १॥

देवकार्य और पितृकार्योंमें प्रमाद नहीं करना चाहिये। माता, पिता, आचार्य तथा अतिथिको देवता माननेवाले होओ। जो अनिन्द्य कर्म हैं, उन्हींका सेवन करना चाहिये, दूसरोंका नहीं। हमारे जो शुभ आचरण हैं; तुमको उन्हींका आचरण करना चाहिये, दूसरोंका नहीं॥ २॥

जो हमारी अपेक्षा भी श्रेष्ठ ब्राह्मण हैं, उनका आसनादिके द्वारा तुम्हें आश्वासन (आदर) करना चाहिये। श्रद्धापूर्वक देना चाहिये। अश्रद्धापूर्वक नहीं देना चाहिये। अपने ऐश्वर्यके अनुसार देना चाहिये। लज्जापूर्वक देना चाहिये। भय मानते हुए देना चाहिये। मित्रतापूर्वक देना चाहिये। यदि तुम्हें कर्म या आचरणके विषयमें कोई सन्देह उपस्थित हो जाय॥ ३॥

तो वहाँ जो विचारशील कर्ममें स्वेच्छासे भलीभाँति लगे रहनेवाले सरलमति धर्माभिलाषी ब्राह्मण हों, उस विषयमें वे जैसा व्यवहार करते हों, वैसा तुम भी करना। इसी प्रकार जिनपर संशययुक्त दोषारोपण किया गया हो, उनके विषयमें भी वहाँ जो विचारशील, स्वेच्छासे कर्मपरायण, सरलहृदय, धर्माभिलाषी ब्राह्मण हों; वे जैसा व्यवहार करें वैसा तुम भी करना। यह आदेश है, यह उपदेश है, यह वेदका रहस्य और ईश्वरकी आज्ञा है। इसी प्रकार तुमको उपासना करनी चाहिये, ऐसा ही आचरण करना चाहिये॥ ४॥

यह कितनी उपयोगी शिक्षा है। वर्तमानमें ऐसी शिक्षाका अभाव होनेके कारण लोक-परलोक तथा जीवन—सबका विनाश हो रहा है। 'स्वाध्यायमें प्रमाद नहीं करना' यह बात दो बार कहकर

स्वाध्यायकी परम आवश्यकता सूचित की है; क्योंकि सुपथसे विचलित व्यक्ति स्वाध्यायसे पुनः सुपथपर आरूढ़ हो जाता है, ज्ञानाग्नि बुझने नहीं पाती।

'हमारे जो शुभ-आचरण हैं उन्हींका तुमको आचरण करना चाहिये, दूसरोंका नहीं।' अपने ही शिष्यके मुखपर स्वयं अपने ही मुखसे उक्त कथन गुरुकी अति निरभिमानताको अति स्पष्टरूपमें प्रकट करता है। इतना ही नहीं अपितु एक परम गम्भीर मनोवैज्ञानिक सत्यके रहस्यकी भी सूचना देता है। वह रहस्य यह है कि उपदेश देना, ग्रन्थ लिखना तथा विधान बनाना आदि कार्य मनुष्य सत्त्वगुणी अवस्थामें पूर्वापर विचारपूर्वक करता है, किंतु आचरण तो कभी-कभी काम, क्रोध, मोह आदिसे युक्त रजोगुणी, तमोगुणी अवस्थामें आवेगके कारण पूर्वापर विचारके बिना भी करता है। ऐसी दशामें किसी भी मनुष्यका सम्पूर्ण आचरण अनुकरणीय नहीं हो सकता। इसीलिये '**कलौ पाराशरी स्मृता**' अर्थात् कलियुगमें पराशरऋषिकी स्मृति ही धर्माधर्ममें मुख्य प्रमाणरूपसे मान्य होते हुए भी पराशरजीका मत्स्यकन्यागमन अनुकरणीय नहीं माना जाता।

इसके अतिरिक्त एक कारण यह भी है कि महापुरुष अपनी अलौकिक सामर्थ्यके बलपर कभी-कभी धर्मकी मर्यादाका अतिक्रमण करके भी व्यवहार करते हैं। उनके लिये वह दोषकारक न होनेपर भी यदि असमर्थ लौकिक मनुष्य उनका अनुकरण करेगा तो विनष्ट हो जायगा। अतः उनके ऐसे आचरणोंका मनसे भी चिन्तन नहीं करना चाहिये; अन्यथा शंकरजीके विषपानका अनुकरण करनेवाले व्यक्तिकी तरह कृष्णभगवान्‌की रासलीलाका अनुकरण करनेवाला व्यक्ति भी विनष्ट ही हो जायगा। अतः सिद्धान्त यह है कि समर्थ महापुरुषोंके वचन और वचनोंमें भी जो मुख्यरूपसे जिसके लिये

कहे गये हों, बुद्धिमान् मनुष्यको उन्हींका आचरण करना चाहिये। यह सब बातें शुकदेवजीने भागवतमें तब कही हैं, जब राजा परीक्षित्‌ने जनसाधारणके हृदयमें होनेवाली रासलीला-सम्बन्धी शंकाका समाधान पूछा है। वे श्लोक इस प्रकार हैं—

धर्मव्यतिक्रमो दृष्ट ईश्वराणां च साहसम्।
तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा॥
नैतत् समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः।
विनश्यत्याचरन् मौढ्याद्यथारुद्रोऽब्धिजं विषम्॥
ईश्वराणां वचः सत्यं तथैवाचरितं क्वचित्।
तेषां यत् स्ववचोयुक्तं बुद्धिमांस्तत् समाचरेत्॥

(श्रीमद्भा० १०।३३।३०—३२)

रासलीला-सम्बन्धी शंकाओंके अन्य विद्वानोंने जो समाधान दिये हैं, उनकी अपेक्षा शुकदेवजीका समाधान वस्तुस्थितिमूलक होनेसे सर्वोत्तम है।

विवाह-संस्कार-विज्ञान

फल—

ब्राह्माद्युद्वाहसम्भूतः पितॄणां तारकः सुतः।
विवाहस्य फलं त्वेतद् व्याख्यातं परमर्षिभिः॥

(स्मृतिसंग्रह)

ब्राह्म आदि उत्तम विवाहोंसे उत्पन्न पुत्र पितरोंको तारनेवाला होता है। महर्षियोंने यही विवाहका फल बताया है।

'विवाहका फल संभोग-सुख है' ऐसी धारणा आधुनिक भोगवादियोंकी ही है, यह बात विवाहका फल 'तारक पुत्र है' इस कथनसे स्पष्ट हो जाती है।

काल—

'अथास्मै पञ्चविंशतिवर्षाय षोडशदशवर्षां पत्नीमावहेत्।'

(सुश्रुत० शारीरस्थान १०।५३)

पचीस वर्षका पुरुष सोलह वर्षकी कन्याके साथ विवाह करे।

विवाह कब करना चाहिये, इस प्रश्नका सीधा उत्तर यह है कि प्रकृति जब विवाहकी योग्यता प्रदान करे तभी विवाह करना चाहिये। इस दृष्टिसे देखें तो पूर्वाचार्योंका काल-निर्णय ही ठीक है। आधुनिक विचारकोंका निर्णय ठीक नहीं; क्योंकि कन्याका रजस्वला होना प्रकृतिके द्वारा विवाहकी योग्यताका विशुद्ध प्रमाण-पत्र है।

यहाँ ध्यान देनेयोग्य एक विशेष बात यह है कि शास्त्रकारोंने तन तथा मनसे भी कन्याका सतीत्व सुरक्षित रखनेके लिये बारह-तेरह वर्षकी अवस्थामें केवल विवाह करनेकी ही आज्ञा दी है,

गर्भाधान तो सोलह वर्षकी कन्यामें ही करनेको कहा है—

ऊनषोडशवर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम्।
यद्याधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यते॥
जातो वा न चिरञ्जीवेज्जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रियः।
तस्मादत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत्॥

(सुश्रुत० शारीरस्थान १०।५४-५५)

यदि सोलह वर्षसे कम आयुवाली स्त्रीमें पचीस वर्षसे कम आयुवाला पुरुष गर्भाधान करता है तो गर्भ कोखमें ही मर जाता है। यदि सन्तान पैदा हो जाय तो देरतक जिन्दा नहीं रहती, यदि जिन्दा रह जाय तो सदा दुर्बल इन्द्रियवाली ही रहेगी। अतः कम आयुवाली स्त्रीमें गर्भाधान नहीं करना चाहिये।

बारह-तेरह वर्षमें कन्याका विवाह और सोलह वर्षमें गर्भाधान—इन दोनों बातोंकी व्यवस्था बैठानेके लिये गमन या द्विरागमनकी प्रथा बनायी गयी थी, जो आज भी बहुत जगह प्रचलित है। बीस-पचीस वर्षकी लड़की-लड़केका विवाह होना चाहिये, यह आधुनिक प्रथा तो सब प्रकारके विकारोंसे भरपूर है।

आवश्यकता—(१) प्रजा (सन्तति)-की उत्पत्तिद्वारा पितृ-ऋणसे मुक्ति पाना तथा (२) काम-वासनाका नियन्त्रण करना। इन दोनों कार्योंका समुचित रीतिसे सम्पादन करनेके लिये विवाहकी परम आवश्यकता है। शास्त्र-प्रमाणानुसार मनुष्य शास्त्रविधिसे विवाहित पत्नीमें सन्तान उत्पन्न करनेपर ही पितृ-ऋणसे उऋण होता है, अन्य प्रकारसे नहीं। स्त्रीका पुरुषोंके प्रति और पुरुषोंका स्त्रीके प्रति कामासक्त होना प्राकृतिक नियमानुसार स्वाभाविक है; क्योंकि इसके

बिना सृष्टिचक्र चल नहीं सकता, परंतु यह कामासक्ति अमर्यादित होनेपर व्यक्ति तथा समाजमें अनेक समस्याएँ उत्पन्न कर देती है, इसलिये इसे मर्यादित करनेके लिये ही ऋषियोंने विवाहकी प्रथा बनायी है।

स्त्री-पुरुषोंकी सर्वत्र फैली हुई कामासक्तिको विवाह-संस्कारद्वारा संस्कृत करके एक स्थानपर सीमित कर दिया जाता है। शारीरिक, मानसिक तथा सन्तानके स्वास्थ्यकी हानि और लाभके वैज्ञानिक आधारोंपर नियम बनाये गये कि गर्भावस्थामें, अऋतुकालमें तथा पर्वके दिनोंमें स्त्रीसमागम न करना। इन नियमोंद्वारा बादमें उस सीमित कामासक्तिको अति नियन्त्रित किया जाता है। इस प्रकार उक्त दोनों उद्देश्योंकी पूर्ति हो जाती है, जिससे मनुष्य इस लोकमें सुखी जीवन व्यतीत करता है तथा परलोकमें भी पितरोंको सुखी बनाता है।

विवाह माता-पिता करें, स्वयं नहीं

प्रारब्धवशात् या माता-पिताकी अज्ञानतावशात् कुछ सुयोग्य कन्याओंका अयोग्य लड़कोंके साथ एवं सुयोग्य लड़कोंका अयोग्य कन्याओंके साथ विवाह हो जाता है, जिससे सारा जीवन दुःखमय बन जाता है। इस प्रकारकी कुछ घटनाओंको आँखोंसे देखकर दयासे द्रवित दयालु सुधारक पुरुषोंका कहना है कि लड़का-लड़की कुछ समय साथ रहकर देखें, जिससे उनका मन मिल जाय, उसके साथ स्वयं विवाह करें तभी सुखमय जीवन बन सकेगा। स्वयं मन मिलाकर विवाह करनेपर भी यदि कदाचित् मतभेद हो जाय तो तीन वर्षतक मतभेद दूर करनेका प्रयास करें, यदि तीन वर्षमें भी मतभेद दूर न हो तो सारा जीवन दुःखमय

व्यतीत करनेकी कोई जरूरत नहीं है, तलाक देकर दूसरेके साथ विवाह कर लेना चाहिये। माता-पिताके द्वारा विवाहकी प्रथा तो सर्वथा अमनोवैज्ञानिक होनेसे महान् हानिकर है।

इन दयालु सुधारकोंकी दयालुता अदूरदर्शितायुक्त होनेके कारण शास्त्रमर्मज्ञ महापुरुष 'स्वयं विवाह करें' इस पक्षको स्वीकार नहीं करते। आधुनिक मनीषियों तथा प्राचीन ऋषियोंकी विचार-शैलीमें मुख्य अन्तर यह है कि आधुनिक विचारक समस्याके स्थूल—ऊपरी कारणोंको ही समझ पाते हैं, भीतरी मूल कारणको नहीं तथा जिस साधनसे समस्याका समाधान कर रहे हैं; उस साधनसे नयी-नयी समस्याएँ कितनी पैदा हो जायँगी, इस बातको भी दूरतक नहीं समझ पाते। ठीक, इसके विपरीत प्राचीन ऋषियोंकी विचार-शैली है। वे समस्याके भीतरी—मूल कारणतक विचार करते हैं तथा जिस साधनसे समस्याके समाधानका विधान करते हैं, उसपर चतुर्मुखी बुद्धिसे यह भी विचार कर लेते हैं कि इससे नयी समस्याओंका जन्म न होने पाये। यही कारण है कि आधुनिक विचारकों तथा वैज्ञानिकोंके दिये हुए विचारों तथा साधनोंसे प्रत्येक क्षेत्रमें एक समस्याका समाधान हो रहा है तो अनेक नूतन समस्याओंका जन्म हो रहा है।

उदाहरणके लिये विशाल कारखानोंसे मालका उत्पादन अल्पश्रममें हुआ, परंतु बेकारीकी समस्या उत्पन्न हो गयी। कीटाणुनाशक औषधियोंसे फसलकी रक्षा हुई, किंतु खाद्य-पदार्थोंमें तथा वायुमण्डलमें विषमिश्रणसे बीमारियोंकी समस्या उत्पन्न हुई। मोटर, रेल, वायुयान तथा पानीके जहाजोंसे गमनागमनमें सुविधा हुई; परंतु जल, थल तथा नभस्थलका वायुमण्डल दूषित हुआ। रासायनिक खादसे अन्नका

उत्पादन बढ़ा, परंतु खेत तथा पेट खराब हुए। अंग्रेजी दवाइयोंसे एक रोगका दमन तत्काल होता है, परंतु कालान्तरमें अनेक रोगोंका जन्म हो जाता है। यह सब कथन प्राचीनतावादी लोगोंका ही नहीं, अपितु अब तो आधुनिक वैज्ञानिक भी इसे स्वीकार करते हैं। इतना ही नहीं, उससे अति चिन्तित होकर उसे दूर करनेके लिये अन्तर्राष्ट्रीय स्तरपर सभाओंका आयोजन करके विचार करते हैं।

इसी प्रकार स्वयं विवाहकी प्रथासे कुछ लोगोंके जीवन सुखमय बने हैं, तो लाखोंके जीवन दुःखमय बन रहे हैं। इस बातमें अति प्रबल प्रत्यक्ष प्रमाण विदेशोंमें नित्य प्रति तलाकोंकी बढ़ती हुई संख्या है। विदेशोंमें निन्यानबे प्रतिशत विवाह लड़के और लड़कियाँ मन मिलाकर ही करते हैं, तो भी सुखमय जीवन नहीं बनता। सारा जीवन सुखमय बननेकी बात तो दूर रही, दो-चार वर्षका जीवन भी सुखमय नहीं बनता। तभी तो निन्यानबेमेंसे अट्ठानबे एक बार नहीं अनेक बार तलाक देते हैं। तलाक तो कलहपूर्ण दुःखमय जीवन होनेपर ही दिया जाता है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि स्वयं विवाहकी प्रथा सुखमय जीवनकी नहीं, दुःखमय जीवनकी जननी है। इसका मुख्य कारण यह है कि बीस-पचीस वर्षके लड़के और लड़कियाँ दूरतक विचार करनेमें समर्थ नहीं होते; अतः सुन्दर रूप, प्रचुर धन, मधुर वचन, यौवन तथा पद-प्रतिष्ठा आदि चलायमान पदार्थोंके प्रलोभनोंसे प्रलोभित होकर विवाह कर लेते हैं। इन चलायमान पदार्थोंके चले जानेपर कलह होता है, जिससे जीवन दुःखमय बनता है, जिसका फल तलाक होता है। ऋषियोंने इस बातको अपनी दूरदर्शी प्रज्ञासे समझा, अतः लोकमें ही नहीं

परलोकतक अचलायमान धर्मको माध्यम बनाकर धर्मपत्नी तथा धर्मपति बनाया। रूपपत्नी तथा धनपत्नी नहीं बनाया। यही कारण है कि धन, यौवन आदिके चले जानेपर तथा अनेकानेक असाध्य रोगोंसे ग्रस्त हो जानेपर भी अचलायमान धर्मके कारण पति-पत्नीरूप सम्बन्ध भी अचल रहता है।

तीन वर्षतक प्रयास करनेपर भी यदि मतभेद तथा कलह दूर न हों तो तलाक देकर दूसरा विवाह कर लेना चाहिये; क्योंकि सारा जीवन दुःखमय बनानेकी कोई जरूरत नहीं, यह निर्णय भी दूरदर्शितारहित दयालुतामूलक ही है; क्योंकि दूसरी और तीसरी जगह मतभेद नहीं होगा, इसमें क्या प्रमाण है। यदि अन्तमें किसीके साथ कुछ सहकर ही रहना है तो प्रथमसे ही कुछ सहकर क्यों न रहा जाय? यदि कोई और दयालु यह कहे कि तीन वर्षतक कष्ट सहना मूर्खता है, न पटे तो तीन महीनेमें तलाक दे देना चाहिये। इससे भी अधिक दयालु यदि तीन दिन या तीन घंटेमें ही तलाक देनेका समर्थन करें तो क्या उत्तर दिया जायगा? वस्तुतः तलाकोंकी प्रथाके कारण विदेशोंमें पति-पत्नीका सच्चा प्रेम ही नहीं हो पाता, हर समय एक-दूसरेके बारेमें सन्देह बना रहता है कि कहीं दूसरेसे सम्बन्ध करके हमें तलाक न दे दे। जहाँ परस्परमें प्रेम नहीं, वहाँ सुख ही कहाँ?

अब प्राचीन ऋषियोंकी दूरदर्शिताका नमूना देखिये—ऋषियोंने विचार किया कि पति-पत्नी, माता-पिता, बाप-बेटा, राजा-प्रजा तथा गुरु-शिष्य आदिमें सर्वत्र कलहका कारण मतिभेद है, मतिभेदका कारण स्वभाववैचित्र्य है एवं स्वभाववैचित्र्यका कारण गुणवैचित्र्य है। यह गुणवैचित्र्य ही तो सृष्टिका कारण है, अतः सृष्टिमेंसे

गुणवैचित्र्यको सर्वथा समाप्त नहीं किया जा सकता। इस प्रकार कलहके भीतरी मूल कारणतक विचार करके यह निर्णय निकला कि कलहके साक्षात् कारण मतिभेदको सर्वथा दूर नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि सृष्टिमें दो व्यक्तियोंकी मतियोंमें सर्वथा साम्य नहीं होता, कुछ-न-कुछ भेद बना ही रहता है। इतना ही नहीं, एक व्यक्तिकी ही मति सारे जीवन एक-सी नहीं रहती। ऐसी दशामें इस मतिभेदको किसी अचल आधारके सहारे सहा जाय इसके सिवाय और कोई सुदृढ़ उपाय नहीं है। इसीलिये तन, मन, वचन, धन, यौवन आदि चलायमान पदार्थोंके आधारपर नहीं, किंतु अचलायमान धर्मके आधारपर पति-पत्नी, पिता-पुत्र, गुरु-शिष्य तथा राजा-प्रजाको सम्बन्धित किया। इसीलिये ये सम्बन्ध अनेक संकटोंके आनेपर भी लोकमें ही नहीं परलोकतक चलायमान नहीं होते; तलाकों तथा उनसे होनेवाली शारीरिक, मानसिक, आर्थिक तथा सामाजिक नूतन समस्याओंको उत्पन्न नहीं करते।

माता-पिताद्वारा विवाहका विधान भी दूरदर्शितापूर्वक ही किया गया है; क्योंकि चालीस-पैंतालीस वर्षके माता-पिता तथा साठ-सत्तर वर्षके पितामही-पितामह जितनी दूरदर्शितासे पूर्वापर विचार कर सकते हैं, बारह-सोलह-बीस वर्षके लड़के और लड़कियाँ उतनी दूरदर्शितासे विचार नहीं कर सकते। अतः माता-पिताद्वारा विवाह किया जाना ही अधिक हितकर है। इस अधिक हितकारी पक्षका माता-पिताकी मूर्खता समझकर या प्रारब्धवशात् होनेवाली दुर्घटनाओंके कारण त्याग करना तथा अनन्त समस्याओंको उत्पन्न करनेवाली स्वयं विवाह करनेकी प्रथाका समर्थन करना किसी प्रकारसे भी उचित

नहीं कहा जा सकता। शास्त्रोंमें जो कहीं-कहीं स्वयंवरकी चर्चा है, वह भी प्रायः क्षत्रिय जातिमें किसी विशेष योग्यतावाली कन्याके अनुरूप वर न मिलनेपर ही स्वयंवर रचा जाता था और योग्य वर-प्राप्तिके लिये कठिन-से-कठिन शर्त रखी जाती थी। अतः यह सब अपवादरूप ही हैं, विधान तो माता-पिताद्वारा ही विवाह करनेका है। यद्यपि शास्त्रोंमें जो गान्धर्व-विवाहकी चर्चा है, वह मन मिलाकर होनेवाले आधुनिक प्रेम-विवाहकी तरह ही है, तथापि ऋषियोंने उस गान्धर्व-विवाहको उत्तम नहीं माना। दूसरी बात यह है कि गान्धर्व-विवाहवालोंको भी पुनः वैदिक रीतिसे विवाह करके आजीवन साथ रहनेका ही विधान किया है, तलाकका तो वहाँ भी स्थान नहीं है। शास्त्रमें कथित गान्धर्व-विवाहका तो रागवशात् घटितकी व्यवस्थामें ही तात्पर्य है, विधानमें नहीं; क्योंकि ब्राह्म आदि चार प्रकारके विवाहोंसे उत्पन्न सज्जन सन्तानोंकी ही प्रशंसा तथा गान्धर्व आदि चार प्रकारके विवाहोंसे उत्पन्न दुष्ट संतानोंकी निन्दा की गयी है—

ब्राह्मादिषु विवाहेषु चातुर्ष्वेवानुपूर्वशः।
ब्रह्मवर्चस्विनः पुत्रा जायन्ते शिष्टसम्मताः॥
इतरेषु तु शिष्टेषु नृशंसानृतवादिनः।
जायन्ते दुर्विवाहेषु ब्रह्मधर्मद्विषः सुताः॥

(मनु० ३।३९, ४१)

वहाँ गान्धर्व आदि चार विवाहोंको दुर्विवाह स्पष्ट ही कहा गया है।

विवाहके मुख्य अंग

विवाहमें चार कार्य मुख्य हैं—(क) वर-पूजन, (ख)

कन्यादान, (ग) लाजा-होमसहित भाँवरें तथा (घ) सप्तपदी। इनके वैज्ञानिक रहस्योंको यहाँ संक्षेपमें लिखा जा रहा है।

(क) वर-पूजन—किसीको कोई वस्तु जब दान की जाती है, तब उसका पूजन-सम्मान करके दिये जानेपर ही सात्त्विक दान कहलाता है। अतः कन्यादान-जैसे अनुपम दानको परम सात्त्विक दान बनानेके लिये कन्याके पिताद्वारा वरका पूजन करना ही चाहिये। दान जितने श्रेष्ठ भावसे दिया जाता है; उतना ही अधिक सात्त्विक होता है, अतः वरका पूजन विष्णुभावसे करनेका विधान किया गया है।

(ख) कन्यादान—पिता एक शंखमें दूर्वा, अक्षत, पुष्प और जल डालकर कन्यादानका संकल्प करता है। दोनों पक्षोंके कुलगुरु जनसमुदायके बीचमें उच्चस्वरसे तीन पीढ़ियोंतकके पूर्वजोंका गोत्र, प्रवर तथा शाखासहित नाम उच्चारण करते हैं, जिससे परम्परापूर्वक वंशविशुद्धिका ज्ञान सबको हो जाता है। शाखोच्चारके बाद पिता कन्याका हाथ वरके हाथमें अर्पण करता हुआ शंखका जल उसपर डालता है। शंख पवित्रताका प्रतीक है, जल बिखरे कणोंको जोड़ देता है, अक्षत क्षतिरहित सम्बन्धको सूचित करते हैं, गाँठ-गाँठसे विस्तारको प्राप्त होनेवाली दूर्वा वंशविस्तारकी द्योतक है एवं खिला हुआ पुष्प प्रसन्नताका चिह्न है। इन गुणोंसे युक्त वर-वधूका जीवन हो, इस भावनासे कन्यादान करते समय इन वस्तुओंका प्रयोग किया जाता है। वरमें विष्णु और कन्यामें लक्ष्मीकी भावना करनेसे विष्णु-पूजाका फल प्राप्त होता है।

(ग) लाजाहोमसहित चार भाँवरें—कन्यादानके बाद सर्वप्रथम वर सामान्यरूपसे हवन करता है, उसके बाद कन्या अपने भाईकी

सहायतासे शमीपत्रोंसे मिली हुई लाजा (खीलों)-से हवन करती है। इस समय पढ़े जानेवाले सभी मन्त्र लोक-परलोकमें सुख उत्पन्न करनेवाले पवित्र भावोंसे भरपूर होते हैं। शमीवृक्षमें अन्य वृक्षोंकी अपेक्षा अग्नितत्त्व अधिक विद्यमान रहता है। इसीलिये पीपलके गर्भमें उत्पन्न शमीके काष्ठसे अरणि-मन्थनका काष्ठ बनाया जाता है। विवाह भी अग्निदेवताकी साक्षीमें किया जा रहा है, अतः अग्निवर्धक शमीपत्रोंका प्रयोग किया गया है। इसके अतिरिक्त शमी पित्त, कफ, अतिसार और रुधिरविकारकी विनाशक तथा कीटाणुनाशक है; जिससे वायुमण्डलके घातक कीटाणुओंका विनाश हो जाता है। लाजाका निर्माण धानसे होता है, गृहस्थीका जीवन तभी सुखमय जीवन होता है, जब धन-धान्यसे पूर्ण हो। हवन-विज्ञानके अनुसार अग्निमें डाला धान अनन्त गुना होकर प्राणीको प्राप्त होता है, इसलिये लाजाका होम किया जाता है।

लाजा-होमसहित चार भाँवरें करायी जाती हैं। उनमेंसे तीन भाँवरोंमें वधूको आगे रखा जाता है। इसका भाव यह है कि अर्थ, धर्म और काम इन तीन पुरुषार्थोंकी प्राप्तिमें स्त्रीकी प्रधानता होती है। सुयोग्य स्त्री थोड़ी सम्पत्तिसे भी इस प्रकार घरका कारबार कर लेती है, जिससे मनुष्यको अर्थका संकट नहीं होता। श्रद्धाप्रधान होनेसे स्त्रीद्वारा ही मुख्यरूपसे धर्मसम्पादन किया जाता है। काम (भोग)-प्राप्तिका स्त्री मुख्य साधन है, इसमें तो किसीका विवाद ही नहीं। मोक्षरूप चतुर्थ पुरुषार्थ विचार-साध्य होनेके कारण चौथी भाँवर (फेरे)-में विचार-प्रधान पुरुष आगे रहता है।

(घ) सप्तपदी—सप्तपदीका अर्थ है सात कदम साथ

चलना। वर वधूके साथ सात पद साथ-साथ चलता है। एक-एक पदपर परम गृहस्थोपयोगी सात पदों—स्थानोंका अधिकारी स्त्रीको बनानेके लिये निम्नलिखित सात मन्त्र बोलता है—

१—एकमिषे विष्णुस्त्वा नयतु।

२—द्वे ऊर्जे विष्णुस्त्वा नयतु।

३—त्रीणि रायस्पोषाय विष्णुस्त्वा नयतु।

४—चत्वारि मयोभवाय विष्णुस्त्वा नयतु।

५—पञ्च पशुभ्यो विष्णुस्त्वा नयतु।

६—षड् ऋतुभ्यो विष्णुस्त्वा नयतु।

७—सखे! सप्तपदा भव सा मामनुव्रता भव विष्णुस्त्वा नयतु।

१. हे सुभगे! विष्णुभगवान् तुझे अन्न (की रक्षा)-के लिये (गृहस्थका) प्रथम स्थान प्राप्त करायें। २. हे सुभगे! विष्णुभगवान् तुझे बल-प्राप्तिके लिये गृहस्थके दूसरे स्थानको प्राप्त करायें। ३. विष्णुभगवान् धनके लिये तीसरे स्थानको प्राप्त करायें। ४. विष्णुभगवान् तुझे सांसारिक सुखकी प्राप्तिके लिये चौथा स्थान प्राप्त करायें। ५. विष्णुभगवान् पशुओंकी रक्षाके लिये पाँचवें स्थानकी प्राप्ति तुझे करायें। ६. छहों ऋतुओंके अनुकूल आहार-विहारकी प्राप्ति विष्णुभगवान् तुझे करायें। ७. हे सखे! अब तुम सखित्वकी प्राप्तिके लिये सातवाँ पद बढ़ाओ, तुम सर्वदा मेरे अनुकूल रहो। विष्णुभगवान् तुम्हें मित्ररूप इस सातवें स्थानकी प्राप्ति करायें।

इन सात मन्त्रोंमें अन्न, बल, धन, सांसारिक सम्भोगसुख, गाय आदि पशु, ऋतुके अनुकूल आहार-विहार तथा मित्रताकी प्राप्ति

स्त्रीको हो, ऐसी प्रार्थना विष्णुभगवान्‌से पति करता है। कहना न होगा कि ये सातों पदार्थ सुखमय गृहस्थ-जीवन बितानेके लिये परम आवश्यक हैं। सातवें मन्त्रमें मित्रताकी याचना विशेष ध्यान देनेयोग्य है; क्योंकि सब कुछ हो, परंतु मित्रता अर्थात् परस्पर प्रेम न हो तो सब व्यर्थ हैं। जो लोग ऐसा मानते हैं कि प्राचीन ऋषियोंने स्त्रीको दासी बनाकर रखा है, उन्हें '**सखे**' इस पदपर ध्यान देना चाहिये।

ध्रुव-दर्शन—सप्तपदीके बाद वर वधूकी माँगमें सौभाग्य-सूचक सिन्दूर भरता है। उपस्थित गुरुजन भी सौभाग्यका आशीर्वाद देते हैं। इसके बाद वर-वधूका प्रेम ध्रुवताराकी तरह सदा ध्रुव (स्थिर) रहे, इस भावसे दोनोंको ध्रुवताराका दर्शन कराया जाता है।

धान्य-वर्षण—विवाहकी अन्तिम क्रिया धान्य-वर्षण है। सुखमय जीवनके लिये घर धन-धान्य परिपूर्ण हो, यह अति आवश्यक है। इसी भावको प्रकट करनेके लिये अन्तमें तथा बीच-बीचमें भी अनेक बार धानका प्रयोग किया जाता है।

विवाह न्यायालयमें नहीं, देवालयमें हो

वैदिक प्रथानुसार माता-पिता तथा सभी सगे-सम्बन्धियोंके सामने देवालयमें अर्थात् अग्नि आदि देवताओंके साक्ष्यमें कुलगुरु विवाह कराते हैं। इसमें निहित दूरदर्शितायुक्त मनोविज्ञानके रहस्यको न जाननेके कारण आधुनिक सुधारवादी विचारकोंका कहना है कि इस प्रथामें व्यर्थ ही अर्थका खर्च तथा समयका सत्यानाश होता है। अतः न्यायालयमें न्यायाधीशके समीप लिखा-पढ़ी कराके परस्पर माला पहना देना ही पर्याप्त है। समय तथा अर्थका व्यर्थ खर्च बचानेके लिये तो लिखा-पढ़ी करना तथा माला खरीदना भी ठीक

नहीं; क्योंकि इसमें भी तो कुछ-न-कुछ अर्थका व्यर्थ खर्च होगा ही। अतः परस्पर सहमत हो जाना ही विवाहके लिये पर्याप्त है। ऐसा कहनेपर आधुनिक सुधारवादी कहते हैं कि परस्परकी सहमति तो कभी भी मतिभेद होनेपर टूट सकती है, अतः न्यायालयमें लिखा-पढ़ी होना आवश्यक है, अतः न्यायालयका खर्च व्यर्थ नहीं, किंतु सार्थक है।

इसपर मेरा निवेदन है कि न्यायाधीशके भयकी अपेक्षा माता-पिता तथा जाति एवं गाँवके सगे-सम्बन्धियोंका भय अधिक काम करानेवाला होता है; क्योंकि इन्हीं लोगोंके बीचमें मनुष्यको जीवन बिताना है, इन्हींमें लड़के तथा लड़कीका सम्बन्ध करना है। अतः विवाह-सम्बन्धकी सुदृढ़ताके लिये माता-पिता तथा सगे-सम्बन्धियोंका होना तथा उसके लिये अर्थका खर्च होना व्यर्थ नहीं, अपितु परम सार्थक है। माता-पिता आदिके दृष्ट भयके अतिरिक्त अदृष्ट धर्माधर्मका भय भी होना परम आवश्यक है; नहीं तो माता-पिता आदिकी दृष्टि बचाकर एकान्त अदृष्ट स्थानमें प्रतिज्ञा तोड़कर गलत कार्य करनेसे कौन बचायेगा? इसीलिये ऋषियोंने अग्नि आदि सर्वज्ञ देवताओंके साक्ष्यमें विवाह आदि कार्योंके करनेका विधान किया है, अतः विवाह न्यायालयमें नहीं, बल्कि देवालयमें ही होना चाहिये।

विधवा-विवाह-विचार

शास्त्रमें तो विधवा-विवाहका निषेध है; परंतु वर्तमानमें विधवा स्त्रियोंकी शारीरिक, मानसिक, पारिवारिक एवं सामाजिक दुर्दशाओंको आधार बनाकर कुछ दयालु सुधारकोंका कहना है कि

पुरुषकी तरह विधवा स्त्रीको भी पुनर्विवाहका अधिकार होना ही चाहिये। प्राचीनतावादी उसका विरोध करते हैं, दोनों वादी अपने पक्षके मण्डन तथा परपक्षके खण्डनमें जो युक्तियाँ देते हैं, प्रथमतः उन्हें नीचे लिखा जा रहा है। बादमें शास्त्रमें विधवा-विवाहके विधि-निषेध-बोधक वचनोंकी संगति क्या है, इसे लिखा जायगा।

मण्डन—जो विधवा स्त्रियाँ संयमशील हैं, ब्रह्मचर्य-पालनमें महत्त्व-बुद्धि रखनेके कारण विवाह नहीं करना चाहतीं, वे भी विवाह करें—हम ऐसा नहीं कहते, किंतु जो अवैध व्यभिचार करती हैं, उनके लिये तो पुनर्विवाहका विधान अति आवश्यक है।

खण्डन—गुप्त सम्बन्ध रखनेकी अपेक्षा एक पुरुषके साथ समाजमें सबके सम्मुख सम्बन्ध स्वीकार करके रहना अच्छा है, इसे हम भी स्वीकार करते हैं। परंतु इसके कारण विधवा-विवाहका विधान नहीं बनाया जा सकता। जो विधवा स्त्रियाँ ब्रह्मचर्य-पालनमें असमर्थ हैं, उनका विवाह आप करायें, किंतु उनकी सामाजिक व्यवस्था, खान-पान, विवाह-शादी सब कुछ अलग ही रखनी चाहिये, जिससे शुद्धवंशपरम्पराका तथा ब्रह्मचर्य-पालन करनेवाली स्त्रियोंके सतीत्व धर्मके महत्त्वका लोप न हो।

मण्डन—जिनकी पत्नी मर गयी हैं, ऐसे युवकोंके लिये ब्रह्मचर्य-पालनका विधान न बनाना और युवती विधवा स्त्रीको ब्रह्मचर्य-पालनके लिये विधान बनाकर बाध्य करना तो सर्वथा ही अनुचित है।

खण्डन—यदि शास्त्रके विधि-निषेध केवल लौकिक हानि और लाभके आधारपर बने होते तब तो आपका कहना ठीक हो

सकता था। भूमिकामें इस बातका विस्तारसे प्रतिपादन कर दिया गया है कि धर्माधर्मका निर्णय केवल लौकिक हानि-लाभ या स्त्री-पुरुषोंकी शारीरिक वासनाकी समानताके आधारपर नहीं हो सकता। यही कारण है कि माँ-बेटा, बाप-बेटी तथा सगे भाई-बहनोंमें विवाह क्यों नहीं होना चाहिये? इसमें क्या हानियाँ हैं? इसका कारण उन्नतिके शिखरपर आरूढ़ माने जानेवाले आजके शरीर-विज्ञानसे अभीतक कुछ भी नहीं बताया जा सका तथा शारीरिक वासनाकी समानता होनेपर भी अन्य स्त्री-पुरुषोंकी तरह माँ-बेटा, बाप-बेटी तथा सगे भाई-बहनमें विवाह किसी देशकी किसी जातिमें भी नहीं होता। इनके परस्पर विवाहमें लौकिक दृष्टिसे यह लाभ तो स्पष्ट ही है कि इनके विवाहकी चिन्ता नहीं करनी पड़ेगी, व्यर्थका अर्थ-खर्च नहीं होगा, जन्मसे साथ रहनेके कारण परस्पर प्रेम होनेसे निर्वाह भी अच्छा हो जायगा। इतना होते हुए भी इनके परस्पर विवाहको सर्वत्र अनुचित माना जाना यह सिद्ध कर देता है कि विधि-निषेध केवल लौकिक हानि-लाभपर नहीं बनते। विधवा-विवाहके समर्थनवादी यदि लौकिक हानि और लाभकी तथा शारीरिक कामवासनाकी समानताकी दृष्टिसे ही विधवा-विवाहका समर्थन करते हैं तो माँ-बेटे, बाप-बेटी तथा सगे भाई-बहनोंके परस्पर विवाहका समर्थन क्यों नहीं करते? इनमें भी तो शारीरिक कामवासनाकी समानता है ही तथा लाभ भी स्पष्ट है ही। यदि आप इसको भी स्वीकार करनेके लिये तैयार होते हैं तो आपमें तथा पशुओंमें क्या अन्तर रहेगा?

शास्त्रमें द्विजोंकी विधवा स्त्रीके पुनर्विवाहका जो निषेध है, उसमें एक मुख्य कारण यह है कि उससे वर्णसंकर सन्तानकी उत्पत्ति

होती है, जो कि लोकके लिये हानिकर तथा परलोकमें पितरोंके पतनमें हेतु होती है—

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः॥

(गीता १। ४२)

वर्णसंकर सन्तान कुलघातियों और कुलको नरक ले जानेके लिये ही होती है। लोप हुई पिण्ड और जलकी क्रियावाले इनके पितरोंका भी पतन हो जाता है।

दूसरा मुख्य कारण यह है कि सती स्त्री नरकमें पतित अपने पतिका बलात् उद्धार करके स्वयं भी उसके साथ स्वर्ग-सुख भोगती है—

व्यालग्राही यथा व्यालं बलादुद्धरते बिलात्।
तद्वदुद्धृत्य सा नारी तेनैव सह मोदते॥

(पाराशरस्मृति ४। ३३)

साँप पकड़नेवाला जैसे सर्पको बिलसे बलपूर्वक खींचकर निकाल लेता है, वैसे ही सती नारी (पतिको नरकसे) निकालकर उसके साथ आनन्द करती है।

तीसरा मुख्य कारण है अलौकिक सतीत्व धर्मको सुरक्षित रखना। जिस सतीत्व धर्मके प्रभावसे शाण्डिलिनीने सूर्यकी गति रोक दी थी तथा अनसूया ने ब्रह्मा, विष्णु और महेशको भी पुत्र बननेके लिये बाध्य कर दिया था और सती वृन्दाने भगवान् विष्णुको भी पाषाण बना दिया था, ऐसे अलौकिक सतीत्वधर्मकी रक्षा होना अति आवश्यक है। ये सब चमत्कार पौराणिक कथाएँमात्र नहीं हैं।

इस भयंकर तमोगुणी कलियुगमें भी सतीत्व धर्मका चमत्कार पतिको महान् संकटसे मुक्त कर देता है। केवल मनसे सत्यवान्‌को पतिरूपमें वरण कर लेनेवाली तथा एक सालमें सत्यवान्‌की मृत्यु हो जायगी—ऐसा नारद-जैसे प्रामाणिक महापुरुषद्वारा ज्ञात होनेपर तथा माता-पिताद्वारा दूसरा पति वरण करनेकी आज्ञा देनेपर और शास्त्रविरुद्ध न होनेपर भी सावित्रीने मनसे भी दूसरे पतिके वरणकी इच्छा नहीं की। अतः केवल तनसे ही नहीं मनसे भी पवित्र, पवित्र ही नहीं परमपवित्र सती सावित्रीने यदि अपने पतिको यमराजके हाथोंसे भी छुड़ाकर कल्याणभागी बना दिया तो इसमें आश्चर्यकी बात ही क्या है! अतः पुराणोंकी सतीत्व-धर्म-सम्बन्धी सभी कथाएँ अक्षरशः सत्य हैं, इतना ही नहीं, किंतु मन्त्रोंके, देवीपूजाके तथा योगविद्याके जिन चमत्कारोंका पुराणोंमें वर्णन किया गया है, उनकी भी सत्यता सिद्ध हो जाती है।

सतीत्व-धर्म-रक्षाके उपाय

यदि शास्त्रकारोंने विधवा-विवाहका विधान कर दिया होता तो इस अलौकिक प्रभाववाले सतीत्व-धर्मका विलोप हो गया होता। अतः युवती विधवाके भी विवाहका विधान न करना अनुचित नहीं, किन्तु सर्वथा उचित ही है। इसलिये वर्तमान दयालु अदूरदर्शी सुधारकोंको अपनी अदूरदर्शिताका त्यागकर सतीत्व-धर्मनाशक विधवा-विवाहका नहीं, किंतु सतीत्व-धर्मरक्षक उपायोंका ही प्रचार-प्रसार करना चाहिये। वे उपाय हैं—१-सती स्त्रियोंके चरित्रोंको बाल्यावस्थामें कन्याओंको पढ़ाना। २-शास्त्रमर्यादाके अनुसार घरके भीतर ही स्त्रीका रहना तथा कामवर्धक खान-पान तथा वस्त्रोंका त्याग करना।

३-विधवा स्त्रीका परिवार तथा समाजमें ब्रह्मचर्य-पालन करनेवाले संन्यासीकी तरह आदर होना।

१-बाल्यावस्थामें जो संस्कार पड़ते हैं, उनका बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है; क्योंकि उस समय चित्त विविध तथा विरोधी संस्कारोंसे शून्य होता है। अतः उस समय सतीत्व धर्मके अलौकिक चमत्कारोंको सुन एवं पढ़कर कन्याके मनमें असम्भवपनकी कल्पनाका भी उदय नहीं होता। इतना ही नहीं, किंतु सतीत्वधर्मके प्रभावसे मैं भी लोक और परलोकमें अपनेको तथा अपने पतिको संकटसे मुक्त करके कल्याणभागी बनाऊँगी, ऐसी धारणा बनती है। अतः सतीत्व-धर्मके प्रचार-प्रसारके लिये सती स्त्रियोंके चरित्रोंको सुनाना और पढ़ाना अति आवश्यक है। गीताप्रेससे प्रकाशित '**नारी-अंक**' के अन्तमें बहुत-सी सती स्त्रियोंकी कथाएँ दी हैं, अतः कन्याओंको वे कथाएँ अवश्य पढ़ानी चाहिये।

२-विवाहके बाद घरके अन्दर ही रहना तथा कामवर्धक प्याज, लहसुन, मदिरा, मांस, अण्डा आदि पदार्थोंका सेवन न करना; अनंगवर्धक, अंगप्रदर्शक वस्त्राभूषण धारण न करना; सिनेमा, टेलीविजन, गन्दे पोस्टर न देखना तथा रेडियो, ट्रांजिस्टरद्वारा अश्लील गीतोंको न सुनना आदि नियमोंका पालन करना भी बहुत आवश्यक है; क्योंकि इस उपायके अभावमें अन्य उपायोंसे उपार्जित पवित्रता भी विनष्ट हो जायगी। यही कारण है कि ऋषियोंने स्त्रीको घरके अन्दर रहनेकी आज्ञा दी है, ऐसी आज्ञा देकर उन्होंने स्त्रियोंके प्रति कठोरता नहीं की, किंतु दूरदर्शितामूलक दयालुता ही की है।

हमने अपने घरोंमें देखा है कि परघरके नर हमारे घरमें आकर

नारीसे बात करें, पासमें उठें-बैठें यह तो दूर रहा, घरके नर भी अपनी नारीसे भी दिनमें बात नहीं करते थे एवं पास उठते-बैठते भी नहीं थे, केवल रातमें ही पति-पत्नी मिलते-जुलते और बात करते थे एवं नारी विवाह-शादी, बुलावा-चलावा आदि अवसरों तथा अति आवश्यक कार्योंपर किसीको साथ लेकर ही परघर जाती थी और वहाँ नारियोंके बीचमें ही रहती थी, परनरसे तो बात ही नहीं करती थी, इतना ही नहीं अपने घरमें युवती, बेटी या बहूको अकेली छोड़कर घरकी बूढ़ी स्त्रियाँ सत्संग, देवदर्शन आदि सात्त्विक कार्योंके लिये भी नहीं जाती थीं। यदि जाना अति आवश्यक होता था तो युवती बेटी और बहूके पास किसीको रखकर या साथ लेकर ही जाती थीं।

३. ब्रह्मचर्य-पालन करनेवाली; हरदम अपने आँखोंके सामने रहकर भजन, ध्यान, स्वाध्याय आदि सात्त्विक कार्योंको करनेवाली विधवाका तो संन्यासीसे भी अधिक आदर करना चाहिये। एक बाल-विधवाका पालन एक सम्मिलित परिवारके लोग पचीस वर्षसे करते थे। बादमें उनमें बँटवारा हुआ। वे अलग-अलग रहने लगे। विधवाका भार उठानेके लिये कोई तैयार नहीं होता था। एक दिन मुझे भोजन करनेको बुलाया, भोजनके बाद कुछ अच्छी बात सुनानेको कहा। मैंने कहा—देखो, भाई! मैं भजन-ध्यान करता हूँ या नहीं, ब्रह्मचर्यका पालन करता हूँ या नहीं, इसे आप ठीक-ठीक नहीं जानते, केवल श्रद्धासे मानते हैं, इतनेपर भी आपलोग मुझे आदरकी दृष्टिसे देखते हैं एवं भोजन करानेसे अपना कल्याण होना मानते हैं। ऐसी दशामें यह विधवा जिसने पचीस वर्ष आपकी आँखोंके सामने रहकर ही ब्रह्मचर्यका पालन किया है; भजन, ध्यान तथा स्वाध्याय

किया है और कर रही है; इसका आदर करना तथा भोजन कराना तो कल्याण ही नहीं परम कल्याणकारी है। दूसरे दिन विधवाने आकर बताया कि आपकी कृपासे सब लोग मिलकर मेरा पालन करनेको तैयार हो गये हैं। इसके अतिरिक्त एक मनोवैज्ञानिक रहस्य यह है कि विधवाको परिवार तथा समाजसे आदर तथा सुख मिलनेपर अपनेमें भाग्यहीनता तथा पतिसंयोगजन्य सुखका अभाव नहीं प्रतीत होता। कारण यह है कि एक प्रकारके रसाभावकी पूर्ति दूसरे रससे हो जाती है।

सर्वज्ञ, दयालु एवं दूरदर्शी ऋषियोंद्वारा निर्मित उक्त उपायोंका जब पूर्ण प्रचार तथा प्रसार था; तब विधवा स्त्रियोंको ब्रह्मचर्य-पालनमें कोई विशेष कठिनाई नहीं होती थी। यही कारण है कि आज भी अधिकांश विधवा स्त्रियाँ पुनः विवाह नहीं करना चाहतीं। इस रहस्यका उद्घाटन एक समाचारपत्रमें एक सज्जनने किया था। उन्होंने लिखा था कि हजारों विधवाओंसे पुनर्विवाहकी चर्चा की गयी तो केवल चार-पाँच प्रतिशत ही विधवाएँ पुनर्विवाह करना चाहती हैं। मेरी दृष्टिसे तो पाँच प्रतिशतके तैयार होनेमें भी मुख्य कारण उक्त उपायोंका तिरस्कार और अदूरदर्शी-दयालु सुधारकोंद्वारा विधवा-विवाहका प्रचुर प्रचार ही है। अतः मेरा इन दयालु सुधारकोंसे करबद्ध सविनय निवेदन है कि प्रथम तो सर्वज्ञ ऋषियोंकी दूरदर्शिताको भलीभाँति समझकर अपनी अदूरदर्शिताका परित्यागकर दयालुताका संशोधन कर लें, तदनन्तर बिगड़े हुए उक्त उपायोंका सम्यक् सुधार करनेमें ही अपने प्रचार-कार्यका तथा दयालु, सुधारक-स्वभावका उपयोग करें; जिससे अलौकिक प्रभाववाले तथा

इस लोक और परलोकमें कल्याण करनेवाले सतीत्व-धर्मका लोप न होकर प्रसार हो।

विधवाविवाह-विधि-निषेधसंगति

विधि—

(क) नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ।
पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते॥

(वीरमित्रोदयमें पराशरका वचन)

(ख) पाणिग्रहे मृते बाला केवलं मन्त्रसंस्कृता।
सा चेदक्षतयोनिः स्यात् पुनः संस्कारमर्हति॥

(वसिष्ठस्मृति अ० १७)

(क) यदि पति अदृश्य या मृत हो जाय या संन्यास ले ले या पतित हो जाय या नपुंसक हो तो इन पाँच आपत्तियोंके आनेपर स्त्रीका दूसरा पति हो सकता है।

(ख) केवल मन्त्रोंद्वारा विवाह-संस्कार जिस कन्याका किया गया, उस कन्याका पति मर जानेपर यदि वह अक्षतयोनि है तो उसका पुनः विवाह-संस्कार करना योग्य है।

निषेध—

न विवाहविधावुक्तं विधवादेवनं पुनः।
नामापि नैव गृह्णीयात् पत्यौ प्रेते परस्य तु॥

विधवा स्त्रीके लिये दूसरे विवाहका विधान नहीं है। पतिके मर जानेपर दूसरे पुरुषका नाम भी न ले।

संगति—(क) पराशरस्मृतिमें जो पाँच आपत्तियोंमें दूसरे पतिका विधान किया गया है, वह विधान उस कन्याके बारेमें ही

है, जिसके दान देनेका केवल जल लेकर संकल्पमात्र किया गया है अथवा वाणीसे देनेकी प्रतिज्ञामात्र की गयी है। विधिवत् सम्पूर्ण विवाह-संस्कारद्वारा विवाहिताके लिये दूसरे पतिके विधानमें पाराशरस्मृतिका तात्पर्य नहीं है; क्योंकि अपरार्क, स्मृतिचन्द्रिका तथा वसिष्ठस्मृतिमें स्पष्ट कहा गया है—

अद्भिर्वाचा च दत्तानां म्रियेताथो वरो यदि।

× × × ×

अन्यस्मै विधिवद् देया यथा कन्या तथैव सा॥

(वसिष्ठस्मृति अ० १७)

जल तथा वाणीसे दान की हुई कन्याका यदि पति मर जाय तो विधिपूर्वक दूसरेको देना चाहिये, जैसी कन्या होती है, वैसी वह भी है।

(ख) वसिष्ठजीने जो मन्त्रोंद्वारा पाणिग्रहण हो जानेपर भी पतिके मरनेपर पुनः विवाह-संस्कारकी आज्ञा दी है। वह आज्ञा भी उसीके लिये है, जिसकी योनि अक्षत है। यही बात पद्मपुराणमें भी स्पष्ट शब्दोंमें कही है—

विवाहो दृश्यते राजन् कन्यायास्तु विधानतः।
पतिर्मृत्युं प्रयायत्स्या नो चेत् संगं करोति च॥

(पद्म०, भूमिखण्ड ८५।६३)

हे राजन्! जिसका पति मर गया है और उसका पतिके साथ संयोग नहीं हुआ है, उस कन्याका दूसरा विवाह विधिपूर्वक किया जा सकता है।

विधिवत् विवाहिता अक्षत-योनिवाली कन्याका दूसरा विवाह

इसलिये उचित माना गया है कि विवाहके बाद जब वह चौथे दिन चतुर्थीहोम-मन्त्रोंद्वारा चौथी रातमें पुरुषके साथ त्वचा, मांस, हृदय तथा इन्द्रियोंसे संयुक्त होती है, तभी पतिके गोत्रसे एक होती है। इससे पूर्व तो अनन्यपूर्विका (अर्थात् अभीतक किसी अन्य गोत्रकी नहीं हुई) ही होती है, यानी पिताके गोत्रकी ही होती है। इसलिये उसका दूसरा विवाह हो सकता है। यह सब बातें नीचे लिखे स्मृतिवचनोंमें स्पष्ट कही हैं—

विवाहे चैव निर्वृत्ते चतुर्थेऽहनि रात्रिषु।
एकत्वमागता भर्तुः पिण्डे गोत्रे च सूतके॥
चतुर्थीहोममन्त्रेण त्वङ्मांसहृदयेन्द्रियैः।
भर्त्रा संयुज्यते पत्नी तद्गोत्रा तेन सा भवेत्॥

विवाह हो जानेपर चौथे दिन रात्रिमें पतिके पिण्ड, गोत्र तथा सूतकमें एकताको प्राप्त होती है। चतुर्थीहोम-मन्त्रोंद्वारा त्वचा, मांस, हृदय और इन्द्रियोंसे पतिके साथ पत्नी संयुक्त होती है, इस कारण पतिके गोत्रवाली वह हो जाती है।

निष्कर्ष—द्विजोंमें विधवा-विवाह-विचारका सार यह है कि केवल जल या वाणीसे दी हुई अविवाहिता कन्याका तथा अक्षतयोनि विवाहिता कन्याका भी पति मर जानेपर दूसरा विवाह किया जा सकता है, क्षतयोनिका नहीं। अक्षतयोनि-विधवाका भी पुनर्विवाह न करना ही विशेष कल्याणकारक है; क्योंकि कलियुगमें उसका भी निषेध कलिवर्ज्य-प्रकरणमें किया गया है—

'दत्ताक्षतायाः कन्यायाः पुनर्दानं परस्य च।'

(वीरमित्रोदयमें बृहन्नारदीयपुराणका वचन)

'ऊढायाः पुनरुद्वाहं ज्येष्ठांशं गोवधं तथा।
कलौ पञ्च न कुर्वीत भ्रातृजायां कमण्डलुम्॥'*

(वीरमित्रोदय)

अर्थात् विवाहित कन्याका फिरसे विवाह, ज्येष्ठ पुत्रको अधिक सम्पत्ति देना, गोवध, भाईकी पत्नीको स्वीकार करना और कमण्डलु (संन्यास)-धारण करना—इन पाँच बातोंको कलियुगमें वर्जित करे।

---

* 'यावद्वर्णविभागोऽस्ति यावद्वेदः प्रवर्तते। संन्यासं चाग्निहोत्रं च तावत् कुर्यात् कलौ युगे॥'

(निर्णयसिन्धुमें महर्षि देवलका वचन)

अर्थात् जबतक वर्णका विभाग है तथा जबतक वेद हैं, तबतक संन्यास और अग्निहोत्रको कलियुगमें करे।

अन्त्येष्टि-संस्कार-विज्ञान

जीवनके अन्तमें मृत्यु हो जानेपर जो शरीरके दाह आदि कार्य किये जाते हैं, उन कार्योंको अन्त्येष्टि-संस्कार कहते हैं, इनका निरूपण करनेसे पूर्व मृत्युकालीन कार्योंका निरूपण करना परम आवश्यक होनेसे प्रथम उन्हींका निरूपण किया जाता है—

गोमयोदकेन भूमिमुपलिप्य कुशैराच्छाद्य कृष्णतिलान् विकीर्य उत्तराशाशिरस्कं भूमौ उत्तानशायिनं महाप्रयाणपथिकं विदध्यात्। शनैः गङ्गोदकं सतुलसीदलमाचामयेत्। यथाशक्ति आतुरदानं दीपदानं च कारयेत्। समुपस्थिताः हरिस्मरणं हरिनामकीर्तनं च कुर्युः।

गोबर, जलसे भूमिको लीपकर कुशाओंसे ढक दे और काले तिलोंको फैला दे। उस भूमिपर मरनेवालेको उत्तरकी ओर सिर करके सीधा—चित्त करके लिटा दे। तुलसीपत्रसहित गंगाजल धीरे-धीरे मुखमें डाले। यथाशक्ति आतुरकालीन दान तथा दीपदान कराया जाय। उपस्थित सभी मनुष्य हरिस्मरण और हरिनाम-संकीर्तन करें।

मरणकालमें किये जानेवाले प्रायः इन सभी कार्योंका लौकिक दृष्टिसे मुख्य प्रयोजन प्राणोंकी गतिको ऊर्ध्वमुखी बनानेमें है। इसका कारण यह है कि नीचेके गुदा, लिंग आदि अधोमुखी छिद्रोंसे प्राण निकलनेपर प्राणीकी अधोगति (अर्थात् पशु-पक्षी-योनिकी या नरककी प्राप्ति) होती है और ऊपरके नेत्र, श्रोत्र, मुख, नासिकाके छिद्रोंसे प्राण निकलनेपर ऊर्ध्वगति (स्वर्गादि लोककी प्राप्ति) होती है तथा दशम द्वार ब्रह्मरन्ध्ररूप छिद्रसे प्राण निकलनेपर प्राणीकी मुक्ति हो जाती है, ऐसा शास्त्रोंमें कहा है। प्राणोंकी ऊर्ध्वमुखी गतिमें उक्त कार्य कैसे सहायक होते हैं, इसका संक्षेपमें निरूपण किया जाता है।

गोबरसे लीपना—मरनेके समय जमीनपर लिटाये गये प्राणीके

प्राणोंको पृथ्वीकी आकर्षण-शक्ति खींचकर अधोमुखी न कर दे, इसके लिये परम शुचि, असंक्रामक, विद्युत्‌के कुचालक गोबर तथा कुशाका उपयोग किया जाता है। पहले गोबरसे जमीनको लीप देते हैं, फिर ऊपरसे कुशा बिछा देते हैं।

भूमिपर चित्त लिटाना—भूमिपर सीधा पीठके बल चित्त लिटानेसे मेरुदण्ड सीधा रहता है, जिससे प्राणोंकी ऊपर (ऊर्ध्व) गति होनेमें सहायता होती है। खाटमें पड़े रहनेपर मेरुदण्ड सीधा न होनेके कारण प्राणोंकी गति ऊर्ध्वमुखी होनेमें बाधा होती है। यद्यपि काष्ठकी चौकीपर लिटानेसे भी उक्त सभी कार्य हो सकते हैं, तो भी काष्ठकी चौकी सर्वसाधारणको सुलभ न होनेके कारण उसका विधान नहीं किया। चौकी कुश तथा गोबर जितनी पवित्र न होनेके कारण भी उसका विधान नहीं किया। प्रेत-बाधा-नाशक होनेसे काले तिल फैलानेको कहा।

उत्तरको सिर रखना—उत्तरको सिर रखनेसे दक्षिणको पैर हो जायँगे। इससे उत्तरमें स्थित ध्रुवके आकर्षणसे प्राण आकर्षित होकर पैरोंकी तरफसे खिंचकर सिरकी तरफ ऊर्ध्वगति करेंगे, जिससे प्राण नीचेके छिद्रोंसे न निकलकर ऊपरके छिद्रोंसे निकलेंगे। जीवनमें दक्षिणको पैर करके सोनेका निषेध करके भी मरनेके समय दक्षिणको पैर करनेका विधान बनानेमें यही मुख्य कारण है।

तुलसीयुक्त गंगाजल पिलाना—तुलसी परम पवित्र, त्रिदोष-नाशक है और गंगाजल सर्वरोग-कीटाणुनाशक है—यह बात पहले भी बतायी जा चुकी है। इसीलिये उसे पिलानेका विधान शरीर-विज्ञानके अनुसार अन्तिम दशामें किया गया है। पुराण-प्रमाणानुसार तो तुलसी भगवान्‌को परम प्रिय तथा गंगाजल भगवान्‌के चरणार-विन्दोंका धोवन—पावन चरणामृत है। अतः भगवान्‌का परम प्रिय बनने और उनके पावन चरणारविन्दोंमें सदा निवास करनेके लिये

उनका प्रयोग किया जाता है।

हरिनामसंकीर्तन—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥

(गीता ८।५)

जो पुरुष अन्तकालमें मेरा स्मरण करता हुआ शरीर-त्याग कर जाता है, वह मेरे स्वरूपको प्राप्त होता है, इसमें कुछ भी संशय नहीं है।

गीताके इस वचनानुसार प्राणीको अन्तमें भगवत्स्मरण हो ऐसा प्रयास करना सभीका परम कर्तव्य है। इसलिये उपस्थित सभी मनुष्योंके लिये हरिस्मरण तथा हरिसंकीर्तन करनेको कहा है। सभी मनुष्योंद्वारा हरिस्मरण करनेपर वहाँका वातावरण हरिस्मरणके अनुकूल बन जायगा और हरि-संकीर्तन करनेपर भगवान्‌का नाम कानोंमें प्रविष्ट होकर मरनेवालेको हरिस्मरण करानेमें बहुत सहायक होगा। इसके अतिरिक्त उस व्यक्तिने जिस इष्टकी सारे जीवन उपासना की हो, उस इष्टके चित्रका दर्शन भी अवश्य कराना चाहिये।

दीपदान—

'अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।'

(गीता ८।२४)

गीताके इस कथनानुसार उत्तरायण मार्गमें जानेवालेको सर्वप्रथम अग्नि अभिमानी देवता ग्रहण करता है, अतः उसकी उपस्थितिके लिये दीपदान करनेका विधान किया गया है एवं प्राणीके कल्याणार्थ यथाशक्ति गोदान, स्वर्णदान, अन्नदान आदि भी करना चाहिये।

अन्त्येष्टि (दाह)—जीवनका अन्त होनेपर जो मृत शरीरका दाह आदि संस्कार किया जाता है, उसे अन्त्येष्टि संस्कार कहते हैं। यजुर्वेदमें कहा है **'भस्मान्तं शरीरं'** यह शरीर अन्तमें भस्म हो

जानेवाला है। जीवनकालमें जीवित शरीरसे जीव जो कुछ शास्त्रविधिके अनुसार कर्म करता है, उन कर्मोंका फल उसे अवश्य प्राप्त होता है एवं शास्त्रविधिके अनुसार मृत शरीरका जिन कर्मोंसे संस्कार किया जाता है, उन कर्मोंका फल भी अवश्य प्राप्त होता है। दूसरी बात यह है कि जबतक शरीर फूल नहीं जाता, तबतक शरीरमें धनंजय वायु रहती है और जबतक दस प्राणोंमेंसे एक प्राण भी शरीरमें रहता है तबतक जीवात्मा भी रहता है। इसलिये भी उसको उन कर्मोंका फल प्राप्त हो जाता है। यही कारण है कि मरनेके बाद जल्दी-से-जल्दी दाह करनेका प्रयास करते हैं। जल्दी करनेमें तो एक कारण यह भी है कि घरमें जितनी देर मुर्दा रहेगा, उतनी ही देर शोक तथा रोना-पीटना चलता रहेगा। इसके अतिरिक्त मृत शरीरमें संक्रामक रोगोंके कीटाणुओंकी वृद्धि अति तेजीसे होती है, अधिक देरी करनेपर वे असंख्योंकी संख्यामें चारों तरफ फैलकर वातावरणको दूषित कर देंगे। इन सभी कारणोंसे जल्दी-जल्दी दाह करनेका प्रयत्न किया जाता है।

प्राचीनकालमें द्विज जिस अग्निदेवताकी आजीवन उपासना करते थे, उस अग्निदेवताद्वारा उनके शरीरका दाह होना परम आवश्यक था; क्योंकि वही उनके कर्मके साक्षी थे। सूर्य डूबनेसे पहले दाह करनेमें भी सूर्यदेवताको साक्षी बनाना ही उद्देश्य है। इसके अतिरिक्त उत्तरायण मार्गके दिन-अभिमानी देवताकी शीघ्र-प्राप्तिके उद्देश्यसे दिनमें सूर्य डूबनेसे पहले दाह करते हैं। कपाल-क्रिया (सिर-भेदन क्रिया)-का उद्देश्य यह है कि कदाचित् यदि शरीरमें प्राण गुप्तरूपसे अभी स्थित होगा तो वह ब्रह्मरन्ध्रसे निकलेगा, इससे प्राणीकी ऊर्ध्वगति होकर कल्याण हो जायगा।

सचैल स्नान—प्रायः मनुष्य अनेक रोगोंसे ग्रस्त होकर ही मरते हैं तथा मृत शरीरमें संक्रामक रोगके कीटाणु तुरंत उत्पन्न हो

जाते हैं। ऐसी दशामें मुर्देको छूनेवाले, ले जानेवाले तथा उसके पीछे जानेवाले लोगोंको सचैल अर्थात् वस्त्रसहित स्नान करना अति आवश्यक है। सचैल स्नानसे उन रोगके कीटाणुओंसे रक्षा हो जाती है। इसी उद्देश्यसे घरपर आकर अग्निस्पर्श तथा नीमके पत्ते चबानेका विधान भी किया है। नीमकी कीटाणुनाशकता तो अति प्रसिद्ध है। सभी ग्रामीण मनुष्य फोड़े, फुन्सी, खाज आदिको नीमके पत्तोंके पानीसे इसीलिये धोते हैं। अतः नीम चबानेसे जो कीटाणु श्वास-प्रश्वासद्वारा पेटमें चले गये हैं, उनका भी विनाश हो जाता है। इसीलिये मनुजीने इनका विधान किया है—

अनुगम्येच्छया प्रेतं ज्ञातिमज्ञातिमेव च।
स्नात्वा सचैलं स्पृष्ट्वाऽग्निं घृतं प्राश्य विशुद्ध्यति॥

(मनु० ५।१०३)

स्वजातीय या विजातीय मृत व्यक्तिके साथ इच्छापूर्वक जाकर सचैल स्नान, अग्नि-स्पर्श और घृतप्राशन करके विशुद्ध होता है।

अस्थियोंको गंगामें डालना—

यावदस्थीनि गङ्गायां तिष्ठन्ति पुरुषस्य च।
तावद्वर्षसहस्राणि ब्रह्मलोके महीयते॥

(शंखस्मृति)

मनुष्यकी हड्डियाँ जबतक गंगाजलमें रहती हैं, उतने हजार वर्षोंतक वह ब्रह्मलोकमें रहता है।

शास्त्रपर श्रद्धा रखनेवाले तो उक्त शास्त्र-वचनानुसार मृतात्माको ब्रह्मलोक प्राप्त करानेके उद्देश्यसे ही गंगाजीमें अस्थियाँ डालते हैं। भौतिक विज्ञानानुसार अस्थियोंमें फासफोरस बहुत होता है, वह जलमें मिलकर भूमिको उपजाऊ बनानेमें सहायक होता है। अतः अस्थियोंको प्रायः किसी नदीमें ही डालना चाहिये।

द्वितीय खण्डका उपसंहार

इस द्वितीय खण्डमें गर्भाधानसे लेकर अन्त्येष्टिपर्यन्त वैदिक संस्कारोंका तथा प्रसंगतः विधवा-विवाहपर भी विचार किया गया है। मनोयोगसे अध्ययन करनेपर पाठकोंको यद्यपि स्वयं यह स्पष्ट प्रतीत हुआ होगा कि शरीरविज्ञान, मनोविज्ञान, भौतिक पदार्थ-विज्ञान एवं दैव-विज्ञान आदि विविध विज्ञानोंके सम्यक् अनुसन्धानोंपर आधारित वैदिक जीवनचर्यामें ही मानव-जीवनकी लौकिक तथा अलौकिक उन्नति निहित है। तथापि कुछ लोगोंके मनमें यह शंका हो सकती है कि अमुक-अमुक व्यक्तियोंके माता-पिताने शास्त्रमर्यादाके अनुसार सभी संस्कार करवाये तो भी उनमें ब्राह्मण, क्षत्रिय आदिके शम, दम, वीरता आदि गुणोंका उदय नहीं हुआ। उनकी इस शंकाका समाधान महाभारतमें इस प्रकार किया गया है—

कृतकृत्याः पुनर्वर्णा यदि वृत्तं न लभ्यते।
संकरस्त्वत्र नागेन्द्र बलवान् प्रसमीक्षतः॥

(वन० १८०। ३६)

हे नागेन्द्र! सभी संस्कारोंके करनेपर भी यदि ब्राह्मण आदि वर्ण अपने गुणोंको प्राप्त नहीं होते तो वहाँ बलवान् वर्णसंकरता हो गयी है, ऐसा समझना चाहिये।

इस समाधानका यही तात्पर्य है कि शरीर-विज्ञान, मनोविज्ञान आदिके आधारपर आधारित संस्कारोंमें कारणता तथा सद्गुणयुक्त जीवनमें कार्यता तो सुनिश्चित ही है, तो भी उनमें कहीं व्यभिचार देखा जाय तो कोई प्रबल प्रतिबन्धक ही उसमें बाधक होता है; उसीका अन्वेषण करना चाहिये, उनके कार्य-कारणभावमें सन्देह नहीं करना चाहिये। जैसे सभी देशोंमें शिक्षाकी वृद्धिके साथ-साथ अपराधोंकी

वृद्धि होती जा रही है। ५-१० नहीं ७५ प्रतिशत बालकों तथा युवकोंको नियन्त्रणमें रखना कठिन हो रहा है, तो भी 'शिक्षासे सद्गुणोंकी प्राप्ति होती है' इसमें सन्देह न करके हिंसा आदि अपराधप्रधान सिनेमा, उपन्यास आदिको ही उसमें कारण माना जाता है, शिक्षाको सद्गुणोंकी प्राप्तिमें ही कारण माना जाता है।

दूसरी बात यह है कि एक कार्यके जहाँ अनेक कारण होते हैं, वहाँ एक कारणके न होनेपर भी दूसरे कारणसे कार्य उत्पन्न हो जाता है। जैसे शुद्ध ताजा भोजन करना, परिश्रम करना, प्रातःकाल भ्रमण करना आदि साधनोंसे स्वास्थ्य ठीक रहता है। एक मजदूर शुद्ध ताजा भोजन नहीं करता एवं प्रातःकाल भ्रमण करने भी नहीं जाता तो भी स्वस्थ रहता है, ऐसा होनेपर भी इन दोनों साधनोंको स्वास्थ्यका कारण माना ही जाता है। मजदूरमें इन दोनों साधनोंके न होनेपर भी परिश्रमरूप तीसरा कारण है, जिससे उसका स्वास्थ्य ठीक रहता है। इसी प्रकार सद्गुणोंकी प्राप्तिमें गर्भाधानादि संस्कार, सत्संग, जन्मान्तरीय साधना आदि अनेक कारण होते हैं, इसलिये संस्काररहित व्यक्तिमें भी सद्गुण देखनेमें आते हैं, परंतु इतनेमात्रसे संस्कारोंमें सद्गुणकी कारणताका खण्डन नहीं हो जाता एवं दुर्गुणोंकी प्राप्तिमें गर्भाधान आदि संस्कारोंका न करना, दुःसंग, जन्मान्तरीय असाधना तथा वर्णसंकरता आदि अनेक कारण होते हैं। अतः कहीं गर्भाधानादि संस्कार करनेपर भी जन्मान्तरीय असाधना या प्रबल वर्णसंकरता आदिके कारण दुर्गुणोंकी प्राप्ति हो जाती है, तो भी इससे गर्भाधान आदि संस्कारोंमें सद्गुणकी कारणताका खण्डन नहीं हो जाता।

कार्य-कारणभावकी इस प्रकार विचारयुक्त व्यवस्था न माननेपर संसारमें कहीं भी कार्य-कारणभावका सद्भाव न दिखाया जा सकेगा,

जो कि अनुभव-विरुद्ध और सर्वविनाशक होनेसे किसीको भी मान्य न होगा। अतः गर्भाधानादि संस्कारोंके करनेपर भी यदि कहीं सद्‌गुण प्राप्त न हों या दुर्गुण देखनेमें आयें तो भी शरीर-विज्ञान, मनोविज्ञान, पदार्थ-विज्ञान आदि अनेक विज्ञानोंसे सिद्ध उनकी कारणतामें सन्देह नहीं करना चाहिये। कार्य-कारणभावोंमें उठनेवाले सन्देहोंका सम्यक् समाधान प्राप्त करनेके लिये प्रथम खण्डके अन्तमें लिखे गये 'उपसंहार' की आवृत्ति सर्वत्र करनी चाहिये। अतः अपने बालकोंकी जीवनचर्या कल्याणमयी बनानेके लिये उनके गर्भाधानादि संस्कार अवश्य करने चाहिये। आशा है, पाठकगण इस लेखका सदुपयोग करके अपने बालकोंके जीवनमें क्रान्तिकारी परिवर्तन लानेकी चेष्टा अवश्य करेंगे।

त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये।
गृहाण सम्मुखो भूत्वा प्रसीद पुरुषोत्तम॥

हरिः ॐ तत् सत्

तृतीय खण्ड

वैदिक-विविधचर्या-विज्ञान

मङ्गलाचरण

अखण्डानन्दबोधाय शिष्यसन्तापहारिणे।
सच्चिदानन्दरूपाय रामाय गुरवे नमः॥

उपक्रम—प्रथम खण्डमें वैदिक-दिनचर्याका तथा द्वितीय खण्डमें वैदिक-जीवनचर्याका वैज्ञानिक विवेचन किया गया, इस तृतीय खण्डमें वैदिक विविध आवश्यक आचरणोंका वैज्ञानिक विवेचन किया जायगा। देश, काल, व्यक्ति, परिस्थिति और अवस्था-भेदसे वैदिक आचरणोंके बहुत भेद हैं; यद्यपि उन सबका वैज्ञानिक विवेचन इस छोटे-से ग्रन्थमें तथा अल्पज्ञ व्यक्तिके द्वारा किया जाना सम्भव नहीं, तथापि इन तीनों खण्डोंमें किये गये वैज्ञानिक विवेचनोंसे पाठकोंको यह विश्वास हो जायगा कि वैदिक विधि-विधान विज्ञानमूलक हैं, अन्धविश्वासमूलक नहीं।

अभिवादन-विज्ञान

फल—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्॥

(मनु० २।१२१)

विधि—

उत्तानाभ्यां हस्ताभ्यां दक्षिणेन दक्षिणं सव्यं सव्येन पादावभिवादयेत्। (पैठीनसि)

अभिवादन (प्रणाम) करनेवाले तथा नित्य वृद्ध पुरुषोंकी सेवा करनेवाले पुरुषकी आयु, विद्या, कीर्ति और शक्ति (बल)—इन चारोंकी वृद्धि होती है। अपने दोनों हाथोंको ऊपरकी ओर सीधा रखते हुए दाहिने हाथसे दाहिने पैरका और बायें हाथसे बायें पैरका स्पर्श करता हुआ अभिवादन करे।

वृद्ध पुरुषोंको नित्य प्रणाम करनेसे वे प्रसन्न होकर अपने दीर्घकालीन जीवनमें सम्पादन किये हुए ज्ञानका दान प्रणाम करनेवालेको देते हैं, जिसका सदुपयोग करके मनुष्य दीर्घायु, यश और बल प्राप्त कर लेता है। इसीलिये वृद्धोंके अभिवादनका फल विद्या (ज्ञान), आयु, यश और बलकी वृद्धि बताया गया है। मनुष्यके शरीरमें रहनेवाली विद्युत्-शक्ति पृथ्वीके आकर्षणद्वारा आकृष्ट होकर पैरोंसे निकलती रहती है, दाहिने हाथसे दाहिने पैर और बायें हाथसे बायें पैरका स्पर्श करनेपर वृद्ध पुरुषके शरीरकी विद्युत्-शक्तिका प्रवेश प्रणाम करनेवाले पुरुषके शरीरमें सुगमतासे

हो जाता है। उस विद्युत्-शक्तिके साथ वृद्ध पुरुषके ज्ञानादि सद्‌गुणोंका भी प्रवेश हो जाता है। श्रद्धारूप सात्त्विक सहयोगीके कारण सात्त्विक ज्ञानादि सद्‌गुणोंका ही प्रवेश होता है, क्रोधादि दुर्गुणोंका नहीं। इस प्रकार ज्ञानदानद्वारा प्रत्यक्षरूपमें और विद्युत्-शक्ति-प्रवेशद्वारा अप्रत्यक्षरूपमें उनके गुणोंकी प्राप्ति प्रणाम करनेवाले व्यक्तिको होती है। विद्युत्-शक्ति मुख्यरूपसे पैरोंद्वारा निकलती है, इसलिये पैर ही छुए जाते हैं सिर आदि नहीं।

हाथ जोड़कर सिर झुकाना

जब वृद्ध पुरुष समीपमें होते हैं, तब उक्त रीतिसे पैर छूते हैं और जब वे अशुद्ध या कुछ दूर होते हैं, तब हाथ जोड़कर सिर झुकाते हैं। इसका तात्पर्य यह होता है कि हमारी क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्ति आपके अधीन है, आप जो आज्ञा देंगे उसे सिर (बुद्धि)-से स्वीकार करेंगे और हाथोंसे करेंगे। अन्य सभी जीवोंमें चलना, फिरना, खाना-पीना, तैरना आदि जीवनोपयोगी चेष्टाएँ प्रायः बिना शिक्षाके ही प्राकृत नियमानुसार स्वतः प्राप्त हो जाती हैं, किंतु मनुष्यको इनकी भी शिक्षाद्वारा ही प्राप्ति होती है। इस दृष्टिसे देखा जाय तो मनुष्य अन्य सभी प्राणियोंसे गया-बीता प्राणी सिद्ध होता है, तो भी—

नर तन सम नहिं कवनिउ देही। जीव चराचर जाचत तेही।
बड़ें भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा॥

इस प्रकारसे शास्त्रकारोंने इसकी बहुत प्रशंसा की है। इसका एकमात्र कारण यह है कि मनुष्यको जैसा ज्ञान मिला है, वैसा अन्य किसी भी प्राणीको नहीं मिला। इस विशेष ज्ञानके बलसे ही यह लघुकाय मानव विशालकाय हाथी-जैसे प्राणियोंको इस

लोकमें अपने वशमें रखता है तथा ज्ञान-ध्यानद्वारा भगवान्‌को प्राप्तकर परलोकमें सुख भोगता है एवं कर्म करनेके लिये स्वतन्त्र जैसे दो हाथ मनुष्यको मिले हैं, वैसे किसी प्राणीको नहीं मिले। यद्यपि बन्दर, गिलहरी आदि प्राणियोंके भी दो हाथ होते हैं तथापि वे उनसे चलनेका काम भी लेते हैं। इस कर्मस्वातन्त्र्यके कारण ही मनुष्ययोनिको कर्मयोनि कहते हैं। अतः कर्मस्वातन्त्र्यके प्रतीक दोनों हाथोंको बाँधकर तथा ज्ञानविशेषके प्रतीक सिरको झुकाकर वृद्ध महापुरुषोंको प्रणाम करनेका तात्पर्य यही है कि हम अपने कर्मस्वातन्त्र्यको रोककर आपके सामने सिर झुकाते हैं अर्थात् हम अपने ज्ञानके अनुसार कुछ भी न करके आपके आज्ञानुसार कर्म करेंगे। जो व्यक्ति प्रणाम करते समय हाथ नहीं जोड़ते, सिर नहीं झुकाते इतना ही नहीं, नम्र वाणीसे नहीं, किंतु कठोर वाणीसे 'महाराज प्रणाम' ऐसे शब्दमात्र बोलकर प्रणाम करते हैं, वे वस्तुतः प्रणाम शब्दके अर्थको भी नहीं जानते। प्रणाम शब्दका अर्थ होता है—प्र—**प्रकर्षेण**—अच्छी तरह, **नमति**—झुकता है।

जय रामजीकी, जय श्रीकृष्णकी कहना

वन्दनीय वृद्ध महापुरुषोंके अतिरिक्त जब अन्य व्यक्तियोंसे मिलते हैं तो परस्पर 'जय रामजीकी' कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य-जीवनका परम लक्ष्य भगवत्प्राप्ति ही है, इस सत्यका एक-दूसरेको स्मरण कराते रहना चाहिये। इसी प्रकार कृष्णभक्त 'जय श्रीकृष्ण' कहते हैं। संन्यासियोंके प्रति गृहस्थ मनुष्य '**ॐ नमो नारायणाय**' कहकर अभिवादन करते हैं और संन्यासी महात्मा 'जय नारायण' कहते हैं। यहाँ भी 'परस्परमें

एक-दूसरेको नारायणरूपमें देखना चाहिये' यह लक्ष्य ध्यानमें रखना ही मुख्य उद्देश्य है। संन्यास-आश्रमकी उच्चताका समादर करनेके लिये गृहस्थ '**नमः**' शब्दका प्रयोग करते हैं और संन्यासी शास्त्रमर्यादाका संरक्षण करनेके लिए '**जय**' शब्दका प्रयोग करते हैं। '**नमस्ते**' कहना तो ठीक नहीं; क्योंकि '**नमस्ते**' शब्दमें '**नमः+ते**' यह दो पद हैं। '**ते**' यह चतुर्थी विभक्तिका एकवचन है, जिसका अर्थ है 'तेरे लिये'। यदि छोटा व्यक्ति बड़ेको नमस्ते कहता है तो बड़ोंके प्रति '**ते**' इस एकवचनका प्रयोग ठीक नहीं, और यदि बड़ा छोटेके लिये नमस्ते कहता है तो '**नमः**' कहना ठीक नहीं। यद्यपि शास्त्रोंमें गुरुजनोंके लिये भी एकवचनका तथा नमस्ते पदका प्रयोग मिलता है तो भी लोक-व्यवहारमें गुरुजनोंके लिये एकवचनका प्रयोग करना जैसे उचित नहीं माना जाता, वैसे ही बड़ोंके प्रति नमस्ते कहना भी उचित नहीं माना जा सकता।

मातृ-वन्दना

संसारमें जितने वन्दनीय गुरुजन हैं, उन सबकी अपेक्षा माता परम गुरु होनेके कारण विशेष वन्दनीय है। शास्त्रने तो यहाँतक कहा है कि माताका गौरव पितासे हजार गुना अधिक है। सारे संसारद्वारा वन्दनीय संन्यासीको भी माताकी वन्दना प्रयत्नपूर्वक करनी चाहिये। इन भावोंको कहनेवाले शास्त्रवचन क्रमशः नीचे लिखे जा रहे हैं—

गुरोर्हि वचनं प्राहुर्धर्म्यं धर्मज्ञसत्तम।
गुरूणां चैव सर्वेषां माता परमको गुरुः॥

(महा०, आदि० १९५।१६)

सहस्त्रं तु पितॄन् माता गौरवेणातिरिच्यते।

(मनु० २।१४५)

सर्ववन्द्येन यतिना प्रसूर्वन्द्या प्रयत्नतः॥

(स्कन्दपु०, काशी० ११।५०)

माताको इतना अधिक गौरव देनेका कारण यह है कि सन्तानको गर्भमें धारण करने तथा पालन करनेमें माताको बहुत कष्ट उठाना पड़ता है। इस कारण शास्त्रमें कहा है कि पिता आदि गुरुजन पतित हो जायँ तो उनका त्याग कर देना चाहिये, परंतु माता यदि पतित हो जाय तो भी उसका त्याग नहीं करना चाहिये। माता और पिताके बीचमें यदि विवाद हो जाय तो पुत्र उनके बीचमें किसी तरफ न बोले, यदि अवश्य बोलना ही पड़े तो माताके अनुकूल ही बोले—

पतिता गुरवस्त्याज्या न तु माता कथञ्चन।
गर्भधारणपोषाभ्यां तेन माता गरीयसी॥

(मत्स्यपु० २२७।१५०)

'न मातापित्रोः अन्तरं गच्छेत् पुत्रः।'
'कामं मातुरेव ब्रूयात्।'

माता सन्तानके लिये कितना अधिक कष्ट सहती है। इसे सभी जानते हैं कि माता स्वयं सर्दी-गर्मी सहकर बच्चेको सर्दी-गर्मीसे बचाती है, स्वयं भूखी रहकर बालकको खिलाती है, स्वयं फटे कपड़े पहनकर बालकको नये वस्त्र पहनाती है। अतः माताको सर्वाधिक गौरव देना तथा सर्ववन्दनीय संन्यासीद्वारा भी वन्दनीया बताना सर्वथा उचित ही है। माताके इस गौरवको प्रकट करनेके लिये ही व्याकरणशास्त्रमें 'माता-पिता' ऐसा लिखना शुद्ध माना गया है और 'पिता-माता' ऐसा लिखना अशुद्ध माना गया है।

नारी-सम्मान

शास्त्रके इन वचनोंपर ध्यान देनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि ऋषियोंने स्त्रीको दासी नहीं, परम पूज्या माना है। अतः जो लोग यह आक्षेप करते हैं कि ऋषि स्त्रीको पुरुषके बराबर नहीं मानते, उनका वह आक्षेप सर्वथा झूठा है। शास्त्रकारोंने स्त्रीको पुरुषके बराबर ही नहीं, अपितु अधिक श्रेष्ठ कहा है—

जौं केवल पितु आयसु ताता। तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता॥

यदि कहा जाय कि यहाँ तो माताको ही बड़ा कहा अन्य स्त्रीको नहीं, तो यह कहना भी ठीक नहीं; क्योंकि मनुस्मृतिमें स्त्रीमात्रको लक्ष्य करके कहा है कि जिस घरमें स्त्रियोंका आदर होता है, उस घरमें देवता रमण करते हैं और जहाँ स्त्रियोंका आदर नहीं होता, वहाँ सभी कर्म निष्फल हो जाते हैं—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः॥

(मनु० ३।५६)

नारी-परतन्त्रता-विज्ञान

स्त्री-पारतन्त्र्यरहस्य—प्रसंगतः यहाँ यह शंका हो सकती है कि वस्तुतः यदि ऋषियोंके हृदयमें स्त्रियोंके प्रति इतना अधिक समादरका भाव है तो उन्होंने स्त्रीको सदा पुरुषके अधीन रहनेका विधान क्यों बनाया? यहाँतक कि पतिके मर जानेपर परमपूज्या तथा वृद्धा माँ भी अपने पुत्रके परवश होकर रहे, कभी भी स्वतन्त्र न रहे, ऐसा विधान माताके लिये भी किया है—

बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत् पाणिग्राहस्य यौवने।
पुत्राणां भर्तरि प्रेते न भजेत् स्त्री स्वतन्त्रताम्॥

(मनु० ५।१४८)

बाल्यावस्थामें पिताके, युवावस्थामें पतिके और पतिके मरनेपर पुत्रोंके अधीन रहे, स्त्री कभी भी स्वतन्त्र न हो।

उक्त शंकाका उत्तर यह है कि प्रायः स्त्रीके शरीर तथा मनकी बनावट ही ऐसी है कि जिससे स्त्रीका कल्याण सदा परतन्त्र रहनेमें ही है, स्वतन्त्र रहनेमें नहीं। इसे ही यहाँ कुछ स्पष्ट करनेका प्रयास किया जाता है। बालकोंका पालन-पोषण ममता, वात्सल्य, सेवा-परायणता तथा सहनशीलता आदि भावप्रधान गुणयुक्त हृदयके बिना नहीं हो सकते, अतः प्रकृतिने प्रायः स्त्रीको इन गुणोंसे युक्त भावप्रधान हृदयवाली ही बनाया है, विचारप्रधान मस्तिष्कवाली नहीं बनाया। यही कारण है कि एक विधवा स्त्री मजदूरी करके भी बालकका जितना सुख देकर पालन कर लेती है, उतना सुख देकर बालकका एक करोड़पति विधुर पुरुष पालन नहीं कर पाता।

एक घरमें हम भोजन करने गये, स्त्री भोजन बना रही थी, एक

रोते हुए बालकको गोदमें लिये हिला-हिलाकर सुलानेकी कोशिश करती थी। दूसरा बालक माँकी चोटीको खींचता हुआ जोर-जोरसे चिल्लाता था, 'माँ! भूख लगी है, खानेको दे।' स्त्री उस बालकसे प्यारभरे शब्दोंमें कहती—बेटा! थोड़ी देर रुक जा, देती हूँ। तीसरे-चौथे बालक परस्पर लड़ रहे थे। मारपीट, गाली-गलौज करते हुए जोर-जोरसे चिल्लाते, माँ! देख, यह हमें मारता है, माँ! देख, यह हमें गाली देता है, माँ उन दोनोंको भी प्यारसे समझाती, बेटा! देखो, लड़ो नहीं। स्वामीजी घरमें आये हैं, इनको प्रणाम तो करो।

मैं १५-२० मिनट यह तमाशा देखता रहा, बालकोंके जोर-जोरसे चिल्लानेसे मेरा तो सिर दुःखने-सा लगा। स्त्रीने थाली लगाकर मेरे सामने रखी। सभी बालकोंको लाकर प्रणाम करवाया। मैंने कहा—धन्य हो देवी! तुम्हारी-जैसी सहनशीलता तो हमारे जीवनमें कभी भी नहीं आ सकती। मैं तो १५-२० मिनटमें ही परेशान हो गया। मेरी बात सुनकर स्त्रीने सहजभावसे हँसकर कहा—महाराज! हमलोगोंकी यह सहनशीलता भगवान्‌की सहज देन है, नहीं तो बालकोंका भला पालन कैसे हो, ये बालक तो सारे दिन ऐसे ही उपद्रव करते रहते हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि बालकोंके पालन-पोषणके लिये ममता तथा वात्सल्यसे युक्त सहनशीलताका स्वभाव प्रकृतिने स्त्रीको विशेषरूपमें दिया है।

सेवापरायणता भी पुरुषकी अपेक्षा प्रायः स्त्रीमें ही अधिक होती है। सुशीला सुरूपा पतिपरायणा प्राणप्यारी अपनी स्त्रीकी भी रुग्णावस्थामें पुरुष उतनी अच्छी सेवा नहीं कर सकता, जितनी अच्छी सेवा पतिके मित्र या पड़ोसी पुरुषकी स्त्री कर देती है। इसी

विज्ञानके आधारपर अस्पतालोंमें रोगीकी सेवाके लिये नर्सोंके रूपमें स्त्रियाँ ही रखी जाती हैं। महाभारतमें तो यहाँतक कह दिया है कि मैं सत्य कहता हूँ कि वैद्योंका यह मत है कि सभी दुःखों (रोगों)-में भार्या (पत्नी)-के समान कोई और औषध नहीं है—

न भार्यासमं किञ्चिद् विद्यते भिषजां मतम्।
औषधं सर्वदुःखेषु सत्यमेतद् ब्रवीमि ते॥

(वनपर्व ६१। २९)

यहाँ भार्या (पत्नी)-रूपा स्त्रीका ही कथन परस्त्रीसंगसे होनेवाली शारीरिक, मानसिक तथा सामाजिक हानियोंसे बचानेके लिये किया गया है। अतः जहाँतक हो सके, परस्त्रीसे सेवा नहीं करानी चाहिये। यदि परस्त्रीसे सेवा लेनेका अवसर आपत्तिकालमें या अस्पताल आदिमें अनिवार्यरूपसे आ पड़े तो पूर्ण सावधानी रखनी चाहिये।

प्रायः स्त्रियोंमें विचारकी प्रधानता नहीं होती। पाश्चात्य देशोंमें स्त्री-पुरुषोंको शिक्षाकी समान सुविधाएँ देकर अनेक बार यह देखा गया है कि गणित, विज्ञान आदि विचार (बुद्धि)-प्रधान विषयमें स्त्रियाँ पुरुषकी अपेक्षा बहुत कम सफल होती हैं।

वीर्यकी अधिकता या प्रबलता होनेपर बालकका जन्म होता है और रजकी अधिकता या प्रबलता होनेपर बालिकाका जन्म होता है। इसलिये पुरुषके शरीरकी अपेक्षा स्त्रीका शरीर कोमल तथा निर्बल होता है। उक्त विवेचनसे यह सिद्ध हो जाता है कि प्रकृतिने प्रायः पुरुषकी अपेक्षा स्त्रीको भावप्रधान हृदयवाली कोमल बनाया है और बुद्धि-बल तथा शरीर-बल कम दिया है। ऐसी दशामें इनकी

बनावटको देखते हुए सदा परतन्त्र रखनेमें ही इनका कल्याण वैसे ही है, जैसे मनःप्रधान तथा बुद्धि-बल एवं शरीर-बलसे हीन कोमल बालकोंका कल्याण परतन्त्र रहनेमें ही होता है।

हजारों-लाखों स्त्रियोंमें अपवादके रूपमें एक-दो स्त्रियाँ ऐसी भी होती हैं कि जो पुरुषकी अपेक्षा भी अधिक बुद्धिवाली एवं बलवाली होती हैं। उनको यह शंका हो सकती है कि जो स्त्रियाँ भावप्रधान एवं बुद्धिहीन हैं, उन्हींको परतन्त्र रहनेका विधान शास्त्रको बनाना चाहिये था, स्त्रीमात्रके लिये नहीं। उनकी इस शंकाका उत्तर यह है कि विधान अधिकांशके आधारपर बनाये जाते हैं, अपवादरूपमें पाये जानेवाले लाखोंमें एक-दोके आधारपर नहीं। ऐसा न माननेपर कोई भी विधान आजके बुद्धिमान् भी न बना सकेंगे, जिससे समाजमें अनेक प्रकारकी अव्यवस्था पैदा हो जायगी। भावप्रधान एवं बुद्धिबल और शरीर-बलसे हीन बालक तथा स्त्रियोंको कोई चतुर चालाक बलवान् बहकाकर या बलका प्रयोग करके संकटमें न डाल दे—इस करुणापूर्ण दृष्टिसे ही उन्हें परतन्त्र रहनेका विधान बनाया है।

देवीवत् पत्नी पूज्या क्यों नहीं?—समान अधिकार चाहनेवाली आधुनिक स्त्रियोंका तथा उनका समर्थन करनेवाले दयालु पुरुषोंका भी कहना है कि शास्त्र बनानेवाले ऋषि पुरुष थे, इस कारण उन्होंने पुरुषोंका पक्षपात करके पत्नीद्वारा पतिकी देववत् पूजा करनेका विधान बनाया, यदि वे समदर्शी थे तो पतिद्वारा पत्नीकी भी देवीवत् पूजा करनेका विधान क्यों नहीं बनाया? इतना ही नहीं, दुष्ट पतिका भी त्याग न करनेका विधान बनाकर तो स्त्रियोंपर वज्रपात ही किया है।

उक्त कटु आक्षेपका समाधान यह है कि जहाँ ज्येष्ठता तथा श्रेष्ठताका भाव होता है, वहीं पूज्यताका भाव बनता है। यही कारण है कि शरीरसे स्त्रीजातिकी होनेपर भी ज्येष्ठा श्रेष्ठा माताके प्रति पूज्यताका भाव बन सकनेके कारण शास्त्रकारोंने मातामें देवबुद्धिका विधान किया है '**मातृदेवो भव**'। प्रायः पति पत्नीसे आयुमें ज्येष्ठ तथा शरीरबल और बुद्धिबलमें श्रेष्ठ होता है, अतः ज्येष्ठता तथा श्रेष्ठताके भावसे युक्त पतिद्वारा ज्येष्ठता तथा श्रेष्ठतासे रहित पत्नीके प्रति पूज्यताका भाव बनना सम्भव न होनेके कारण ही पत्नीकी देवीवत् पूजा करनेका विधान नहीं बनाया, पुरुषोंका पक्षपात करनेके कारण नहीं।

इसके अतिरिक्त पुरुष स्त्रीको भोग्य और अपनेको भोक्ता माननेके कारण भी अपनेमें श्रेष्ठताका भाव रखता है। यद्यपि शारीरिक सुखका उपभोग दोनों करते-कराते हैं, अतः दोनों ही भोक्ता और दोनों ही भोग्य हैं, तथापि स्त्री अपनेको भोग्य ही मानती है, भोक्ता नहीं मानती और पुरुष अपनेको भोक्ता ही मानता है, भोग्य नहीं मानता। यही कारण है कि विकसित कहे जानेवाले जिन देशोंमें स्त्री-पुरुषकी समानताका प्रचुर प्रचार और प्रसार हो चुका है, उन देशोंमें भी पुरुष और स्त्रीमें परस्पर भोक्ता एवं भोग्य-सम्बन्धी मान्यता ऐसी ही है।

इन सब विवेचनोंसे अति स्पष्ट हो जाता है कि पुरुषमें भोक्तापनेका और स्त्रीमें भोग्यपनेका भाव स्वभावसे ही रहता है। नर और नारीमें भोक्ता और भोग्यका भाव पशु-पक्षियोंमें भी देखा जानेके कारण सहज है, आगन्तुक नहीं। अतः ज्येष्ठता तथा श्रेष्ठता भाववाले भोक्ता पुरुषका भोग्या पत्नीके प्रति पूज्यताका भाव न बन सकनेके कारण ही ऐसा विधान नहीं किया गया।

तलाकसे उत्पन्न होनेवाली जटिल समस्याओंपर विस्तारसे विचार द्वितीय खण्डके 'विवाह माता-पिता करें, स्वयं नहीं' इस शीर्षकमें किया गया है। तलाककी उन जटिल समस्याओंसे बचानेके लिये समदर्शी दयालु ऋषियोंने दुष्ट पतिका त्याग न करनेकी तरह ही दुष्ट पत्नीका त्याग न करनेका भी विधान समान भावसे बनाया ही है। मार्कण्डेयपुराणमें स्पष्ट कहा है—

पत्न्यानुकूलया भाव्यं यथाशीलेऽपि भर्तरि।
दुःशीलापि तथा भार्या पोषणीया नरेश्वर॥

(मार्क० पु० ६९।५९)

हे राजन्! दुःस्वभाववाले पतिकी सेवा पत्नीको जैसे करनी चाहिये, वैसे ही बुरे स्वभाववाली पत्नीका भी भरण-पोषण पतिको करना चाहिये।

शास्त्रोंके इस प्रकारके समान विधानके कारण ही आज भी भारतवर्षमें प्रायः दुष्ट पतियोंका त्याग न करके पत्नियाँ उनके साथ जैसे निर्वाह कर रही हैं, वैसे ही प्रायः दुष्ट पत्नियोंका त्याग न करके पति भी उनका पालन कर रहे हैं। अतः शास्त्रकारोंने जो स्त्रीजातिको पुरुषकी अपेक्षा अधिक गौरव दिया और स्त्रीजातिको पुरुषके परतन्त्र भी रखा तथा पतिमें पूज्य बुद्धिका विधान किया, किंतु पत्नीमें पूज्य बुद्धिका विधान नहीं किया, इन सबमें शरीर-विज्ञान तथा मनोविज्ञान-मूलक कल्याणकारी दूरदर्शितायुक्त करुणादृष्टि ही कारण है, पक्षपातमूलक राग-द्वेष या कठोरता आदि कारण नहीं। जिन ऋषियोंने अपनी अविचल समदर्शिता तथा परम दयालुताके कारण अचर वृक्षोंको भी वृथा कष्ट देना तथा चर पशु-

पक्षियोंको भी वृथा परतन्त्र रखना पाप माना है, वे ऋषि मोद-प्रमोदप्रदायिनी, वंशवर्धिनी, लोक-परलोक-सहगामिनी, अर्धांगिनीको वृथा कष्ट देनेका और वृथा परतन्त्र रखनेका विधान भला कैसे बना सकते हैं? अतः आधुनिक स्त्रियोंद्वारा समानताकी माँग करना तथा दयालु सुधारक पुरुषोंद्वारा उसका समर्थन करना शरीर-विज्ञान तथा मनोविज्ञानके विरुद्ध अदूरदर्शितामूलक होनेके कारण अकल्याणकारक होनेसे आदरणीय और आचरणीय नहीं है।

दान-विज्ञान

समाजमें कुछ लोगोंके पास जीवनके उपयोगी अति आवश्यक अन्न, वस्त्र, औषधि और घरका भी अभाव हो; इसके विपरीत कुछ लोगोंके पास इनका इतना अधिक बाहुल्य हो कि उनका दुरुपयोग हो रहा हो, ऐसी विषमताको कोई भी मानव-हृदय अच्छा नहीं कहेगा। यही कारण है कि प्राचीन एवं अर्वाचीन बुद्धिमान् मानवोंने इस विषमताको मिटानेका प्रयास किया है और कर रहे हैं। इस कार्यमें सम्यक् सफलता उन्हींको मिलेगी जो उसके सम्पूर्ण कारणोंपर सम्यक् विचार करके उसके अनुरूप तथा नूतन दोषोंके अनुत्पादक साधनोंसे विषमता मिटानेका प्रयास करेंगे। अतः यहाँ यह विचार करना परम आवश्यक हो जाता है कि उक्त विषमताको मिटानेके लिये अर्वाचीन बुद्धिमानोंके द्वारा किये जानेवाले साधन ठीक हैं या प्राचीन ऋषियोंद्वारा बनाया गया दानका विधान ठीक है। इसका तुलनात्मक विवेचन यहाँ करनेसे पाठकोंको यह सहज ही ज्ञान हो जायगा कि अन्य सभी विषयोंकी तरह इस विषयपर भी ऋषियोंने कितनी दूरतक विचार करके दानका विधान किया है।

आर्थिक समताके आधुनिक उपाय

(१) वर्तमान सरकारने कर (टैक्स)-का अपार भार लादकर इस विषमताको दूर करनेका प्रयास किया, किंतु २५-३० वर्ष पूर्व वे जितने धनी थे, उससे भी ज्यादा धनी अब हो गये हैं। इस असफलताका मुख्य कारण यह है कि जब किसीकी वस्तुको उसको प्रसन्न करके नहीं, अपितु बलपूर्वक लेनेका प्रयास किया जाता है तब वह उस वस्तुकी अनेक उचित-अनुचित उपायोंसे रक्षा करता है,

इस मनोविज्ञानपर ध्यान नहीं दिया गया।

(२) कुछ लोगोंका कहना है करभार बढ़ाकर नहीं, किंतु मुख्य-मुख्य उपार्जनके साधन कल-कारखानोंका राष्ट्रीयकरण कर लिया जाय तो विषमता मिट जायगी। परंतु इसके भी परिणाम अच्छे नहीं होंगे; क्योंकि अभीतक सरकारने जिन-जिन साधनोंका राष्ट्रीयकरण किया है, उनमें प्रायः अधिकांशमें लाभ बहुत कम हुआ है, इतना ही नहीं अपितु कहीं-कहीं हानि भी उठानी पड़ी है। इसका मुख्य कारण यह है कि जब व्यक्तिका किसी साधनमें व्यक्तिगत (निजी) ममत्व होता है, तब वह अनेक बड़े-बड़े कष्ट सहकर समय-असमयपर काम करके भी हानिसे रक्षा तथा लाभ-प्राप्तिका प्रयास करता है, व्यक्तिगत (निजी) ममत्व न होनेपर तो महती हानिकी भी हँसते हुए उपेक्षा करता है। अतः जो लोग सम्पूर्ण साधनोंका राष्ट्रीयकरण कर लेना चाहिये—ऐसा कहते हैं, उनका सिद्धान्त भी ठीक न होगा, यह बात स्वतः सिद्ध हो जाती है।

(३) कुछ सुधारकोंका कहना है कि भारतवर्ष कृषिप्रधान देश है, अतः यह कानून बना दिया जाय कि जो लोग स्वयं अपने हाथोंसे खेती करें वे ही खेतके स्वामी होंगे, इससे विषमता दूर हो जायगी। इस बातका उन्हींके वे विचारशील मित्र विरोध करते हुए कहते हैं कि दो आदमी नौकरी करते हैं, समान वेतन पाते हैं, उनमेंसे एकने अपना तथा बच्चोंका पेट काटकर बैंकमें कुछ रुपया जमा किया, दूसरेने कुछ जमीन खरीद ली। ऐसी दशामें जैसे बैंकमें जमा सम्पत्ति और उसके ब्याजपर जमा करनेवालेका अधिकार न्याययुक्त होनेसे स्वीकार किया जाता है, वैसे ही जमीन और जमीनसे प्राप्त अन्न या धनपर भी जमीन खरीदनेवालेका अधिकार न्याययुक्त होनेके कारण स्वीकार करना ही चाहिये।

इतना ही नहीं किंतु जैसे धन जमा करनेवाले व्यक्तिके मर जानेपर उसके पुत्र-पौत्रोंका अधिकार जीविकाके अन्य साधनोंके रहते हुए भी स्वीकार किया जाता है, वैसे ही जमीनपर भी पुत्र-पौत्रोंका अधिकार जीविकाके अन्य आधार रहते हुए भी स्वीकार करना ही चाहिये। मनु महाराजने भी पिताकी सम्पत्तिपर पुत्र और पौत्रोंके अधिकारको दायभाग नामसे स्वीकार किया है और इसको भी धर्मपूर्वक धनकी प्राप्तिके सात उपायोंमें गिना है—

सप्त वित्तागमा धर्म्या दायो लाभः क्रयो जयः।
प्रयोगः कर्मयोगश्च सत्प्रतिग्रह एव च॥

(मनु० १०।११५)

अर्थात् दाय (पिता-पितामहकी सम्पत्ति), लाभ (अपनी जमीन या घरमें मिली या मित्रादिकोंद्वारा दी हुई सम्पत्ति), खरीदी हुई वस्तु, जय (विजयसे प्राप्त धन), प्रयोग (ब्याजसे प्राप्त धन), कर्मयोग (कृषि तथा व्यापारद्वारा प्राप्त धन) और सत्यप्रतिग्रह (सात्त्विक दानसे प्राप्त धन)—इन सात उपायोंसे प्राप्त धन धार्मिक अर्थात् न्यायपूर्वक प्राप्त धन है।

(४) कुछ दूरदर्शी सुधारकोंका कहना है कि महाविशाल यन्त्रोंका निर्माण होनेसे विषमता आयी है; क्योंकि इन महाविशाल यन्त्रोंद्वारा थोड़े समयमें थोड़े से व्यक्तियोंद्वारा बहुत अधिक वस्तुका उत्पादन हो जाता है, इससे यन्त्रके मालिकके पास बहुत धनसंग्रह हो जाता है और अनेक लोगोंको काम न मिलनेसे वे धनहीन हो जाते हैं, अतः इन महाविशाल यन्त्रोंका सर्वथा तिरस्कार करके लघु यन्त्रोंसे होनेवाले उद्योगोंको ही आदरपूर्वक स्वीकार करना चाहिये। इस तथ्यको समझकर ही महात्मा गाँधीने चरखेका प्रचार किया था। गाँधीजी यन्त्रमात्रके विरोधी नहीं थे; क्योंकि उनका हाथसे

चलनेवाला चरखा और करघा भी यन्त्र ही है। इतना ही क्यों, सिल-लोढ़ा, हथौड़ी-हथौड़ा भी यन्त्र ही हैं। इन लघु यन्त्रोंके बिना तो मनुष्यका काम ही नहीं चल सकता। इसीलिये मनु महाराजने भी स्वर्ण आदि सभी प्रकारकी खानोंमें अधिकार करने तथा महायन्त्रोंके प्रवर्तनको भी पातकोंमें गिनाया है—

'सर्वाकरेष्वधिकारो महायन्त्रप्रवर्तनम्।'

(मनु० ११। ६३)

आर्थिक समताका शास्त्रीय उपाय—दान

जिस प्रकार तीन पक्ष सारहीन हैं, उसी प्रकार 'गोली मारकर धनियोंके धनको छीन लो' यह कथन भी सारहीन ही है। इतना ही नहीं, अन्यायमूलक होनेसे सर्वथा त्याज्य है। अन्तिम चौथा पक्ष अवश्य ही कुछ दूरदर्शितामूलक है, यही कारण है कि मनु महाराजने भी महायन्त्रप्रवर्तनपर रोक लगानेको कहा है। जिस देशमें जनसंख्या औसतन ज्यादा हो और काम कम हो, वहाँ तो महायन्त्रोंसे बहुत अधिक बेकारी बढ़ती है। खेदका विषय है कि आजकी सरकार सिद्धान्ततः इसे स्वीकार करती हुई भी अन्य देशोंके साथ समानता करनेके लिये महाविशाल यन्त्रोंवाले महाविशाल कारखानोंको लगवाती जा रही है।

महाविशाल यन्त्रोंपर पूरी रोक लग जानेपर कुछ विषमता कम तो अवश्य होगी, परंतु इतनेमात्रसे काम चलेगा नहीं; क्योंकि विषमतामें एकमात्र कारण महाविशाल यन्त्र ही नहीं हैं और भी अनेक कारण हैं। उनपर भी गम्भीरतासे विचार किये बिना समस्या हल नहीं हो सकती। किसी भी समस्याका समाधान करनेके लिये उसके स्थूल कारणसे लेकर मूल कारणतक सम्यक् विचार करनेकी अपनी समुचित शैलीसे ऋषियोंने इस विषमतारूप समस्यापर भी

गम्भीर विचार किया है, ऋषियोंने देखा कि—

(१) शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक विकासका समान अवकाश देनेपर भी सभीका समान विकास होता नहीं, अतः विकसित शरीर, मन तथा बुद्धिवाले अपनी कार्यकुशलतासे अधिक धनका उपार्जन कर लेते हैं।

(२) समान उपार्जन करनेवालोंमें भी शरीरकी रुग्णता-अरुग्णता, क्षुधा शक्तिकी प्रबलता-न्यूनता, परिवारके भारकी अधिकता-न्यूनता तथा मितव्ययिताकी योग्यता-अयोग्यताके कारण आर्थिक विषमता हो जाती है।

(३) शारीरिक, मानसिक तथा बौद्धिक समान विकासवालोंमें भी प्रारब्धकी प्रबलता और अप्रबलताके कारण काम मिलने और न मिलनेसे, लाटरी खुलने और न खुलनेसे, कहीं ओलोंकी वर्षा, अति वर्षा तथा सूखा पड़नेसे भी आर्थिक विषमता हो जाती है।

प्रथम तो ऋषियोंने इस प्रकार दृष्ट और अदृष्ट (प्रारब्ध)-के आधारपर विषमताके स्थूल और मूल कारणोंपर विस्तारसे गम्भीरतापूर्वक विचार किया। बादमें इस निर्णयपर पहुँचे कि यद्यपि इन कारणोंका निराकरण न हो सकनेके कारण धन-उपार्जनमें विषमताका रहना अनिवार्य है, तथापि यदि अधिक धनवाले धनीसे कम धनवाले निर्धनको कुछ दिला दिया जाय तो अति विषमता उचित समतामें बदल जायगी, परंतु धन इस रीतिसे दिलाया जाय कि जिससे देने और लेनेवालोंमें संघर्ष न हो। देनेवाला यह न कहे कि चाहे चमड़ी चली जाय दमड़ी न दूँगा और लेनेवाला भी यह न कहे कि चाहे मेरी चमड़ी चली जाय तुम्हारे पास दमड़ी भी न रहने दूँगा, सब ले लूँगा; क्योंकि एक आर्थिक विषमताजन्य दुःखको मिटानेके लिये अपनाया हुआ साधन यदि अनेक दुःखोंको उत्पन्न कर दे तो वह

दुःख मिटानेका नहीं, अपितु दुःख बढ़ानेका ही साधन कहलायेगा। अतः आर्थिक विषमताको मिटानेवाले साधन ऐसे होने चाहिये, जिससे देनेवाला कहे कि हमें इतना कम नहीं, किंतु इतना अधिक देना ही है और लेनेवाला कहे कि हमें इतना अधिक नहीं लेना है, इतना कम ही लेना है। इतनेसे ही मेरा काम चल जायगा। जरा ऊपर कहे 'चमड़ी-दमड़ीवाले' और 'अधिक देना है, अधिक नहीं लेना है', इन दोनोंका एक मानसिक दृश्य बनाकर देखिये। पहला कितना भयंकर तथा परिणाममें कितने दुःखोंको उत्पन्न करनेवाला है और दूसरा कितना हृदयद्रावक तथा परिणाममें कितने सुखोंको जन्म देनेवाला है।

इस प्रकार दूरदर्शी मनीषी ऋषियोंने आर्थिक विषमताके कारणोंपर ही नहीं, किंतु उसको दूर करनेवाले साधनपर भी गम्भीरतासे विचारकर दानका विधान किया है। दान देनेवाला व्यक्ति महान् धनका दानरूपमें त्याग करके भी परम सुखका अनुभव करता है, इसके विपरीत बलपूर्वक लेनेकी इच्छावालोंके लिये अल्प धनका त्याग महान् दुःखका अनुभव कराता है। बहुत प्राचीनकालकी बात नहीं कहता, केवल सौ-पचास वर्षपूर्व और कुछ लोग अब भी दानके नामपर प्रसन्नतापूर्वक लाखों रुपये लगाकर देवालय, विद्यालय, औषधालय, भोजनालय (अन्नक्षेत्र), अनाथालय, गोशाला, पौसला तथा धर्मशाला बनवा गये और बनवा रहे हैं, परंतु दानके नामपर प्रसन्नतापूर्वक लाखों रुपये देनेवाले ये उदारचेता पुरुष बलपूर्वक चन्दा तथा चिट्ठाद्वारा पैसा माँगनेपर सौ रुपये देनेमें कष्टका अनुभव करते हैं। मैंने तो यहाँतक देखा है कि देवालय आदि बनवानेवाले दानीका पैसा कम पड़ जानेपर भी यदि उनसे कोई स्वयं जाकर कहता है कि इतना पैसा मेरा भी लगा दीजिये, तो वे दानी प्रायः उसे स्वीकार

नहीं करते, अपने पेटको काटकर, खेतको बेचकर या कर्ज लेकर भी उस कामको पूरा करनेमें ही सुखका अनुभव करते हैं। इसके विपरीत कोई उपाय न रहनेपर दूसरों का पैसा लगाकर काम पूरा करनेमें लज्जाका अनुभव करते हैं।

शास्त्रीय दानविधानके आधारपर ही भारतवर्षमें सर्वत्र जितने देवालय, विद्यालय, औषधालय तथा कुएँ, बावड़ी, तालाब आदि सर्वजनोपयोगी स्थान बने हैं; वे प्रायः एक-एक व्यक्तिने ही बनवाये हैं। आज जब इन्हीं कार्योंके लिये चन्दा-चिट्ठा किया जाता है या कर लगाया जाता है तो जो देनेलायक नहीं हैं, उन्हें भी मजबूर होकर देना पड़ता है और जो हजार देनेलायक होते हैं, वे सौ देनेमें भी दुःखका अनुभव करते हैं। दान-विधानसे प्रेरित होकर दानी हजार नहीं दस हजार लगाकर भी सुखका अनुभव करते हैं और न देनेलायक लोगोंपर जरा भी भार नहीं आता। दोनों प्रथाओंमें यही महान् अन्तर है, कार्य तो दोनों प्रथाओंसे हो जाता है।

अतः आर्थिक विषमताको मिटानेके लिये दानका विधान ही मनोविज्ञानमूलक समुचित उपाय है। परंतु खेदका विषय है शास्त्रीय दान-विधानका प्रचार-प्रसार करनेके लिये धर्मशास्त्रोंको पढ़ाने या धर्मशास्त्रवर्णित दानी महानुभावोंके चरित्रोंको पाठ्य पुस्तकोंमें सम्मिलित करनेतकमें भी आपत्ति है। ऐसी दशामें आर्थिक विषमता समाप्त नहीं हो सकती। इसे समाप्त करनेके लिये सरकार जो-जो कानून (ला) बनायेगी, लोग उसे परास्त कर देंगे। मेरा तो सुदृढ़ विश्वास है कि आर्थिक विषमताकी एक समस्याका नहीं, समाजमें छायी हुई अनेक विषम समस्याओंका समाधान धार्मिक भावनाओंका उत्थान होनेपर ही होगा। इसका कारण यह है कि एकान्तमें भी अपराध करनेसे बचानेवाली तो पाप-पुण्यकी धार्मिक भावना ही है। इसके बिना

एक-एक व्यक्तिपर एक-एक सिपाही रखकर भी अपराधोंको नहीं रोका जा सकता; क्योंकि वह सिपाही भी एक व्यक्ति है, वह जब अपराध करनेवाले व्यक्तिसे मिल जायगा तब कौन रोकेगा?

शास्त्रोंमें दानका विधान—

न्यायोपार्जितवित्तस्य दशमांशेन धीमतः।
कर्तव्यो विनियोगश्च ईश्वरप्रीत्यर्थमेव च॥

(स्कन्दपु०)

न्यायपूर्वक पैदा किये हुए धनका दशम अंश बुद्धिमान् मनुष्यको दान-कार्यमें ईश्वरकी प्रसन्नताके लिए लगाना चाहिये।

अन्यायपूर्वक पैदा किये हुए धनका दान करनेसे कुछ भी पुण्य नहीं होता—इस बातको बतानेके लिये श्लोकमें 'न्यायपूर्वक' यह पद जोड़ा है। देवीभागवतमें तो स्पष्ट कहा है कि अन्यायसे उत्पादित धनद्वारा किया गया शुभ कर्म व्यर्थ है, उससे न तो इस लोकमें कीर्ति ही होती है और न परलोकमें ही कुछ फल मिलता है—

अन्यायोपार्जितेनैव द्रव्येण सुकृतं कृतम्।
न कीर्तिरिह लोके च परलोके न तत्फलम्॥

(श्रीमद्देवीभा० ३। १२। ८)

दानका अभिमान एवं लेनेवालेपर अहसानका भाव न उत्पन्न हो इसके लिये 'कर्तव्य' पदका प्रयोग किया है। मनुष्यजीवनका मुख्य लक्ष्य है, ईश्वरकी प्रसन्नता; अतः दानरूप कर्तव्यका पालन करते हुए उसे लक्ष्यमें बनाये रखनेके लिये 'ईश्वर-प्रीत्यर्थ' यह पद जोड़ा है। मनुष्यके पास एक हजार रुपये हों, उनमेंसे यदि सौ रुपया दान कर दिया जाता है तो नौ सौ रुपयोंमें ही ममत्व या आसक्ति रह जाती है। इस प्रकार ममता या आसक्तिको कम करके दान अन्तःकरणकी

शुद्धिरूप प्रत्यक्ष (दृष्ट) फल प्रदान करता है और शास्त्र-प्रमाणानुसार स्वर्ग या वैकुण्ठलोककी प्राप्तिरूप अप्रत्यक्ष (अदृष्ट) फल भी प्रदान करता है। दशम अंशका दान करनेका यह विधान जनसाधारण मानवोंके लिये किया गया है, अधिक धनी मनुष्योंके लिये तो भागवतपुराणमें अपनी आमदनीको पाँच विभागोंमें विभक्त करके उपयोग करनेको कहा है—

धर्माय यशसेऽर्थाय कामाय स्वजनाय च।
पञ्चधा विभजन्वित्तमिहामुत्र च मोदते॥

(श्रीमद्भा० ८। १९। ३७)

धर्म, यश, अर्थ (व्यापार आदि आजीविका), काम (जीवनके उपयोगी भोग) और स्वजन (परिवार)-के लिये—इस तरह पाँच प्रकारसे धनका विभाग करनेवाला इस लोकमें और परलोकमें भी आनन्द करता है।

यहाँ व्यापार आदि आजीविकाके लिये धनका विभाग इसलिये करवाया है, जिससे जीविकाके साधनका विनाश न हो; क्योंकि भागवतमें वहींपर स्पष्ट कहा है कि जिस सर्वस्व-दानसे जीविका भी नष्ट हो जाती हो, उस दानकी बुद्धिमान् प्रशंसा नहीं करते; क्योंकि जीविकाका साधन बने रहनेपर ही मनुष्य दान, यज्ञ, तप आदि शुभ कर्म कर सकता है—

न तद्दानं प्रशंसन्ति येन वृत्तिर्विपद्यते।
दानं यज्ञस्तपः कर्म लोके वृत्तिमतो यतः॥

(श्रीमद्भा० ८। १९। ३६)

जीविकाके नाशक सर्वस्वदानका निषेध लौकिक दृष्टिसे ही किया गया है, जिन लोगोंने अलौकिक परमात्माकी प्राप्तिके लिये दानको ही महान् साधन मानकर दानव्रत धारण कर रखा है, उनके

लिये सर्वस्वदानका भी निषेध नहीं है।

जो मनुष्य अत्यन्त गरीब है, अनावश्यक एक पैसा भी नहीं खर्च करते, तो भी इतनी कम आमदनी है कि रूखा-सूखा खाकर भी सारे परिवारका पेट नहीं भरता, ऐसे लोगोंको दान करनेका विधान शास्त्र नहीं करता। इतना ही नहीं, यदि पुण्यके लोभसे अवश्यपालनीय वृद्ध माता-पिताका तथा साध्वी पत्नी और छोटे बच्चोंका पालन न करके उनका पेट काटकर दान करते हैं तो उन्हें पुण्यकी नहीं, किंतु पापकी ही प्राप्ति होती है। मनु महाराजने स्पष्ट कहा है—

शक्तः परजने दाता स्वजने दुःखजीविनि।
मध्वापातो विषास्वादः स धर्मप्रतिरूपकः॥
भृत्यानामुपरोधेन यत्करोत्यौर्ध्वदेहिकम्।
तद्भवत्यसुखोदर्कं जीवतश्च मृतस्य च॥

(मनु० ११।९-१०)

अपने स्वजन—परिवारके लोग दुःखपूर्वक जी रहे हों, उनका पालन करनेमें समर्थ होनेपर भी उनका पालन न करके दूसरोंको जो दान देता है, वह मधुयुक्त विषका स्वाद चखता है, उसका दान अधर्मरूप है एवं पालनीय लोगोंका पेट काटकर जो धर्म करता है, उसको इस जीवनमें तथा मरनेके बाद भी दुःखरूप फल ही मिलता है।

बच्चोंका पेट काटकर दान न देनेका विधान उन्हीं धनहीनोंके लिये है जो व्यर्थके कार्योंमें एक पैसा भी नहीं नष्ट करते, जो लोग गरीबीके कारण रूखा-सूखा खाकर पेट भरते हैं, परंतु अपनी मूर्खताके कारण बीड़ी, तम्बाकू और सिनेमामें, रंगीन बेलबूटेवाले कपड़ोंमें और शराब पीने, जुआ खेलने आदि कार्योंमें

भी व्यर्थ पैसा नष्ट करते हैं, उनके लिये दानका निषेध नहीं है। इसका कारण यह है कि मनु महाराजके वचनोंका यदि यह तात्पर्य माना जाय कि जब परिवार-पालनसे धन बचे तब दान करें न बचे तो न करें, तो बहुत गलती होगी; क्योंकि जो धनहीन नहीं, अपितु जिन लोगोंकी हजारों रुपये महीनेकी आमदनी है, उनको और जिन लोगोंकी लाखों रुपये सालकी आमदनी है, उनको भी यह रोना रोते हमने अपने कानोंसे सुना है कि परिवारका खर्चा ही पूरा नहीं होता, क्या करें।

इस प्रकार धनी, अति धनी और अति निर्धन लोगोंके लिये दानका विधान भिन्न-भिन्न प्रकारसे पढ़कर ऋषियोंकी दूरदर्शितापर मन मुग्ध हो जाता है। ऋषियोंका दान-विधान विधानकी तरह नहीं कि जिससे न देनेयोग्यको भी बलात् देना पड़े। न देनेयोग्य अति निर्धनको भी दानका विधान करना तो दानविधानके लौकिक उद्देश्य—आर्थिक समताके सर्वथा विरुद्ध ही होगा। भला, दूरदर्शी ऋषियोंसे ऐसी मोटी गलती कैसे हो सकती है! अकाल, महामारी, महायुद्ध आदि विशेष आपत्तिकालमें तो यहाँतक कह दिया है कि जितनेमें पेट भर जाता है, उतनेमें ही मनुष्यका अधिकार है। उससे अधिकमें जो अपना अधिकार मानता है; वह चोर है, दण्डका पात्र है—

यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति॥

(श्रीमद्भा० ७।१४।८)

इस श्लोकपर उन लोगोंको विशेष ध्यान देना चाहिये, जो लोग कहते हैं कि 'रोटी और कपड़ेपर सबका समान अधिकार है' यह सिद्धान्त कार्ल मार्क्ससे ही प्रारम्भ हुआ है। जिस भागवतमहापुराणमें

यह श्लोक पाया जाता है, उसकी ८०० वर्ष पुरानी हस्तलिखित प्रति तो आज भी काशीके पुस्तकालयमें सुरक्षित है। इस प्रकार आर्थिक समताकी बात अपने शास्त्रोंमें बहुत पहलेसे ही प्रतिपादित है। दान-विज्ञानके इस प्रकरणको मनोयोगसे जो कोई पढ़ेगा, वह ऋषियोंकी निदानमूला चतुर्मुखी दूरदर्शी विचारशैलीसे अवश्य प्रभावित होगा और आर्थिक समतामें दानद्वारा अवश्य सहयोग प्रदान करेगा।

मद्य-मांस-विधिनिषेध-विज्ञान

आयुर्वेदके ग्रन्थोंमें स्वास्थ्य-लाभके लिये तथा अमुक-अमुक रोगोंकी निवृत्तिके लिये मद्यों और मांसोंके गुणोंका विस्तारसे वर्णन है तथापि उनके सेवनका विधान भी किया गया है। आयुर्वेदका मुख्य उद्‌देश्य स्वास्थ्य-लाभ तथा रोगनिवृत्ति है, इसलिये आयुर्वेदमें मद्यों और मांसोंके गुणोंका वर्णन तथा विधान है, परंतु धर्मलाभकी इच्छावाले धार्मिक मनुष्योंको धर्मशास्त्र-अविरोधी अंशमें ही आयुर्वेदका पालन करना चाहिये; क्योंकि जहाँ अर्थशास्त्र और धर्मशास्त्रमें परस्पर विरोध प्राप्त होता हो, वहाँ अर्थशास्त्रको छोड़कर धर्मशास्त्रका ही पालन करना चाहिये, ऐसा नारदस्मृतिमें कहा है—

यत्र विप्रतिपत्तिः स्याद्धर्मशास्त्रार्थशास्त्रयोः।
अर्थशास्त्रोक्तमुत्सृज्य धर्मशास्त्रोक्तमाचरेत्॥

(ना० स्मृ० व्यवहारप्र० ३३)

मनुस्मृतिमें श्लोक इस प्रकार हैं—

नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित्।
न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत्॥
समुत्पत्तिं च मांसस्य वधबन्धौ च देहिनाम्।
प्रसमीक्ष्य निवर्तेत सर्वमांसस्य भक्षणात्॥
वर्षे वर्षेऽश्वमेधेन यो यजेत शतं समाः।
मांसानि च न खादेद्यस्तयोः पुण्यफलं समम्॥

(मनु० ५। ४८-४९, ५३)

'यक्षरक्षःपिशाचान्नं मद्यं मांसं सुरासवम्।'

(मनु० ११। ९४)

प्राणियोंकी हिंसा किये बिना मांसकी प्राप्ति कभी भी नहीं हो

सकती, प्राणियोंका वध करनेपर स्वर्ग कभी भी नहीं मिलता, इसलिये मांस खाना छोड़ देना चाहिये। मांसकी उत्पत्ति और प्राणियोंका वध तथा बन्धनको भलीभाँति देखकर सभी प्रकारके मांस-भक्षणको छोड़ देना चाहिये। जो मनुष्य प्रत्येक वर्ष अश्वमेध यज्ञ करके सौ वर्षतक यजन करता है और जो मनुष्य मांस नहीं खाता, इन दोनोंका पुण्य बराबर होता है। मद्य, मांस, सुरा तथा आसव—ये सब यक्ष, राक्षस और पिशाचोंके अन्न हैं।

श्रीमद्भागवतमहापुराणमें तो स्पष्ट शब्दोंमें कहा है कि शास्त्रका तात्पर्य मद्य, मांस, मैथुनके विधानमें नहीं, किंतु व्यवस्थाद्वारा उनसे शीघ्र निवृत्तिमें ही है—

लोके व्यवायामिषमद्यसेवा नित्यास्तु जन्तोर्न हि तत्र चोदना।
व्यवस्थितिस्तेषु विवाहयज्ञसुराग्रहैरासु निवृत्तिरिष्टा॥
यद् घ्राणभक्षो विहितः सुरायास्तथा पशोरालभनं न हिंसा।
एवं व्यवायः प्रजया न रत्या इमं विशुद्धं न विदुः स्वधर्मम्॥

(श्रीमद्भा० ११।५।११, १३)

मद्य, मांस तथा मैथुनके जो प्रकरण हैं, वे शास्त्रोंमें तो मनुष्यकी उच्छृंखल प्रवृत्तिको रोकनेके लिये सुव्यवस्थामात्रके लिये हैं, वस्तुतः शास्त्रको तो इनसे निवृत्ति ही अभीष्ट है। अतः यज्ञमें पशुके स्पर्शका ही विधान किया है, आलभन (मारने)-का नहीं एवं सन्तानके लिये ही मैथुनका विधान किया है, रमणके लिये नहीं। शास्त्रोक्त इस विशुद्ध स्वधर्मको साधारण मनुष्य नहीं जानते।

इन सबपर विचार करनेसे अति स्पष्ट हो जाता है कि शास्त्रका तात्पर्य मद्य, मांस, मैथुनके विधानमें नहीं, अपितु परिसंख्यापूर्वक निषेधमें ही है। मद्य, मांस तथा मैथुनके सेवनकी आधुनिक प्रथा तो निन्दनीय तथा हानिकर होनेके कारण सर्वथा ही त्याज्य है।

तीर्थ-व्रत-विज्ञान

तीर्थ-विज्ञान

यद्यपि पांचभौतिक दृष्टिसे सभी देश समान हैं, तथापि किसी देशकी मिट्टी, पानी, आग (उष्णता), हवा तथा आकाश (वातावरण)-में अमुक-अमुक रोग दूर करनेकी विशेष योग्यता है, ऐसा प्रत्यक्ष अनुभवके आधारपर आजके आधुनिक भौतिक विज्ञानी भी मानते हैं। यही कारण है कि अमुक-अमुक रोगकी निवृत्तिके लिये अमुक-अमुक स्थानों—शिमला, राजस्थान, दक्षिण देश या समुद्रतटपर निवास करनेको कहते हैं। शरीरकी दृष्टिसे इन स्थानोंको तीर्थ (अर्थात् रोगोंसे तार देनेवाला) कह सकते हैं।

इसी प्रकार जिस देशकी भूमि, जल, तेज, वायु तथा आकाश (वातावरण)-में काम, क्रोधादि मानसिक रोगोंको दूर करनेकी विशेष योग्यता होती है, उन स्थानोंको शास्त्रकी भाषामें तीर्थ कहते हैं। यद्यपि शरीर और मनका परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध होनेके कारण जिस देशका शरीरपर जैसा प्रभाव पड़ता है; उसके अनुरूप सात्त्विक, राजस या तामस प्रभाव मनपर भी पड़ता है एवं जिस देशका मनपर जैसा सात्त्विक, राजस या तामस प्रभाव पड़ता है, वैसा प्रभाव शरीरपर पड़ता ही है, तथापि सात्त्विक प्रभाव डालनेवाले देशका नाम ही तीर्थ होता है; राजस तथा तामस प्रभाव डालनेवालेका नहीं; क्योंकि राजस और तामस भाव काम, क्रोधादि तो रोगोंसे तारनेवाले न होकर उन्हें बढ़ानेवाले ही होते हैं।

तीर्थ दो प्रकारके होते हैं, स्वाभाविक और महापुरुष-निर्मित। जैसे उष्णताजन्य शारीरिक रोगोंको दूर करनेके लिए शीतल देश

स्वाभाविक तीर्थ हैं। वैसे ही भूमि आदिके अद्‌भुत प्रभावसे जो देश मानसिक क्रोधादि रोगोंको दूर कर देते हैं या दूर करनेमें सहायक होते हैं, उन देशोंको स्वाभाविक तीर्थ कहते हैं और जो देश शान्त, दान्त, भजन-ध्यान-परायण महापुरुषोंके परिग्रह अर्थात् दीर्घकालपर्यन्त निवास करनेके कारण पवित्र हो गये हैं, उन्हें महापुरुषोंद्वारा निर्मित तीर्थ कहते हैं—

प्रभावादद्भुताद्भूमेः सलिलस्य च तेजसा।
परिग्रहान्मुनीनां च तीर्थानां पुण्यता स्मृता॥

(पद्मपुराण उत्तरखण्ड)

भूमि, जल, तेज आदिके अद्‌भुत प्रभावसे तथा मुनियोंके निवाससे तीर्थोंको पवित्र माना गया है।

आधुनिक भौतिक विज्ञानद्वारा भी इस बातकी पुष्टि हो चुकी है कि जिस स्थानपर दीर्घकालतक जैसी अच्छी या बुरी क्रिया, भावना या शब्दोंका उच्चारण किया जाता है, वह स्थान उनसे प्रभावित हो जाता है और उस स्थानपर जानेवाले मनुष्योंको योग्यतानुसार प्रभावित भी करता है।

अनेक स्थानोंके जलोंसे श्रीगंगाजीके पावन जलका अद्‌भुत प्रभाव तो भौतिक विज्ञानके अनेक परीक्षणोंद्वारा भी सिद्ध हो चुका है। भूमिका अद्‌भुत प्रभाव मैंने एटा जिलेमें स्थित शूकरक्षेत्र (सोरों)-के सरोवरमें प्रत्यक्ष देखा है। इस सरोवर (तालाब)-में श्रद्धालुलोग पितरोंके फूल (जली हुई हड्डियाँ) डाल जाते हैं, परंतु एक सप्ताहके बाद वे हड्डियाँ चूरा होकर मिट्टी बन जाती हैं। हड्डियोंको मिट्टी बना देनेका यह अद्‌भुत प्रभाव सरोवरके जलमें नहीं, किन्तु उसकी मिट्टीमें है; क्योंकि उस सरोवरमें ३-४ महीने तो वर्षाका पानी रहता है, बादमें

गंगाजीसे निकली नहरका पानी भरा जाता है। वर्षाके या गंगाजीके साक्षात् जलमें हड्डियोंको डालनेपर वे कहीं भी चूर होकर मिट्टी नहीं बनतीं, इस अन्वय-व्यतिरेकसे यह सिद्ध हो जाता है कि यह अद्भुत प्रभाव सरोवरकी मिट्टीका ही है।

इसी प्रकार तेज (अग्नि)-का अद्भुत प्रभाव भी नर्मदाजीके उस कुण्डमें प्रत्यक्ष देखा जा सकता है, जिस कुण्डसे नर्मदेश्वर निकाले जाते हैं। इस कुण्डमें ऐसी अद्भुत अग्नि है, जिसके अद्भुत प्रभावसे उस कुण्डमें गिरे पत्थरोंका ऐसा परिपाक हो जाता है कि खूब जोरसे हथौड़ेद्वारा छेनीसे दाग बनानेकी कोशिश करनेपर भी उसपर दाग नहीं बनता। काशीमें जिस दूकानपर नर्मदेश्वर मिलते हैं, वहाँ जाकर इस चमत्कारका प्रत्यक्ष साक्षात्कार किया जा सकता है। ये असली नर्मदेश्वर ही हैं—इसे प्रमाणित करनेके लिये दूकानदार स्वयं आपको छेनी-हथौड़ा देकर परीक्षा करनेको कहेगा। दाग न बननेका यह चमत्कार नर्मदाजीके जलका नहीं है; क्योंकि कुण्डके समीप ही बाहर जलमें पड़े हुए तथा अन्यत्र सर्वत्र नर्मदाजलमें पड़े हुए पत्थरोंमें छेनीसे दाग बन जाते हैं, इससे यह सिद्ध हो जाता है कि ऐसा अद्भुत प्रभाव कुण्डगत अव्यक्त अद्भुत अग्निका ही है।

काशीमरणान्मुक्तिः

मुक्ति शास्त्रगम्य सत्य है, अतः उसके बारेमें शास्त्र ही एकमात्र प्रमाण है, तो भी इस विषयमें विश्वमान्य दार्शनिकशिरोमणि महामहोपाध्याय श्रीगोपीनाथ कविराजजीके परमगुरु योगिराज श्री १०८ स्वामी विशुद्धानन्दजीसे एक बार एक सज्जनने पूछा कि महाराज! '**काशीमरणान्मुक्तिः**' इस विषयमें आपके क्या विचार हैं? योगिराजजीने कहा कि मैंने योगसाधनाद्वारा सशरीर आकाशमार्गसे

गमन करनेकी शक्ति प्राप्त की है। अतः मैं जब कभी काशीकी भूमिको छोड़कर सशरीर आकाशमार्गसे कहीं जाता हूँ तो सुगमतासे भूमि छूट जाती है, किंतु काशीके अतिरिक्त अन्य जगहकी भूमिको छोड़कर ऊपर उठनेमें बलका प्रयोग करना पड़ता है। अतः अपने इस अनुभवसे मैं यह अवश्य कह सकता हूँ कि लोकदृष्टिसे काशी भले ही अन्य शहरोंकी तरह ही हो; किंतु यह मानना ही होगा कि यहाँकी भूमिमें कुछ ऐसी अद्‌भुत विशेषता है कि जो ऊर्ध्वगतिमें बाधक न होकर साधक ही होती है। ऐसी अनुभूत अद्‌भुत विशेषताओंके कारण शास्त्र-कथित तीर्थोंकी अद्‌भुत विशेषताओंको असत्य नहीं कहा जा सकता, भले ही जनसाधारणको पापके कारण उनका स्पष्ट अनुभव न होता हो।

तीर्थफलप्राप्ति

अश्रद्दधानः पापात्मा नास्तिकोऽच्छिन्नसंशयः।
हेतुनिष्ठश्च पञ्चैते न तीर्थफलभागिनः॥
नृणां पापकृतां तीर्थे पापस्य शमनं भवेत्।
यथोक्तफलदं तीर्थं भवेत् शुद्धात्मनां नृणाम्॥
यस्य हस्तौ च पादौ च मनश्चैव सुसंयतम्।
विद्या तपश्च कीर्तिश्च स तीर्थफलमश्नुते॥
मन्त्रे तीर्थे द्विजे देवे दैवज्ञे भेषजे गुरौ।
यादृशी यस्य श्रद्धास्ति सिद्धिर्भवति तादृशी॥
मातरं पितरं चापि भ्रातरं सुहृदं गुरुम्।
यमुद्दिश्य निमज्जेत द्वादशांशं लभेत सः॥
स्वयं वस्तुमशक्तोऽपि वासयेत् तीर्थवासिनाम्।
अप्येकमपि मूल्येन स तीर्थफलभाग्भवेत्॥

श्रद्धाहीन, पापी, नास्तिक, संशययुक्त तथा हेतुवादी—इन पाँचोंको पूर्ण तीर्थफल नहीं मिलता। तीर्थ-सेवनसे पापी मनुष्योंके तो पापका ही प्रथम नाश होता है, तीर्थका कथित पूर्ण फल तो शुद्धात्मा होनेपर ही मिलता है। जिसके दोनों हाथ, दोनों पैर और मन भली प्रकार वशमें हैं तथा जो विद्या, तप और कीर्तिसे युक्त है, वही तीर्थका पूर्ण फल प्राप्त करता है। मन्त्र, तीर्थ, ब्राह्मण, देवता, ज्योतिषी, औषध तथा गुरुमें जिसकी जैसी श्रद्धा होती है—उसे वैसी ही सिद्धि मिलती है। माता, पिता, भ्राता, सुहृद्, गुरु आदिमेंसे जिसके उद्देश्यसे गोता लगाता है, उसे भी बारहवाँ भाग प्राप्त होता है। जो मनुष्य स्वयं तीर्थमें निवास करनेमें असमर्थ है, वह यदि एक भी तीर्थवासीको मूल्य देकर बसा दे तो उसे तीर्थवास करनेका फल मिल जाता है।

तीर्थयात्राका लौकिक फल

पापका नाश तथा पुण्यकी उत्पत्तिरूप उक्त अलौकिक फलके अतिरिक्त राष्ट्र तथा संस्कृतिकी एकता, प्राकृतिक सौन्दर्यका दर्शन, अद्भुत शिल्पकलाओंका दर्शन तथा जलवायु-परिवर्तनसे विविध रोगोंका विनाश आदि अनेक फलोंकी प्राप्ति तीर्थयात्रासे होती है। चारों दिशाओंमें स्थित बदरीनाथ, जगन्नाथ, रामेश्वर तथा द्वारका धामोंके दर्शनके लिये जानेवाले व्यक्तियोंके खान-पान, वेष-भूषा तथा भाषामें विविध वैचित्र्य होनेपर भी राष्ट्रीय एकताका भाव जाग्रत् रहता है एवं हम सभी एक ही वैदिकी संस्कृति माननेवाले हैं—ऐसी भावना भी सदा जाग्रत् रहती है। हिमाच्छादित हिमालयकी पर्वतश्रेणियोंकी सभ्यता, मंदिरके शिखरकी तरह क्रमशः संकुचित होनेवाले देवदारु वृक्षोंकी सुन्दरता तथा कलकल ध्वनि करते हुए पर्वतशिखरसे गिरते हुए झरनोंकी अनुपम छटाका दर्शन बदरीनाथ धामकी यात्रा किये बिना

कैसे प्राप्त होगा? १०-१२ खण्ड ऊँचे गोपुर, विशाल और अखण्ड पाषाणोंसे निर्मित देवमूर्तियाँ, हजारों व्यक्तियोंके बैठनेयोग्य विशाल मण्डप, नगराकार देवमन्दिर और इन सबपर की गयी अद्भुत शिल्पकलाका दर्शन रामेश्वर धामकी यात्राके बिना कैसे होगा? इन सबके दर्शनसे जो आनन्द होता है, उसे लेखनीसे लिखा नहीं जा सकता। उसे तो दर्शन करके ही जाना जा सकता है एवं अनेक रोग जो बहुत चिकित्सा करनेपर भी नहीं मिटते, उन-उन देशोंकी जलवायुके अद्भुत प्रभावसे स्वयं मिट जाते हैं। यही कारण है कि पापनाश तथा पुण्यप्राप्तिरूप अलौकिक फलोंपर विश्वास न रखनेवाले लाखों आधुनिक भारतीय तथा अभारतीय पर्यटक भी इन तीर्थस्थानोंमें पर्यटन करने जाते हैं। इन लोगोंके हृदयमें श्रद्धाका अभाव होनेसे उक्त अलौकिक फल नहीं होता, केवल लौकिक फल ही मिलता है, परंतु आस्तिक श्रद्धावान् मनुष्योंको लौकिक और अलौकिक दोनों फलोंकी प्राप्ति होती है। अतः श्रद्धापूर्वक ही तीर्थयात्रा करना अधिक लाभदायक है।

व्रत-विज्ञान

शारीरिक तथा मानसिक रोगोंको दूर करनेके लिये व्रत-उपवास एक महौषधि है। इसका कारण यह है कि भोजनके अभावमें जठराग्नि रोग-उत्पादक विकारोंको ही जलाने लग जाती है, जिससे रोगकी जड़मूलसे समाप्ति हो जाती है। यही कारण है कि आयुर्वेदमें अनेक रोगोंका नाश करनेके लिये विशेष करके ज्वर, अपच, अरुचि आदि रोगोंका नाश करनेके लिये देश, काल और व्यक्तिके बलाबलको देखते हुए एक प्रहर, एक दिन, एक सप्ताह तथा एक पक्षतक व्रत करनेका विधान किया गया है एवं मानसिक रोगोंके विनाशमें भी उपवास बहुत

सहायक होता है। इसका कारण यह है कि भोजनसे बल पाकर ही सभी इन्द्रियाँ विषय-सेवनकी ओर दौड़ती हैं, भोजन न मिलनेपर सभी इन्द्रियाँ निर्बल होकर सूख-सी जाती हैं, अतः उनका विषय-सेवन भी निवृत्त हो जाता है। यह बात भागवत तथा गीताके निम्न श्लोकार्धोंमें स्पष्ट कही गयी है—

इन्द्रियाणि जयन्त्याशु निराहारा मनीषिणः।

(श्रीमद्भा० ११।८।२०)

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।

(गीता २।५९)

विषय-सेवनकी निवृत्ति होनेपर काम, क्रोधादि मानसिक रोगोंकी निवृत्ति भी हो जाती है; क्योंकि विषय-सेवनसे ही इनकी अधिक वृद्धि होती है।

व्रतसे आत्मबलका उदय तथा प्रकृतिजय

जो व्यक्ति एक दिन, एक सप्ताह या एक मास बिना अन्न-जलके रह जाता है, उतने समयतकके लिये वह अन्न-जलरूप प्रकृतिके अधीन नहीं रहता, इस प्रकार प्रथम तो प्रकृतिकी पराधीनता मिटती है और हम इतने समयतक इनके बिना रह सकते हैं, इस प्रकारके आत्मबलका उदय होता है। यही व्रतरूप तप जब शास्त्रविधानानुसार ईश्वर-आराधनाके रूपमें किया जाता है, तब केवल प्रकृतिकी पराधीनता ही नहीं मिटती, अपितु प्रकृति हमारे अधीन होकर हमारी आज्ञाका पालन भी करती है, इसे ही प्रकृतिपर विजय होना कहा जाता है। इसका कारण यह है कि सर्वसमर्थ प्रकृतिके नियन्ता ईश्वरकी आराधनासे ईश्वरकी कृपासे हमारी आत्मामें भी ईश्वरके आंशिक गुणोंका उदय हो जाता है, जिससे ईश्वरकी आज्ञाकी तरह

हमारी आज्ञाका भी प्रकृति पालन करने लग जाती है। यही कारण है कि प्राचीन युगमें ही नहीं, अपितु इस भयंकर कलिकालमें भी कभी-कभी ऐसे महापुरुष देखने और सुननेको मिल जाते हैं, जो अपने आज्ञामात्रसे कुपथ्यको सुपथ्य, रुईको पत्थर, कनैरको गुलाब बनाकर दिखा देते हैं। योगिराज स्वामी विशुद्धानन्दजी, रामकृष्ण परमहंसजी तथा मोकलपुरके बाबाजीकी आज्ञाओंका पालन प्रकृति करती थी, यह बात इसी ग्रन्थमें लिखी जा चुकी है।

नवरात्र-व्रत

आश्विन शुक्ल प्रतिपदा से नवमीतक तथा चैत्र शुक्ल प्रतिपदासे नवमीतक इस प्रकार सालमें दो बार नवरात्रव्रत आता है। चैत्र तथा आश्विन—इन दोनों महीनोंमें विशेषरूपमें ऋतु-परिवर्तन होता है अर्थात् इन दोनों महीनोंमें सर्दी-गर्मीका संयोग होता है; जिससे पिण्ड तथा ब्रह्माण्डमें भी विशेष परिवर्तन होता है। यही कारण है कि इन दोनों महीनोंमें विशेष सावधानी रखनेके लिये आयुर्वेदने विधान किया है तथा सभीका प्रत्यक्ष अनुभव भी यही है कि इन दिनोंमें रोग अधिक उत्पन्न होते हैं। रोगोंकी उत्पत्ति वात, पित्त तथा कफरूप विकारोंके प्रकोपसे होती है। जठराग्निको यदि पचानेके लिये भोजन न मिले तो वह विकारोंको ही पचाने लग जाती है। विकार पच जानेपर रोग उत्पन्न नहीं होते, उत्पन्न हुए रोग भी शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं। अतः शारीरिक स्वास्थ्य-लाभकी दृष्टिसे देखा जाय तो भी नवरात्रमें व्रत करना महान् लाभदायक है।

देवीके नौ रूप होनेके कारण यह व्रत नौ दिनतक किया जाता है। देवी-पूजनके लिये, पत्र-पुष्प लानेके लिये तथा प्रातःकाल किसी पुण्य नदी-सरोवर आदिमें नहानेके लिये ग्रामसे बाहर स्वच्छ

वायुमण्डलमें भ्रमण अवश्य करना पड़ता है। यह भ्रमण भी विकारोंके पचानेमें तथा स्वास्थ्यके बढ़ानेमें बहुत सहायक होता है। यही कारण है कि पूरे कार्तिक तथा पूरे चैत्रमें पवित्र गंगा आदि नदियों तथा सरोवरोंमें स्नान करनेका बड़ा माहात्म्य शास्त्रमें बताया है। अतः शरीरमें ही आत्मबुद्धि रखनेवाले लोगोंको भी रोग-विनाश तथा स्वास्थ्य-लाभकी दृष्टिसे व्रत और स्नान अवश्य करना चाहिये।

भारतवर्ष कृषि-प्रधान देश है, आश्विन तथा चैत्रमें नया अन्न घरोंमें आता है, अतः यज्ञमें उसका हवन करके यज्ञरूप भगवान् विष्णुका यजन करना परम आवश्यक है। इसीलिये नवरात्रके अन्तमें हवनका विधान किया गया है। कामरूप प्राकृतिक विकाररहित लघु बालिकाएँ ही देवीकी प्रतिनिधि बननेलायक हैं, इसलिये हवनके अन्तमें कन्या-भोजनका ही विधान किया गया है। उच्चता-नीचता तथा शत्रुताके भावोंकी उपेक्षा करके जब सभी परिवारोंसे कन्याओंको बुलाकर पूजन करते तथा प्यारसे भोजन कराते हैं, तब परस्पर सौहार्द बढ़ता है तथा शत्रुता नष्ट हो जाती है। अतः सामाजिक दृष्टिसे भी कन्या-भोजन कराना बहुत लाभदायक है।

आस्तिकोंको तो इन व्रतोंके द्वारा मानसिक काम, क्रोधादि रोगोंके विनाशमें भी सहायता प्राप्त होती है और देवी-देवताओंकी प्रसन्नतासे अन्य लौकिक-अलौकिक लाभ भी होते हैं। जिन देवी या देवताओंका जिस तिथि या दिनसे विशेष सम्बन्ध होता है, उस दिन या उस तिथिमें ही उनका व्रत रखनेका विधान किया गया है। जैसे रविवारको रवि—सूर्यभगवान्की प्रसन्नताके लिये व्रतका विधान किया गया है; क्योंकि अन्य दिनोंकी अपेक्षा रविवारको रवि—सूर्यका प्रभाव अधिक होनेके कारण ही उसका नाम रविवार रखा गया है।

श्रीकृष्णाष्टमी-रामनवमी-एकादशी-शिवरात्रिव्रत

भाद्रपद कृष्णपक्षकी अष्टमीको भगवान् श्रीकृष्णका और चैत्र शुक्लपक्षकी नवमीको भगवान् रामका अवतार होनेसे उन तिथियोंमें व्रत किया जाता है। सभी महीनोंकी दोनों एकादशियोंको भगवान् विष्णुका व्रत किया जाता है। फाल्गुन कृष्ण त्रयोदशीको भगवान् शंकरका व्रत किया जाता है। श्रीराम, कृष्ण, विष्णु या शिवजीमेंसे किसी एकको इष्ट मानकर भगवान्‌की उपासना करनेवाले भगवद्भक्तको भी उक्त चारों व्रत अवश्य करने चाहिये; क्योंकि ये चारों भगवान् ही हैं। शास्त्र-प्रमाणानुसार जैसे श्रीराम तथा श्रीकृष्ण विष्णुभगवान्‌के ही अवतार होनेके कारण भगवान् ही हैं, वैसे ही शास्त्र-प्रमाणानुसार भगवान्‌ने ही जगत्‌का संहार करनेके लिये शंकररूप धारण किया है; क्योंकि जैसे सम्पूर्ण जगत्‌की उत्पत्ति तथा पालन भगवान्‌के अतिरिक्त और कोई नहीं कर सकता, वैसे ही सम्पूर्ण जगत्‌का संहार भी भगवान्‌के अतिरिक्त कोई नहीं कर सकता। अतः शंकरजी भी भगवान् ही हैं, इसलिये सभी भगवान्‌के भक्तोंको उक्त चारों व्रत अवश्य करने चाहिये। जो लोग किसी कारणविशेषसे सभी एकादशीके व्रत करनेमें असमर्थ हैं; उन्हें ज्येष्ठ शुक्लपक्षकी एकादशीको निर्जला व्रत अवश्य करना चाहिये। शास्त्र-प्रमाणानुसार इस निर्जला एकादशीको निर्जल व्रत करनेसे सभी एकादशियोंके व्रतोंका फल प्राप्त हो जाता है।

त्यौहार-विज्ञान

जिस तिथि या वार (दिन)-में कोई विशेष लाभदायक कार्य सम्पन्न होता है अथवा किसी विशेष प्रेरणादायक महापुरुषका प्रादुर्भाव होता है, उस तिथि या वारको त्यौहार नामसे पुकारते हैं। पुनः उस तिथि या वारके आनेपर उस लाभ या प्रेरणा की स्मृतिकी जागृतिके लिये इस कार्यकी आवृत्ति तथा महापुरुषकी शुभ प्रेरणाका पठन, पाठन, व्याख्यान करते हैं एवं आमोद-प्रमोद मनाते हैं। इसे ही त्यौहार मनाना कहते हैं। पुनः उसी तिथि या वारपर यदि कोई दूसरी विशेष सुखद घटना घटित हो जाती है तो उसे भी उसी त्यौहारमें सम्मिलित कर लेते हैं। इस प्रकार प्रत्येक त्यौहारमें एक या अनेक लाभदायक हेतु बन जाते हैं।

इस बातको आधुनिक लोगोंको समझानेके लिये कहा जा सकता है कि जैसे १५ अगस्तको भारतवर्ष स्वतन्त्र हुआ था, यह एक विशेष कार्य सम्पन्न हुआ था तथा २ अक्टूबरको महात्मा गांधी-जैसे प्रेरणादायक महापुरुषका प्रादुर्भाव हुआ था। अतः इन तारीखोंको त्यौहार कहा जा सकता है तथा इन तारीखोंपर जुलूस निकालना, आमोद-प्रमोद करना तथा महात्मा गांधीकी आत्मकथाका पठन, पाठन तथा व्याख्यान करना—यह सब त्यौहार मनाना है।

जैसे यह अर्वाचीन त्यौहार सहैतुक तथा लाभदायक होनेसे मनाना आवश्यक है, इसी प्रकार प्राचीन त्यौहार भी सहैतुक तथा लाभदायक होनेसे मनाना आवश्यक है। इस विवेचनसे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जो अनभिज्ञलोग यह आक्षेप करते हैं कि 'उस वार—दिन या उस तिथिमें अन्य वार या तिथिसे कुछ

भी अधिक विशेषता नहीं होती, अतः त्यौहार मनाना केवल अन्ध-परम्परा है।' उनका यह आक्षेप सर्वथा निराधार और अव्यवहार्य है।

कुछ त्यौहारोंपर कहीं-कहीं मेले लगते हैं। उन मेलोंमें बहुत दिनोंसे न मिले मित्रों, स्वजनों तथा सम्बन्धियोंका मिलन हो जाता है, जिससे वे लोग परस्पर एक-दूसरेके सुखसे सुखी और दुःखमें सहानुभूति प्रकट करके दुःखको कम करनेमें सहायक होते हैं। मेले क्रय-विक्रयद्वारा अर्थ-सन्तुलन तथा गरीबोंको धन-प्राप्तिमें सहायक होते हैं। दिन-रात कोल्हूके बैलकी तरह आँखोंमें पट्टी बाँधकर घर-गृहस्थीमें ही चक्कर लगानेके कारण पराधीनता, दीनता तथा खिन्नताका अनुभव करनेवाले मनुष्योंको ये त्यौहार कुछ समयके लिये स्वतन्त्रता, अदीनता तथा प्रसन्नताका अनुभव करानेवाले होते हैं। सदा नीरस, स्वादरहित भोजन करते रहनेवाले गरीबोंको सरस स्वादिष्ट भोजन करनेका शुभ अवसर प्रदान करते हैं।

दशहरा, दीपावली, होली आदि त्यौहारोंमें उच्चता-नीचता तथा शत्रुता-उदासीनताके भावका परित्याग करके सभीसे गले लगकर मिलनेकी परम्परा तो बहुत ही उपयोगी है, इससे परस्पर सौहार्द बढ़ता है, सालभरकी शत्रुतामें न्यूनता आती है और उदासीनता मिटती है। इन सब लाभोंकी दृष्टिसे त्यौहारोंको अवश्य मनाना चाहिये। अन्य देशोंकी अपेक्षा भारतवर्षमें त्यौहारोंकी संख्या अधिक है, उनमेंसे कुछ मुख्य-मुख्य त्यौहारोंके लौकिक तथा अलौकिक कारणोंका संक्षेपमें नीचे विवेचन किया जायगा।

दीपावली—लौकिक दृष्टिसे देखें तो कृषिप्रधान भारतवर्षके निवासियोंमें अन्नरूप मुख्य धन (लक्ष्मी)-की प्राप्ति होनेपर प्रसन्नताका

होना अति स्वाभाविक है और उस प्रसन्नताका त्यौहारके रूपमें फूटकर प्रकट हो जाना भी सर्वदा स्वाभाविक है। वर्षा-ऋतुमें क्षतिग्रस्त घरोंकी मिट्टी आदिके द्वारा क्षतिपूर्ति की गयी है, रोग-कीटाणुनाशक गोबर तथा चूनेसे लीप-पोत अभी-अभी घर स्वच्छ किये गये हैं। इसी समय जीवोंके जीवनका आधार अन्नरूप परम धन पाकर जन-जनका मन अत्यन्त प्रसन्न हो रहा है। ऐसी दशामें स्वच्छ गृहोंको दीपकोंकी शोभासे चमकाना, अन्नरूप धनसे धनकी अधिष्ठात्री देवी लक्ष्मीका पूजन करना इत्यादि रूपोंसे प्रसन्नताका त्यौहारके रूपमें प्रकट होना स्वाभाविक है।

दीपावली त्यौहारसे निम्नलिखित अलौकिक पौराणिक घटनाओंका भी सम्बन्ध है—दीपावलीके दिन ही समुद्र-मन्थनसे लक्ष्मीदेवीका प्रादुर्भाव हुआ था तथा इसी दिन भगवान्‌ने वामनरूप धारण करके बलिके अधीन हुई समस्त सम्पत्ति (लक्ष्मी)-का उद्धार करके इन्द्रको प्रदान किया था। कार्तिक कृष्ण चतुर्दशीको जब नरकासुरको मारकर लक्ष्मीकी अंशभूता १६,००० राजकन्याओंका उद्धार किया था, तब अमावस्याको जनताने दीपावली जलाकर अपनी प्रसन्नता प्रकट की थी। भगवान् रामके द्वारा रावणपर विजय पानेपर और पाण्डवोंके वनसे लौटनेपर एवं सम्राट् विक्रमादित्यके विजयी होनेपर दीपोंको इसी दिन विशेषरूपमें जलाकर जनताने 'दीपावली' नामको विशेष सार्थक बना दिया था।

लक्ष्मी-गणेशपूजन—अन्नरूप धन (लक्ष्मी)-का प्राप्त होना, समुद्रसे लक्ष्मीदेवीका निकलना तथा बलिके यहाँसे उनका उद्धार होना आदि उक्त लौकिक और अलौकिक हेतुओंके कारण लोग लक्ष्मीका पूजन करते हैं। लक्ष्मीरूप निधि और ऋद्धि-सिद्धिके दाता होनेके कारण तथा विघ्नविनाशक होनेके कारण गणेशजीका भी

साथमें पूजन किया जाता है। लक्ष्मी (धन)-का लेखा-जोखा रखनेके कारण बहीखातोंका भी पूजन इसी दिन करते हैं। इस दिन नये बहीखाते बदलते समय सालभरके आय-व्ययका ज्ञान हो जाता है, जिसके आधारपर आगेके कार्योंका निर्णय करनेमें सहायता मिलती है।

आधुनिक दीपावली—ग्रामोंमें तो प्राय: नब्बे प्रतिशत घरोंकी सफाई प्राचीन प्रथानुसार रोग-कीटाणुनाशक तथा अन्य किसी प्रकारकी हानि न पहुँचानेवाले लाभदायक गोबर और चूनेसे लीप-पोत करके ही की जा रही है, परंतु शहरोंमें इस लाभदायक प्रथाका लोप होकर हानिकारक प्रथाका विस्तार होता जा रहा है। शहरोंमें अब अधिकांश लोग वर्षाके बाद प्रत्येक वर्ष घरोंकी सफाई नहीं कराते, जब कभी विवाह-शादियोंमें अथवा बहुत अधिक गन्दे हो जानेपर वार्निशसे पुताई कराते हैं, फर्शोंकी सफाई फिनाइलसे करवाते हैं; परंतु यह प्रथा स्वास्थ्य तथा अर्थकी दृष्टिसे हानिकारक है। मैंने अनेक बार अनुभव किया है कि जिस मकानमें वार्निशसे पुताई करायी गयी है, दस-पन्द्रह दिनतक उस मकानसे इतनी दुर्गन्ध आती है कि उसमें प्रवेश करनेका मन नहीं होता। यह दुर्गन्ध नाकको ही बुरी लगती हो इतना ही नहीं, किंतु स्वास्थ्यके लिये भी हानिकारक होती है। फिनाइलकी दुर्गन्ध तो अत्यन्त असहनीय होती है। वार्निशकी पुताईमें चूनेकी पुताईकी अपेक्षा पचीस गुना अधिक पैसा नष्ट होता है। चूने और गोबरमें जो रोग-कीटाणुनाशक सामर्थ्य होती है, वार्निशमें वह नहीं होती। गोबरसे लिपे और चूनेसे पुते मकानमें प्रवेश करनेपर भी इनकी गन्ध आती है, परंतु वह गन्ध स्वास्थ्यके लिये हानिकर नहीं, अपितु लाभप्रद ही होती है। चूने और गोबरके परमाणु नाकद्वारा पेटमें प्रविष्ट हो जानेपर भी हानि

नहीं पहुँचाते; क्योंकि चूने और गोबरको तो सीधे मुखद्वारा खानेपर भी कोई हानि नहीं होती। इतना ही नहीं अपितु पानमें चूना तथा पंचगव्यपानमें गोबर मिलानेका विधान विभिन्न रोगोंको दूर करनेके लिये शास्त्रकारोंने किया है। अतः स्वास्थ्य तथा अर्थकी हानि और लाभकी दृष्टिसे प्रत्येक वर्ष चूनेसे ही मकानोंकी पुताई करना उचित है, वार्निशसे नहीं एवं पक्के फर्शोंकी सफाई गोमूत्रद्वारा करानी चाहिये, फिनाइलसे नहीं।

गोवर्धनपूजा (अन्नकूट)—भगवान् श्रीकृष्णने इन्द्रका अभिमान-भंग करनेके लिये ग्वालबालोंसे इन्द्रकी पूजाके लिये एकत्रित सामग्रीद्वारा गोवर्धनकी पूजा करायी। ग्वालोंने तरह-तरहके अन्नोंका कूट—समूह (ढेर) समर्पण करके गोवर्धनकी पूजा की, इसलिये इसका एक नाम अन्नकूट भी हो गया, तभीसे इस त्यौहारमें गोबरका गोवर्धनपर्वत बनाकर उसके सामने अनेक प्रकारके पक्वान्नोंको रखकर गोवर्धनपूजा करते हैं। भगवान्ने ग्वाल-बालोंके हृदयमें श्रद्धा उत्पन्न करनेके लिये दूसरा रूप धारण करके भोग लगाया था, इसलिये मन्दिरोंमें भी भगवान् श्रीकृष्णके सम्मुख विविध पक्वान्न रखकर भोग लगाते हैं।

हमारे यहाँ तो कुछ धनी किसान अपनी सामर्थ्यके अनुसार २-४-१० बीघा गेहूँ, चना, जौकी खेतीमें गायोंको खुला चरवाकर साक्षात् ही गो-जातिका संवर्धन करते हैं। कुछ लोग आपसमें चन्दा करके खेत खरीदकर गायोंको चराते हैं, ग्वालोंका जैसा वेष बनाकर वंशी बजाते हुए मोरपंखकी मोटी मोरछल लिये हुए दिनभर मौन होकर गायोंके पीछे घूमते हैं, जब गायें पानी पीती हैं; तभी वे भी गायोंकी तरह मुखसे पानी पीते हैं। इस प्रकार पूरे दिन व्रत तथा तपस्या करके सायंकालमें पुरोहितजीसे गोवर्धन-

धारणकी कथा सुनते हैं। पुरोहितजीकी भी पूजा करते हैं, भेंट समर्पण करते हैं, फिर प्रसाद पाते हैं। पुरोहितजी उनकी मोरछलमें बँधी गऊके पूँछके बालोंसे बनी डोरीमें प्रत्येक वर्ष एक गाँठ लगा देते हैं। इस प्रकार बारह वर्षतक व्रत करते हैं। बारह वर्ष पूरे हो जानेपर मथुरा तथा वृन्दावनकी यात्रा करके गोवर्धनजीमें व्रतका उद्यापन करते हैं।

गोपूजा-विज्ञान—जिस वस्तुसे मनुष्यको कुछ भी लाभ होता है, उसपर उसका आदरभाव हो जाना स्वाभाविक है, फिर वह वस्तु चाहे जड़ हो या चेतन, देवी-देवता हो या पशु-पक्षी, उसकी वह पूजा करनेमें लग जाता है, यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है। वह पूजा पूज्यकी आवश्यकताके अनुरूप अन्न-जल देकर, पैर दबाकर, चन्दन लगाकर, प्रार्थना सुनाकर और प्रणाम करके अनेक रूपोंमें की जाती है। उक्त मनोवैज्ञानिक सत्यके आधारपर ही हमारे शास्त्रोंमें शंख, चन्दन आदि जड़ वस्तुओंको और तुलसी, पीपल आदि वृक्षोंको एवं गाय-जैसे पशुओंको भी पूज्य मानकर पूजाका विधान किया गया है।

गाय-जैसा परम लाभदायक प्राणी मनुष्यके लिये मिलना अति दुर्लभ है। गायके दूधमें ही माँके दूधके समान सभी गुण विद्यमान हैं, अन्य किसी दूधमें नहीं। इस सत्यको आजके भौतिक विज्ञानी भी स्वीकार करते हैं। यही कारण है कि माताके दूधके अभावमें या कमीमें गायका दूध ही बालकोंको पिलानेके लिये दिया जाता है, ऐसी दशामें माताके दूधसदृश गुणोंसे युक्त दूध पिलानेवाली गायको गोमाता—गय्या-मय्या कहना तथा उनकी पूजा करना सर्वथा ठीक ही है। गायका दूध ही नहीं, गायका गोबर तथा मूत्र भी इतना अधिक पवित्र है कि भोजन-भजनके स्थानको गायके

गोबर-मूत्रसे लीपकर पवित्र करते हैं। शारीरिक रोगनाशक, विषप्रकोपशामक आदि गुणोंको तो आजके वैज्ञानिक भी गोबरमें मानने लगे हैं। हमारे आयुर्वेदमें सैकड़ों औषधियोंका शोधन गोमय और गोमूत्रसे ही करते हैं। इतना ही नहीं अपितु रक्तदोषजन्य अनेक रोगोंको दूर करनेके लिये गायके गोबर और मूत्रको सीधे ही खिलाते-पिलाते हैं। धर्मशास्त्रोंने तो शारीरिक शुद्धताके लिये ही नहीं, किंतु मानसिक शुद्धताके लिये भी गायके गोबर-मूत्रसे युक्त पंचगव्यके पानका विधान किया है।

कुरूमके जूते कभी नहीं पहनने चाहिये; क्योंकि जीवित गायको गरम पानीसे भिगो-भिगोकर खूब बेतोंसे मार-मारकर जो चमड़ा तैयार किया जाता है, उससे कुरूमके जूते बनते हैं। आजकल तो कपड़ेके बहुत अच्छे जूते मिलते हैं, जो आरामदायक भी होते हैं।

कृषिप्रधान भारतवर्षके लिये बैलोंकी बहुत आवश्यकता है। इस दृष्टिसे भी गोकी रक्षा परम आवश्यक है। यही कारण है कि महात्मा गाँधीजीने गोरक्षाको परम आवश्यक माना था। उनके अनुयायी परम सन्त विनोवाभावे एवं अन्य महापुरुषोंने इस दिशामें बहुत प्रयास किया था तथा अन्य दूरदर्शी महानुभाव गोवध-बन्द करानेका प्रयास आज भी कर रहे हैं। सरकारका भी परम कर्तव्य है कि वह गायोंसे होनेवाले ऊपर कहे लाभोंको सम्यक् रूपसे समझकर गोवध पूर्णरूपसे बन्द कर दे। गोवध-बन्दीको केवल आर्थिक हानि-लाभकी दृष्टिसे ही नहीं देखना चाहिये। जैसे स्वास्थ्यके लिये उपयोगी होनेके कारण शहरोंके अन्दर बगीचे बनाये जाते हैं, आर्थिक दृष्टिसे उन बगीचोंमें करोड़ों रुपयोंकी हानि ही होती है, तथापि स्वास्थ्यप्रदायक होनेसे उनकी रक्षा आवश्यक

मानी जाती है। वैसे ही बूढ़ी गायोंकी रक्षामें भले ही आर्थिक हानि हो तो भी उनकी रक्षा करनी ही चाहिये; क्योंकि बूढ़ी गायोंके शरीरोंसे और गोबर-मूत्रसे भी जो परमाणु निकलते हैं, मनुष्यके लिये वे भी बहुत अधिक स्वास्थ्यप्रदायक होते हैं। जनताको भी चाहिये कि अपनी सामर्थ्यके अनुसार बूढ़ी गायोंका स्वयं या चन्दाद्वारा गोशाला बनाकर पालन करें। सरकारको भी इस काममें सहायता करनी चाहिये। प्रत्येक ग्राममें कुछ गोचर भूमि छोड़नी चाहिये।

अपने बछड़े, चमड़े, पुरीष-मूत्र तथा दूधसे माताके समान पालन करनेवाली गऊमाताकी रक्षाके लिये शास्त्रकारोंने दो उपायोंका विधान किया है—एक तो गोवधको पाप घोषित किया, जिससे गायोंका कोई विनाश न करे, दूसरे गोरक्षाको महान् पुण्य बताया, जिससे उसकी रक्षामें लोगोंकी प्रवृत्ति हो। जैसे पुत्रका कर्तव्य है कि अपनी माताको भोजन कराये, उससे भी अधिक परम कर्तव्य है कि गोमाताको भोजन कराये। यही कारण है कि शास्त्राज्ञाके अनुसार चलनेवाले गरीब हिन्दुओंके घरमें भी अपनी माताके भोजनसे पूर्व गोमाताके लिये ही प्रथम रोटी प्रतिदिन अब भी बनायी जाती है, जिसे गोग्रास कहते हैं। यह नित्य निकाला जानेवाला गोग्रास भी नित्य की जानेवाली गोवर्धनपूजा ही है, जो देखनेमें लघु होनेपर भी गोमाताके प्रति वंशपरम्परामें स्थायी आदरभाव बनाये रखनेमें परम सहायक है।

भ्रातृ-द्वितीया (भैयादूज)—कार्तिक शुक्ल द्वितीयाको भ्रातृ-द्वितीया कहते हैं। पौराणिक कथानुसार इस दिन धर्मराज यम अपनी बहन यमुनाके घर मिलने जाया करते हैं। यमुनाजी अपने भैयाके माथेपर तिलक करके प्रेमपूर्वक भोजन कराती हैं। धर्मराजजी बहन

यमुनाको मनचाही वस्तु प्रदान करते हैं। एक बार यमुनाजीने मनचाही वस्तुके रूपमें यह वरदान धर्मराजजीसे माँगा कि भैया! आजके दिन मुझ यमुनाके जलमें जो स्नान करे, उसे आपका भय प्राप्त न हो। धर्मराजजीने बहन यमुनाको 'तथास्तु' कहकर वह मनचाहा वरदान प्रदान किया था।

इस पौराणिक कथानुसार ही कार्तिक शुक्ल द्वितीयाको लोग यमुनाजीमें स्नान करते हैं। मथुराजीमें भाई-बहनोंका मिलकर यमुनाजीमें स्नान करनेका विशेष फल माना है। इस दिन सभी भाई अपनी बहनोंके घर जाकर तिलक करवाते हैं, तिलक करके बहन बड़े स्नेहसे भाईको कुछ खिलाती है। भाई भी अपनी सामर्थ्यानुसार बहनको मनचाही वस्तु देता है। यह त्यौहार पारिवारिक स्नेह-विज्ञानकी दृष्टिसे भी बहुत महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि प्रत्येक वर्ष भाईका नियत समयपर बहनके घर जाना, भ्राताके शुभागमनकी प्रतीक्षामें स्नेहमग्न बहनद्वारा भ्राताके मस्तकपर भावभरे हृदयसे तिलक करके कुछ खिलाना, भाईद्वारा प्रेमपूर्वक उपहार देना आदि कार्य आँखोंसे देखनेवालोंके ही हृदयमें नहीं, किंतु कानोंसे सुननेवालोंके हृदयमें भी स्नेहका संचार कर देते हैं। ऐसी दशामें वात्सल्य-स्नेहकी मूर्ति माता-पिताके स्नेहरूप स्निग्ध रज-वीर्यसे उत्पन्न होनेवाले, एक ही स्नेहमयी जननीके स्नेहमय स्निग्ध दूधको पीकर बड़े होनेवाले एवं एक ही स्नेहमय पिताके हृदय (छाती)-पर एक साथ चढ़कर परस्पर स्नेहमयी क्रीड़ा करनेवाले, सालभर वियुक्त रहकर मधुर मिलनकी प्रतीक्षा करनेवाले भाई-बहनोंके परस्पर मिलनमें कैसा स्नेह, कैसा आनन्द होता है, इसे तो अनुभव करनेवाले ही जानते हैं। इसी प्रकार भाई-बहनोंके पारिवारिक स्नेहको अखण्ड बनाये रखनेवाला श्रावण-पूर्णिमापर होनेवाला

रक्षाबन्धनका त्यौहार है। इस त्यौहारमें बहन भाईकी कलाईमें सुरक्षाकी भावनासे भावभरे हृदयसे रक्षा-सूत्र (राखी) बाँधती है। भाई भी प्यारभरे उदार हृदयसे बहनको कुछ उपहार देकर आशीर्वाद प्राप्त करता है।

होली—भारतवर्ष कृषिप्रधान देश है, फाल्गुन-पूर्णिमापर प्रायः गेहूँ, जौ, चना आदि अनाजोंका परिपाक होने लग जाता है। गीताके निम्नलिखित वचनानुसार देवताओंकी कृपासे प्राप्त अन्न आदि वस्तुओंको उनको अर्पण किये बिना भोग करनेवाला चोर माना जाता है—

इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥

(गीता ३। १२)

इस चोरीरूप अपराधसे बचनेके लिये आस्तिक आर्यजाति अनादिकालसे देवमुख अग्निमें नवीन गेहूँ, जौ, चनाका हवन (होला) करके होलिका-उत्सव (त्यौहार) मनाती थी। हवनके अन्तमें हवनकी भस्मको प्रसादरूपमें धारण किया करती थी। होलीकी राखको बलात् लोगोंपर उड़ाना, यह उसी भस्मधारण प्रथाका विकृत रूप है। बादमें निम्नलिखित पौराणिक इतिहास भी इसी दिन घटित होनेसे वे भी इसी त्यौहारमें सम्मिलित हो गये—

नारदपुराणके अनुसार हिरण्यकशिपुकी बहन होलिकाको आगमें न जलनेका वरदान प्राप्त था। अपने भाईकी प्रसन्नताके लिये उसके आज्ञानुसार वह बालक प्रह्लादको गोदमें लेकर धधकती आगमें बैठ गयी। **कर्तुं अकर्तुं अन्यथाकर्तुं सर्वसमर्थ** भगवान्‌की अपार कृपासे प्रह्लादके शरीरमें आगने जरा भी दाग नहीं लगने दिया और होलिकाको होलीकी लकड़ीकी तरह जलाकर

होला बना डाला। इस प्रकार यह त्यौहार सब प्रकारसे असमर्थ बालक भक्त प्रह्लादके भक्तिभावकी विजयका तथा सब प्रकारसे समर्थ हिरण्यकशिपु और होलिकाके दुर्भावकी पूर्ण पराजयका स्मरण करानेवाला है।

भविष्यपुराणके प्रमाणानुसार महाराज रघुके राज्यकालमें ढुण्ढा नामकी राक्षसीके उपद्रवको विनष्ट करनेके लिये गुरु वसिष्ठके आज्ञानुसार बालकोंने हाथमें काठकी तलवार और ढाल लेकर हो-हल्ला करना, जगह-जगह आग जलाना आदि राक्षसी क्रीड़ा की थी, जिससे ढुण्ढा राक्षसीका उपद्रव शान्त हो गया। इसी आधारपर इस त्यौहारमें बालकोंका होहल्ला मचाना सम्मिलित हो गया।

श्वपचस्पर्श—होलीके बाद प्रतिपदाको श्वपच अर्थात् चाण्डालका स्पर्श—आलिंगन करके जो व्यक्ति स्नान करता है, उसको आधि, व्याधि तथा पाप नहीं लगता। ऐसा निम्नलिखित शास्त्रवचनमें कहा है—

चैत्रे मासि महाबाहो पुण्ये तु प्रतिपद्दिने।
यस्तत्र श्वपचं स्पृष्ट्वा स्नानं कुर्यान्नरोत्तमः।
न तस्य दुरितं किञ्चित् नाधयो व्याधयो नृप॥

(हेमाद्रिमें भविष्यपुराणका वचन)

स्पर्शका यह विधान सामाजिक स्नेह तथा एकताकी दृष्टिसे बहुत महत्त्वका है। होलीके उल्लासभरे त्यौहारपर जब सभी उच्चवर्णके मनुष्य अपने समाजरूप परिवारका एक अभिन्न अंग मानकर बिना किसी हिचकके पिता, भाई या पुत्रकी तरह आदर और प्यारभरे हृदयसे श्वपचका आलिंगन करते हैं; तब सवर्णमें उच्चताका अभिमान तथा चाण्डालमें नीचताकी दीनता समाप्त हो जाती है। घृणामूलक नहीं,

किंतु विज्ञानमूलक शास्त्राज्ञानुसार छुआछूतका व्यवहार शिरोधार्य करते हुए भी वैदिकधर्मके अनुगामी होनेके कारण हम सभी हिन्दू ही हैं, इस एकताके भावका प्रत्यक्ष दर्शन उस समय हो जाता है। कीचड़ उछालना, मल-मूत्र लगा देना, हड्डी, मांस, मुर्दे दरवाजोंपर डाल देना, गाली देना आदि हानिकारक आधुनिक बुरी प्रथाएँ सर्वथा त्याज्य हैं, सरकारको चाहिये इन्हें बन्द करा दे।

गंगादशहरा—ज्येष्ठ मासके शुक्लपक्षकी दशमी बुधवारको हस्त-नक्षत्रमें पापनाशिनी पावन गंगाजी स्वर्गसे भूमिपर उतरकर आयी थीं। इस दिन गंगाजीमें स्नान करनेवाले मनुष्यकी दस इन्द्रियोंसे होनेवाले दस प्रकारके पापोंका गंगाजी हरण कर लेती हैं, इसलिये इसका नाम दशहरा पड़ा है—ऐसा महाभारत तथा वाल्मीकिरामायण आदि ग्रन्थोंमें कहा है—

दशम्यां शुक्लपक्षे तु ज्येष्ठे मासे बुधेऽहनि।
अवतीर्णा यतः स्वर्गात् हस्तर्क्षे च सरिद्वरा।
हरते दशपापानि तस्माद् दशहरा स्मृता॥

श्रीगंगाजीकी उपासनासे तथा स्नानसे होनेवाले लौकिक तथा अलौकिक लाभोंका तथा गंगाजलकी विलक्षण पवित्रताके वैज्ञानिक प्रमाणोंका उल्लेख प्रथम खण्डमें दिनचर्याका निरूपण करते हुए 'स्नानविज्ञान' प्रकरणमें किया जा चुका है।

विजय-दशहरा—आश्विन शुक्ला दशमीको तारकोदयके समय 'विजय' नामक मुहूर्त होता है, जो कि सम्पूर्ण कार्योंमें सिद्धि देनेवाला होता है; क्योंकि भगवान् रामने श्रवण नक्षत्रसे युक्त पूर्ण तिथि अर्थात् दशमीको दस सिरवाले रावणके दस सिरोंका हरण करनेके लिये 'विजय-प्रस्थान' किया था, इसीलिये इसे 'विजय-दशहरा' कहते हैं। इसमें प्रारम्भ किये गये कार्य सिद्ध होते हैं। ऐसा निम्नलिखित

प्रामाणिक शास्त्र-वचनोंमें कहा है—

आश्विनस्य सिते पक्षे दशम्यां तारकोदये।
स कालो विजयो ज्ञेयः सर्वकार्यार्थसिद्धये॥

भगवान् रामने जगज्जननी सतीशिरोमणि सीताजीका हरण करनेवाले सर्वलोकविख्यात वीर रावणके दसों सिरोंका हरण किया था, अतः उसीका अनुकरण करते हुए आज भी दशहराके दिन जगह-जगह रावणके पुतले बनाकर उन्हें भस्म किया जाता है। जिससे यह शिक्षा मिलती है कि परनारीका अपहारी चाहे वह दस शीशधारी महाबली दानव ही क्यों न हो, उसकी दुर्दशा लोग युग-युगान्तरतक पुतले जलाकर किया करते हैं। ऐसी दशामें एक सिरधारी निर्बल मानवको तो परनारी-अपहारी होनेका दुःसाहस करना ही नहीं चाहिये।

प्रायश्चित्त-विज्ञान

इस ग्रन्थमें संक्षिप्तरूपमें प्रदर्शित तथा वैदिक धर्मशास्त्रोंमें विस्तारसे प्रतिपादित ज्ञात-अज्ञात विधि-निषेधोंका अतिक्रमण मनुष्य प्रमाद, आलस्य, राग-द्वेष, विषयासक्ति आदि कारणोंसे कर जाते हैं; इससे उत्पन्न शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और आत्मसम्बन्धी अशुद्धिका शोधन करनेके लिये शास्त्रोंमें प्रायश्चित्तोंका विधान किया गया है। अतः मानवको अपनी अशुद्धिका प्रायश्चित्तोंके द्वारा शोधन करके शुद्ध हो जाना चाहिये। प्रायश्चित्तका विधान भी वस्तुविज्ञान, शरीरविज्ञान, मनोविज्ञान आदि विविध विज्ञानोंके आधारपर निर्धारित किया गया है। जैसे एक सुयोग्य वैद्य रोगीके रोगकी लघुता-गुरुता, देश, काल, स्वभाव और व्यक्तिकी अनुकूलता-प्रतिकूलता, रोगकी प्राचीनता-अप्राचीनता, साध्यता-असाध्यता, विषमता-अविषमता तथा औषधिके गुणोंकी सबलता-निर्बलता आदिका सम्यक् निदान करके चिकित्साका विधान करता है, वैसे ही धर्मशास्त्रोंमें पापकी लघुता-गुरुता, देश, काल तथा स्वभाव, व्यक्तिकी अनुकूलता-प्रतिकूलता, पापप्रवृत्तिकी चिरकालीन अभ्यस्तता-अनभ्यस्तता तथा बुद्धिपूर्वक कर्तृता आदिपर सम्यक् विचारकर लघु-गुरु प्रायश्चित्तोंका विधान किया गया है और यह निर्देश कर दिया गया है कि जिन पापोंका प्रायश्चित्त इस ग्रन्थमें न कहा हो, उनका भी इसी प्रकार प्रयत्नपूर्वक सम्यक् निदान करके प्रायश्चित्त-विधान करना चाहिये—

देशं कालं वयः शक्तिं पापं चावेक्ष्य यत्नतः।
प्रायश्चित्तं प्रकल्प्यं स्यात् यत्र चोक्ता न निष्कृतिः॥

(याज्ञ० ३।२९४)

'विहितं यदकामानां कामात् तद् द्विगुणं भवेत्।'

देश, काल, आयु, शक्ति तथा पापको प्रयत्नपूर्वक देखकर

प्रायश्चित्तकी कल्पना वहाँ कर लेनी चाहिये, जहाँ प्रायश्चित्त न बताया हो। अनिच्छासे किये गये पापका जो प्रायश्चित्त बताया हो, इच्छासे वही पाप करनेपर दुगुना प्रायश्चित्त करना चाहिये।

जैसे उष्णदेशमें, उष्णकालमें तथा युवावस्थामें खाया हुआ उष्ण पदार्थ शरीरमें अधिक गर्मी तथा मस्तिष्क (मन)-में अधिक विकृति पैदा करता है, अतः उस गर्मीका शमन करनेके लिये उसके विपरीत अधिक शीतलतायुक्त देश, काल तथा पदार्थोंके सेवनका विधान आयुर्वेदके मर्मज्ञ विद्वान् करते हैं। ऐसा विधान करना ही सर्वथा उचित भी है; क्योंकि सामान्य शीतल उपचारसे उस व्यक्तिकी उष्णताका शमन होकर स्वास्थ्य-लाभ करना सम्भव नहीं। वैसे ही तीर्थदेशमें, अमावस्या, पूर्णिमा आदि कालमें, सामर्थ्ययुक्त आयुमें किये गये पाप अधिक हानिकर होते हैं एवं वर्षोंतक नित्यप्रति अनेक बार मद्य, मांस, अस्थि आदि तामस पदार्थोंका सेवन करनेपर वे शरीरके रक्त, मांस आदि धातुओंमें दोष उत्पन्न कर देते हैं तथा बुद्धिपूर्वक बारम्बार किये गये पाप मनकी बुरी आदतको अधिक दोषयुक्त और सुदृढ़ बना देते हैं। इन सबके शमनके लिये शास्त्रकारोंने प्रबल गुरु प्रायश्चित्तोंका विधान किया है, वह सर्वथा उचित ही है; क्योंकि निर्बल लघु प्रायश्चित्तोंसे रक्त-मांसतक पहुँचे मद्य-मांस आदिके विकारोंका तथा मनकी बुरी सुदृढ़ आदतोंका शमनपूर्वक शुद्धताकी प्राप्ति होना सम्भव ही नहीं।

शरीरविज्ञान, मनोविज्ञान आदिके आधारपर निर्धारित प्रायश्चित्तोंकी उपेक्षा करके अदूरदर्शी दयालु सुधारक थोड़ा-सा पंचगव्य पिलाकर या पावभर हवन कराकर या गलेमें यज्ञोपवीत पहनाकर या दण्ड धारण कराकर या एक बार भगवन्नाम उच्चारण कराकर ही पूर्ण शुद्धताका प्रमाण-पत्र दे देते हैं। ऐसे प्रायश्चित्तोंसे तो मांसतक पहुँचे

मद्य-मांस आदि तामस पदार्थोंके दोषोंकी तो बात ही क्या, रस तथा रक्ततक पहुँचे दोषोंका भी शमन नहीं होता, मानसिक विकारोंकी शुद्धि होना तो अति दूरकी बात है। दोषानुसार प्रायश्चित्त न करनेके कारण न तो पतितोंका उद्धार ही होगा और न ऐसे अशुद्ध लोगोंकी जनसंख्या बढ़ जानेसे सच्चे हिन्दू-धर्मका प्रचार या प्रसार ही होगा।

कोई वैद्य रोगीके रोगानुसार चिकित्साकी उपेक्षा करके न तो रोगीका रोगसे उद्धार ही कर सकता है और न आयुर्वेदका प्रचार या विस्तार ही कर सकता है; क्योंकि रोगके अनुरूप चिकित्सा न होनेके कारण रोगी रोगसे मुक्त न होगा, ऐसी दशामें वे लाखों रोगी आयुर्वेदकी निन्दा करते हुए चिकित्साका त्याग कर देंगे, जिससे आयुर्वेदका प्रचार या विस्तार न होकर उसके विपरीत ही परिणाम होगा। हाँ, यदि वह वैद्य रोगियोंके रोगानुसार चिकित्सा करके १००-२०० रोगियोंको भी रोगविनिर्मुक्त कर दे, तो इससे रोगियोंका रोगसे उद्धार होगा और उनके द्वारा आयुर्वेदकी प्रशंसा की जानेपर आयुर्वेदका सच्चा प्रचार-प्रसार होगा।

जैसे उक्त कथन एक परम सत्य है, वैसे ही अहिन्दुओं या पतित हिन्दुओंकी अशुद्धताके अनुरूप शुद्धताका विधान करनेपर ही उनका उद्धार होगा और उनके द्वारा हिन्दू-धर्मकी प्रशंसा करनेपर हिन्दू-धर्मका प्रचार-प्रसार होगा, भले ही इनकी संख्या कम हो। इसके विपरीत लाखों-करोड़ों पतितोंका पातकके अनुसार प्रायश्चित्त कराये बिना गलेमें यज्ञोपवीत पहनाकर या दण्ड-धारण (संन्यास-ग्रहण) कराकर न तो उनका पातकोंसे उद्धार होगा और न यथार्थ हिन्दू-धर्मका प्रचार या प्रसार ही होगा।

यहाँ यह भी विचारणीय है कि गलेमें यज्ञोपवीत पहना देनेसे या दण्ड धारण करा देनेसे पतित मनुष्यका उद्धार हो जाता है, इसमें

क्या प्रमाण है? किसी भौतिक विज्ञानकी प्रयोगशालामें इसे यन्त्रप्रयोगद्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता। यदि कहा जाय कि भौतिक विज्ञान नहीं, किंतु इसमें वेद-शास्त्र प्रमाण हैं। इसपर निवेदन यह है कि वेद-शास्त्र-प्रमाणसिद्ध विधान तभी फलदायक होते हैं, जब उन्हें वेदशास्त्रकथित पूर्ण विधिके अनुसार किया जाय। विधिका परित्याग करनेपर तो विपरीत फल भी हो सकता है।

जिनके लिये यज्ञोपवीत तथा दण्ड-धारण (संन्यास-ग्रहण)-का विधान शास्त्रमें नहीं है, ऐसे जन भी यदि शास्त्रकी आज्ञाका अतिक्रमण करके यज्ञोपवीत या दण्ड-धारण (संन्यास-ग्रहण) करें तो उनका भी पातकोंसे उद्धार न होकर उनमें पातकोंका संचार ही होगा। ऐसी दशामें जो लोग वंशपरम्परासे मद्य, मांस आदि तामस पदार्थोंका सेवन करते आ रहे हैं, उससे उत्पन्न शारीरिक एवं मानसिक दोषोंसे चरम सीमातक ग्रस्त हैं, ऐसे तामस अवैदिक अहिन्दुओंको शास्त्रकी आज्ञाका सर्वथा अतिक्रमण करके यज्ञोपवीत या दण्ड धारण कराना तो उनके उद्धारका नहीं, अपितु उनके पतनका ही कारण होगा। इतना ही नहीं शास्त्राज्ञाका अतिक्रमण करनेके कारण धारण करानेवालोंको भी पापका भागी बनायेगा। अतः इस प्रकारके प्रचार-प्रसारके कार्य सर्वथा अवैदिक तथा अवैज्ञानिक होनेसे व्यक्तिके उद्धार और सच्चे हिन्दू-धर्मके प्रचार-प्रसारके सर्वथा विपरीत हैं।

शंका—आपने जो प्रायश्चित्तके सम्बन्धमें याज्ञवल्क्य-स्मृतिका श्लोक पूर्वमें लिखा है, उसके अनुसार तो काल और शक्तिको देखकर प्रायश्चित्त करानेको लिखा है, अतः इस कठिन कलिकालमें अल्पशक्तियुक्त मानवोंसे कठिन प्रायश्चित्त कराना उचित नहीं, इसलिये लघु प्रायश्चित्तोंद्वारा पतित-उद्धारका मार्ग खोलना

सर्वथा उचित है।

समाधान—इस अनादि कल्पोंवाले संसारमें प्रथम बार ही कलियुग नहीं आया, अपितु बहुत बार आ चुका है। उन कलियुगोंमें अल्पशक्तियुक्त मानवोंके लिये अनादि वेदाज्ञाके अनुकूल सर्वज्ञ दयालु ऋषियोंने जो लघु प्रायश्चित्तोंका विधान किया है, वे ही लघु प्रायश्चित्त इस कठिन कलिकालके अल्पशक्तियुक्त मानवोंके लिये भी करनेयोग्य हैं, अतः उन्हींके द्वारा शुद्धि सम्भव है, आजके असर्वज्ञ, अदूरदर्शी, दयालु पुरुषोंके द्वारा कराये जानेवाले अवैज्ञानिक प्रायश्चित्तोंसे शुद्धि सम्भव नहीं; क्योंकि इनके प्रायश्चित्तोंमें दोषोंकी तारतम्यताका कुछ भी विचार नहीं किया गया है। शास्त्रकारोंने तो कौन व्यक्ति कितने वर्षोंतक अभक्ष्य-भक्षण आदि कुकर्मोंको करता रहा है; उसके शरीरमें रक्त, मांस आदिमें कहाँतक दोषोंका प्रवेश हो गया है, उसके अनुसार विचारकर दोषोंसे उद्धारके लिये प्रायश्चित्तका विधान किया है—

गृहीतो यो बलान्म्लेच्छैः पञ्च षट् सप्त वा समाः।
दशादिविंशतिं यावत् तस्य शुद्धिर्विधीयते॥
प्राजापत्यद्वयं तस्य शुद्धिरेषा विधीयते।
अतः परं नास्ति शुद्धिः कृच्छ्रमेव सहोषिते॥

(देवलस्मृति ५३-५४)

म्लेच्छोंद्वारा बलात् गृहीत व्यक्ति जिसने पाँच-छः-सात या दससे लेकर बीस वर्षपर्यन्त (उनके साथ अभक्ष्य-भक्षण आदि) कुकर्म किये हैं, उनकी शुद्धिका विधान है। दो बार प्राजापत्यव्रतके करनेपर उसकी शुद्धि होती है। बीस वर्षसे अधिक पतित रहनेपर शुद्धि नहीं होती।

‘बीस वर्षसे अधिक कालतक अभक्ष्य-भक्षण करनेपर शुद्धि

नहीं होती' इसमें कारण यह है कि बीस वर्षके बाद अस्थियोंतक दोषोंका प्रभाव हो जाता है। ऐसा होनेपर भी 'उस व्यक्तिका या उसके वंशजोंका उद्धार किसी प्रकार कभी भी नहीं हो सकता' इस प्रकार उनके उद्धारका द्वार सर्व प्रकारसे शास्त्रकारोंने बन्द कर दिया हो, ऐसी बात भी नहीं है। वह व्यक्ति यदि कुकर्मका सर्वप्रकारसे तिरस्कार करके सर्वसाधारणके लिये विहित सात्त्विक आहार, गंगास्नान, एकादशी व्रत, भगवन्नामजप आदि साधन करता रहे तो जन्मान्तरमें ब्राह्मण-योनिमें उत्पन्न हो सकता है, इतना ही नहीं, किन्तु मोक्ष भी प्राप्त कर सकता है। उस व्यक्तिका ही नहीं अपितु उसके वंशज भी उक्त साधनोंको करते हुए सातवीं पीढ़ीमें सभी-के-सभी शुद्ध हो जायँगे; क्योंकि वीर्यका प्रभाव सात पीढ़ियोंतक ही रहता है, इसीलिये याज्ञवल्क्यने पाँच-सात पीढ़ीमें जाति-उत्कर्ष कहा है—

'जात्युत्कर्षो युगे ज्ञेयः सप्तमे पञ्चमेऽपि वा।'

(याज्ञ० १।९६)

प्रश्न—श्रीमद्भागवत आदि धर्मशास्त्रोंमें कहा है कि संकेत, परिहास, तान छेड़ने या पुकारनेमें भी वैकुण्ठनाथका नाम-ग्रहण सब पापोंका हरण कर देता है—

साङ्केत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा।
वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदुः॥

(श्रीमद्भा० ६।२।१४)

ऐसी दशामें जो लोग सर्वप्रकारके पापोंका संहार करनेवाले भगवन्नामका उच्चारण कराकर शुद्ध हुए मनुष्योंको दण्डधारण कराके नरसे (संन्यास-ग्रहणद्वारा) नारायण बनानेका परोपकार कर रहे हैं, उनके उद्धार-कार्यको निराधार या अशास्त्रीय कैसे कहा जा

सकता है?

उत्तर—भागवतके उक्त श्लोकमें अघ (पाप)-का हरण होना ही नाम-ग्रहणका फल बताया है, अभक्ष्य-भक्षणजन्य रक्त, मांस आदिमें प्राप्त दोषोंका विनाश नहीं बताया। इन दोषोंका विनाश तो शास्त्रीय प्रायश्चित्त उपवाससे ही होता है। भगवन्नाम-ग्रहणसे पूर्वसंचित पापोंका ही हरण होता है, जिससे उन पापोंके फल-भोगके लिये शूकर, कूकर आदि अधम योनिकी प्राप्तिसे या नरक-भोगसे ही बचाव होता है। किंतु यदि नाम-ग्रहणके बाद पुनः पाप करते हैं तो वर्तमानमें क्रियमाण उन पापकर्मोंका फल अवश्य ही भोगना पड़ता है। भगवन्नामकौमुदी आदि ग्रन्थोंमें नाम-जपके बारेमें बहुत विचार किया गया है, हम नाम-जपकी साधना करनेवालोंके लिये उस विचारका कुछ सार यहाँ लिख देते हैं—

पापनाशक भगवन्नामके परिणाम-क्रमको समझनेसे पूर्व पापके उत्पादक अशुभकर्मोंके परिणाम-क्रमको समझ लेना अति आवश्यक है। अशुभ कर्मोंसे (१) नरकादि दुःखका हेतु पाप नामका अदृष्ट उत्पन्न होता है। (२) अशुभ कर्मोंमें पुनः प्रवृत्ति करानेवाले संस्कार (पापवासना)-का आधान होता है। (३) पुनः-पुनः दीर्घकालतक अशुभ कर्म करते रहनेपर अशुभ कर्म करनेमें राग हो जाता है।

इसी प्रकार नाम-जपके भी तीन परिणाम होते हैं—

(१) नाम-जपसे पुण्य नामका अदृष्ट उत्पन्न होता है। यह अदृष्ट प्रथम उक्त पाप नामके अदृष्टका ही केवल नाश करता है, उक्त पापवासनाका नाश नहीं करता। यही कारण है कि जिन साधकोंने एक बार नहीं, किंतु अनेक बार अश्रद्धासे नहीं, अपितु श्रद्धापूर्वक नाम-जप किया है, वे भी यह प्रश्न करते हैं कि

पापवासनाका नाश कैसे हो? यदि नाम-जप करनेके बाद पुनः पाप किया जाता है तो पुनः किया हुआ नाम-जप भी उस पापका ही नाश करता है, पापवासनाका नाश नहीं करता।

(२) नाम-जपसे पुनः नाम-जपमें प्रवृत्ति करानेवाले संस्कार (नामवासना)-का आधान होता है। यह नामवासना ही प्रबलतम हो जानेपर उक्त पापवासनाका नाश करनेमें समर्थ होती है।

(३) पापवासनाके नष्ट हो जानेपर पुनः-पुनः दीर्घकाल-पर्यन्त नाम-जप करते रहनेपर भगवन्नाम-जपमें अनुराग उत्पन्न हो जाता है। यह अनुराग ही भगवत्कृपाके माध्यमसे कल्याण करनेवाला है। 'किसी भी प्रकार किया गया नाम-जप कल्याण करनेवाला है' यद्यपि शास्त्र ऐसा कहते हैं तथापि उन्हीं शास्त्रोंमें श्रद्धा और आदरका भी अनुपानरूपसे विधान किया गया है—

'अनूपान श्रद्धा मति पूरी।'
'सादर सुमिरन जे नर करहीं।'

इससे यह सिद्ध होता है कि श्रद्धा-आदरपूर्वक किया हुआ तथा **'तज्जपस्तदर्थभावनम्'** (योगसूत्र १।२८) अर्थात् उस परमात्माके नामका जप करते हुए उस नामके अर्थरूप परमात्माके स्वरूपकी भावना (स्मरण-चिन्तन) भी करे और विहित त्याग, निषिद्ध आचरण आदि नामापराधोंका परित्याग करे, तभी नाम-जप शीघ्र कल्याण करनेवाला होता है।

उक्त प्रकारसे किया गया नाम-जप पापोंका नाश करनेवाला केवल प्रायश्चित्तमात्र ही नहीं है, अपितु मोक्षरूप फल देनेवाला भी है। प्रायश्चित्त-प्रकरणका सार इतना ही है कि प्रायश्चित्तविधान शारीरिक दोषों एवं मानसिक पापवासनाओं और पापोंका दमन करनेवाला एक दण्डविधान है, इसीलिये कहा है **'दण्डो नाम**

दमनम्'। अतः जिससे उनका भलीभाँति दमन (विनाश) हो जाय, ऐसा प्रायश्चित्त करानेसे ही शुद्धि होना सम्भव है, अन्यथा नहीं। दोषोंके अनुसार चान्द्रायण आदि सरल-सुगम प्रायश्चित्तोंका विधान कलियुगके मनुष्योंकी सामर्थ्यको देखकर ही शास्त्रोंमें किया गया है। उन प्रायश्चित्तोंको करनेमें समर्थ पुरुषोंसे वे प्रायश्चित्त न कराके हिन्दू धर्मानुयायियोंकी संख्या बढ़ाने या हिन्दू-धर्मका अधिक-से-अधिक प्रचार-प्रसार करनेके लोभसे केवल एक बार पंचगव्य पिला देना या पावभरका हवन कराकर गलेमें यज्ञोपवीत पहना देना या भगवन्नामका उच्चारण कराकर दण्डधारण करा देना सर्वथा अशास्त्रीय एवं अवैज्ञानिक है। इस प्रकारके प्रायश्चित्त तो अनुकल्प-कोटिमें भी प्रविष्ट नहीं हो सकते।

मनुजीने तो स्पष्ट कहा है कि जो अपराधी व्यक्ति प्रथम कोटिका प्रायश्चित्त करनेमें समर्थ है, तो भी उसे न करके असमर्थोंके लिये कहे गये अनुकल्परूप प्रायश्चित्तोंको करता है, उस दुष्टमतिवाले मनुष्यको पारलौकिक अभ्युदयरूप फलकी और प्रत्यवाय (पाप)-विनाशरूप फलकी प्राप्ति नहीं होती—

प्रभुः प्रथमकल्पस्य योऽनुकल्पेन वर्तते।
न सांपरायिकं तस्य दुर्मतेर्विद्यते फलम्॥

(मनु० ११।३०)

ऐसी दशामें आधुनिकोंके उक्त प्रायश्चित्त जो कि अनुकल्प-कोटिमें भी प्रविष्ट नहीं हो पाते, उनसे पतितोंके उद्धार या हिन्दूधर्मके प्रचार-प्रसारकी आशा तो दुराशामात्र है।

जाति-विज्ञान

शास्त्रीय ज्ञान तथा तात्पर्यसे शून्य सवर्णोंके द्वारा जाति-पाँति तथा छुआछूतका अति दुरुपयोग किये जानेके कारण जन-साधारणके हृदयमें ही नहीं, अपितु कुछ विशिष्ट लोगोंके हृदयमें भी यह धारणा दृढ़ हो गयी है कि यह सब स्वार्थीलोगोंका पाखण्डमात्र है, इससे देशका बहुत अहित हुआ है, अतः इसे मिटाना चाहिये। इसीलिये सरकारने जाति-पाँति तथा छुआछूतका समर्थन करना कानून-विरुद्ध अपराध घोषित कर दिया है। तो भी सरकारके कानूनका विरोध करनेकी दृष्टिसे नहीं, अपितु इस विषयमें भी ऋषियोंके सूक्ष्म वैज्ञानिक दृष्टिकोणको स्पष्ट करनेकी दृष्टिसे ही एवं वैदिक-शास्त्रोंमें समानजातीय कन्याके साथ विवाहकर गर्भाधानपूर्वक सन्तानोत्पादनका विधान है, इसलिये जातिविज्ञानका वैज्ञानिक विवेचन अति आवश्यक है, इस दृष्टिसे भी कुछ विस्तारसे लिखनेका प्रयास कर रहा हूँ। आशा करता हूँ कि पूर्णमनोयोगसे (दुराग्रह छोड़कर) विचार करनेवालोंको इस प्रकरणको पढ़कर यह ज्ञान अवश्य हो जायगा कि जाति-पाँतिका विषय भी विज्ञानसम्मत तथा समाजके लिये परम उपयोगी है; स्वार्थ, घृणा तथा राग-द्वेषमूलक नहीं है।

वीर्यमें गन्धादि-सेवनका प्रभाव

मनुष्य जिन गन्ध, रस, रूप, स्पर्श तथा शब्द आदि विषयोंका सेवन करता है और चलना, पकड़ना, बोलना, मल-मूत्र-त्याग करना आदि क्रियाएँ करता है तथा शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वोंको सहन करता है एवं जिन भावों और विचारोंसे युक्त होता है; उन सबका वीर्यमें प्रभाव पड़ता है, अतः उस वीर्यसे उत्पन्न सन्तानपर भी उनका प्रभाव पड़ता है। इन बातोंका विस्तारसे प्रतिपादन करना आवश्यक होनेसे

प्रथम उसीको लिखा जायगा।

(क) गन्धका वीर्यमें प्रभाव—कलमी आम या देशी बड़े आमको हाथपर रखकर चाकूसे काटकर अँगुलियोंसे उठाकर खाइये, फिर तुरन्त पानीसे हाथ धोकर या एक बार साबुन लगाकर हाथोंको सूँघिये तो आपको हाथोंमेंसे आमकी गन्ध आयेगी। केवल एक हाथमें तेल लगाकर तुरन्त साबुनसे दोनों हाथ धोकर देखिये—जिस हाथमें तेल लगाया था, वह हाथ तेल न लगानेवाले दूसरे हाथकी अपेक्षा चिकना होगा तथा उसमेंसे तेलकी मन्द गन्ध आयेगी। ये दोनों प्रयोग यह सिद्ध कर देंगे कि १-२ मिनट भी जिस पदार्थका हाथसे सम्बन्ध हो जाता है, उस पदार्थकी गन्ध तथा चिकनाहटका हाथोंमें इतना प्रवेश हो जाता है कि साबुन लगानेपर भी उसका इतना स्थूल अंश शेष रह जाता है कि उसे हम स्थूल विषयके ग्राहक नेत्र तथा नाकसे ग्रहण कर लेते हैं। अब जरा विचार कीजिये जो लोग मरे हुए पशुओंके शरीरसे चमड़ा निकालनेका काम चार-छः घंटे प्रतिदिन आजीवन करते हैं, उनके हाथ बराबर उतने कालतक चर्बीसे सने रहते हैं, उनके हाथोंमें चर्बीकी चिकनाहट तथा दुर्गन्ध क्या इतनी गहराईसे प्रविष्ट नहीं हो जायगी कि एक बार नहीं, अनेक बार साबुनसे भी हाथ धोनेपर न निकले? इस विषयका एक बार मैंने जब व्याख्यान देते हुए विस्तारसे प्रतिपादन किया तब एक डॉक्टरसाहबने कहा स्वामीजी! आप बहुत ठीक कहते हैं। जब मैं मुर्दोंकी चीर-फाड़का काम केवल एक घंटे सीखता था तब खुशबूवाले साबुनसे अनेक बार हाथ धो लेनेपर भी हाथोंसे दुर्गन्ध आती थी।

यही कारण है कि जन्मतः जाति न माननेवाले तथा हिन्दूमात्रके साथ समान व्यवहारका समर्थन करनेवाले स्वामी दयानन्दजीने भी

ऐसे लोगोंका ग्रामसे बाहर एक तरफ काम करनेका समर्थन किया है। इतना ही नहीं आजकी सरकार भी चमड़ेके कारखानों तथा बूचड़खानोंको शहरसे बाहर ही बनानेका आदेश देती है। ऐसी दशामें शहरके अन्दर एक हलवाईकी या होटलकी दूकान और उसीके सामने या बगलमें जूता बनानेकी दूकानका होना कहाँतक उचित है? यह विवेचन अतिस्थूल गन्ध तथा उसको ग्रहण करनेवाली स्थूल नाकको लेकर किया है।

सूक्ष्म नाकवाले तो इससे भी सूक्ष्म गन्धको ग्रहण कर लेते हैं। खसके इत्रकी ऐसी तेज प्रभावशाली गन्ध होती है कि एक बूँद हाथमें लगानेमात्रसे अनेक बार पानीसे हाथ धोनेपर भी एक-दो दिनतक सुगन्ध आती रहती है। एक हमारे अति परिचित खसके व्यापारीने बताया कि मैं अपने सामने खसका इत्र निकलवाकर दो डिब्बोंमें भरकर बम्बई बेचने ले गया। अरबके एक बूढ़े व्यापारीने उसे सूँघकर कहा कि मैं एक डिब्बा लूँगा, दूसरे डिब्बेके खसमें तम्बाकूकी गन्ध आती है, इसे किसी तम्बाकू पीनेवाले व्यक्तिने हाथोंसे पोंछा है। व्यापारीने बताया कि मैं उस बूढ़ेकी सत्य बात सुनकर आश्चर्यचकित हो गया; क्योंकि उस डिब्बेके खसको तम्बाकू पीनेवाले व्यक्तिने ही पोंछा था। उस बूढ़े व्यापारीकी ऐसी सूक्ष्म घ्राणेन्द्रिय थी कि खस-जैसी तेज प्रभावशाली गन्धमें दबी हुई अत्यन्त सूक्ष्म तम्बाकूकी गन्धको भी उसने स्पष्ट ग्रहण कर लिया।

इसी प्रकार एक बार अखबारमें समाचार पढ़ा कि एक सज्जन अपनी नाकका बीमा कराकर विदेशसे भारतमें आये हैं। उनके नाककी गन्ध-ग्रहणकी शक्ति इतनी सूक्ष्म थी कि जिस मसालेको अनेक यन्त्रोंसे जाँच करनेके बाद पता लगता था कि ठीक तैयार हो गया है, उसे वे अपनी नाकसे सूँघकर ही बता देते थे। इसीलिये वे

अपनी नाकका बीमा कराकर आये थे। इस सूक्ष्मसे भी अतिसूक्ष्म गन्धको ग्रहण करनेवाली भी नाक होती है।

हमारे एक व्यापारी मित्रने बताया कि उनकी दूकानपर एक व्यक्ति काम करता है। घी गरम किया जा रहा हो तो वह उसकी गन्धको सूँघकर यह बता देता था कि यह ब्राह्मणके घरका घी है, यह किसी अपवित्रके घरका घी है।

जासूसी कुत्तोंकी नाक तो प्रसिद्ध ही है। जिस कोठरीमें घुसकर चोरने चोरी की है, वहाँ उस चोरकी गन्धको चार-छः घंटोंके बाद भी वे ग्रहण कर लेते हैं, इतना ही नहीं, किंतु तेज हवा चलनेवाली जिन गलियोंसे चोर निकलकर गया है, उन गलियोंमें चार-छः घंटोंके बाद भी उस जातिकी गन्धको सूँघते हुए चोरतक पहुँच जाते हैं। चीटियोंकी नाक तो इससे भी अधिक सूक्ष्म गन्धको ग्रहण करनेवाली होती है, यह तो अति प्रसिद्ध है ही।

सूक्ष्म तथा अतिसूक्ष्म गन्धको भी सूक्ष्म, अतिसूक्ष्म ग्रहणशक्तिवाली नाकसे साक्षात् ग्रहण किया जा सकता है। भौतिक विज्ञानवालोंने रूपको जैसे लाखों गुना बड़ा करके दिखानेवाले यन्त्र (सूक्ष्मदर्शी) तैयार किये हैं, वैसे ही गन्धको लाखों गुना करके सूँघनेवाले यन्त्र यदि बनानेमें सफल हो जायँ तो जो लोग वर्तमानमें चमड़ा उधेड़ने, चर्बी निकालने आदिका काम करते हैं, उनके शरीरोंमें ही नहीं, अपितु उन कामोंको न करनेवाले उनके पुत्र तथा पौत्रोंके शरीरोंमें भी उनकी गन्धका ग्रहण उन यन्त्रोंसे स्पष्ट किया जा सकेगा; क्योंकि चमड़ा, चर्बी आदिकी दुर्गन्धका प्रथम त्वचा तथा नाकपर प्रभाव पड़ता है फिर शनैः-शनैः वीर्यतक प्रभाव पड़ जाता है, इसलिये उस वीर्यसे उत्पन्न पुत्र और पौत्रोंके शरीरोंमें उसका प्रभाव रहता है।

शंका—जो पदार्थ खाये जाते हैं, उन्हींका रस और रक्त

बनकर अन्तमें वीर्य बनता है, अतः उन पदार्थोंकी गन्ध आदिका प्रभाव वीर्यमें हो यह तो सम्भव है, चमड़ेकी गन्ध तो नाकतक ही प्रविष्ट होती है एवं चर्बीकी चिकनाहट केवल त्वचामें ही प्रविष्ट होती है, अतः उनकी गन्ध आदिका वीर्यमें प्रभाव होना सम्भव नहीं।

उत्तर—गन्ध गुण है, अतः अपने आश्रय-द्रव्यको छोड़कर केवल गन्ध कहीं जा नहीं सकती। इसलिये गन्धको नाकसे ग्रहण करते समय द्रव्यका भी ग्रहण (भक्षण) हम नाकके द्वारा करते ही हैं। यह केवल दर्शनशास्त्रोंकी कल्पनामात्र नहीं, आप प्रयोग करके देख सकते हैं—एक छोटे मुखकी छोटी शीशीमें कपूर भर दीजिये, उसे बारम्बार सूँघिये। सूँघनेके बाद तुरन्त बन्द करते रहिये, ऐसा करनेपर भी आप देखेंगे कि कपूर धीरे-धीरे कम होता हुआ बिलकुल समाप्त हो जायगा। इस प्रयोगसे अति स्पष्ट अनुभव हो जायगा कि आपने नाकद्वारा केवल कपूरकी गन्ध ही ग्रहण नहीं की, अपितु कपूररूप द्रव्यको भी नाकसे खा गये। ऐसी दशामें खाये हुए कपूरका रक्त आदि बनकर वीर्यमें प्रभाव अवश्य पड़ेगा। शायद कभी आपको ऐसा अनुभव हुआ हो कि सड़े हुए मांसकी अतिशय तीव्र गन्ध नाकमें प्रविष्ट होनेपर प्रथम तो 'आक् थू' शब्द करते हुए आपने थूका हो बादमें जी मिचलाया हो, किसी-किसीको वमन (उल्टी) भी हो जाती है। यदि दुर्गन्धके साथ दूषित द्रव्य गले तथा पेटतक न गया हो तो उल्टी आदि कार्य हो ही नहीं सकते थे।

चोट लगनेपर हल्दी, चूना या कोई मलहम त्वचापर लगाते हैं, जिससे जमा हुआ खून फट जानेसे दर्द और सूजन मिट जाती है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जिस पदार्थको त्वचापर लगाया जाता है; वह खून, मांस आदिको भी प्रभावित करता है। ऐसी दशामें प्रभावित

रक्त और मांससे बननेवाला वीर्य भी उस पदार्थके गन्धादि गुणोंसे प्रभावित अवश्य होगा।

इतना ही नहीं वैज्ञानिक दृष्टिसे भी वीर्यगत गुण और दोषोंका अनेक पीढ़ियोंतक प्रभाव रहता है, यह सिद्ध हो चुका है। इसे सर्व जन-साधारण उदाहरणसे ऐसे समझा जा सकता है कि 'नाना-नानी या दादा-दादीको यह रोग था'? ऐसा आजके डॉक्टर भी पूछते हैं।

(ख) रसका वीर्यमें प्रभाव—चबाकर, चूसकर तथा पीकर जिन पदार्थोंको रसनेन्द्रियसे हम ग्रहण करते हैं, उसका प्रभाव रक्त और मांसमें और अन्तमें वीर्यपर पड़ता है, इसमें तो किसीको विवाद ही नहीं है। यही कारण है कि वीर्यकी निर्बलताके कारण जिनके सन्तान नहीं होती उन्हें डॉक्टर तथा वैद्य—दोनों ही वीर्यको बलवान् बनानेवाले रसादिक पदार्थ खिलाते हैं। इस विषयपर पटनामें एक बार मैंने व्याख्यान दिया। उसे सुनकर एक वकीलने कहा कि अदालतमें एक बार एक मुकदमा आया। स्त्री कहती थी कि यह मेरे पतिका पुत्र है। वे गर्भाधान करनेके एक महीने बाद मर गये। अतः सम्पत्तिका अधिकारी उनका पुत्र ही है। उसके देवर कहते थे कि इसे हमारे भाईसे गर्भ नहीं रहा, यह झूठ बोलती है, अतः सम्पत्तिके अधिकारी हम हैं। इसपर स्त्रीने कहा—बहुत दिन सन्तान न होनेपर डॉक्टरोंने अमुक जातिकी मछली खानेको मेरे पतिसे कहा था। मैंने उन्हें बहुत दिनोंतक उस मछलीका मांस खिलाया था। परीक्षण कराके देखा जाय, इस शिशुमें उस मछलीके परमाणु अवश्य निकलेंगे। न्यायाधीशने परीक्षण कराया, शिशुमें उस मछलीके परमाणु मिले, अतः शिशुको उन्हींका पुत्र है—ऐसा कहकर उसीको सम्पत्तिका अधिकारी घोषित किया।

(ग) रूपका वीर्यमें प्रभाव—मनुष्य नेत्रद्वारा जिस प्रकारका सात्त्विक, राजस या तामस भावका वर्धक रूप देखता है, उसका प्रथम प्रभाव नेत्रोंमें, बादमें मनपर पड़कर रक्तादिद्वारा वीर्यतक पहुँच जाता है; जैसे—अंगप्रदर्शक अनंग (काम)-वर्धक रंग-बिरंगी चमकीली भड़कीली पोशाकयुक्त स्त्री-पुरुषोंके पोस्टरों (चित्रों)-को देखकर मनमें राजस कामभावका उदय होकर रक्त-मन्थनपूर्वक वीर्य उत्तेजित हो जाता है। ऐसा प्रभाव युवकों तथा युवतियोंमें तो अति प्रकटरूपमें पड़ता ही है, बालकोंमें भी अप्रकटरूपसे पड़ता है। इसमें प्रबल प्रमाण यह है कि उक्त प्रकारके रूपोंको जो छोटे बालक देखते रहते हैं, यद्यपि उस समय तो कुछ भी प्रकट प्रभाव बालकोंपर देखनेमें नहीं आता, तथापि उन बालकोंमें वीर्यका प्रादुर्भाव समयसे कुछ पूर्व ही हो जाता है, जिससे वे बालक चित्रोंमें देखी गयी क्रियाओंमें प्रवृत्त हो जाते हैं। इसी प्रकार तामस हिंसा आदिके चित्रों और सात्त्विक दया, परोपकारिता आदिसे युक्त चित्रोंको देखकर भी उनका प्रभाव प्रथम मनमें तथा अन्तमें वीर्यतक पड़ता है। अतः अपनेको तथा बालकोंको सात्त्विक बनानेके लिये सात्त्विक रूपोंको ही देखना चाहिये।

(घ) स्पर्शका वीर्यपर प्रभाव—युवकों तथा युवतियोंके द्वारा परस्पर एक-दूसरेका स्पर्श करनेपर होनेवाले दुष्परिणामको स्पष्ट करनेकी आवश्यकता नहीं। स्पर्शका प्रभाव बालकोंपर भी अप्रकटरूपमें पड़ता है। अतः अपनेको तथा अपने बालकोंको दूषित स्पर्शोंसे बचाकर माता-पिता तथा गुरुजनोंके चरणस्पर्शरूप सात्त्विक स्पर्शमें ही लगना और लगाना चाहिये।

(ङ) शब्दका वीर्यमें प्रभाव—आजके वैज्ञानिक युगमें ट्रांजिस्टर, रेडियो तथा लाउडस्पीकरोंके द्वारा कामोत्तेजक गन्दे

अश्लील गीतोंके शब्द दूर-दूरतक एकान्त स्थानोंतक अति स्पष्ट ध्वनिमें प्रसारित होते रहते हैं। श्रवणकी इच्छा न होनेपर भी वे शब्द बलात् कानोंमें प्रविष्ट होकर एकान्तनिवासी सात्त्विक साधकोंके मनमें प्रथमतः कामुकताका संचार करके बादमें वीर्यको भी उत्तेजित कर देते हैं। ऐसी दशामें शहरमें रहनेवाले अन्य सहायक सामग्रीसे सम्पन्न कामभावापन्नजनोंके मनोंको मथन करके वीर्यको उत्तेजित कर देते हों, इसमें तो सन्देह ही कुछ नहीं। इतना ही नहीं, अबोध बालकोंपर भी इन शब्दोंका प्रभाव पड़ता है। पूर्वकी तरह इसमें भी यही प्रबल प्रमाण है कि इन कामुक गीतोंको सुन-सुनकर कुछ भी भाव समझे बिना गाते रहनेवाले बालकोंमें वीर्यका प्रादुर्भाव समयसे कुछ पूर्व ही हो जाता है। जिससे वे उन शब्दोंके अश्लील भावोंको भी समयसे पूर्व ही समझने लग जाते हैं। इतना ही नहीं अपितु पूर्वकथित दुष्टोंके द्वारा शिक्षित, दूषित स्पर्शों, सिनेमा, टेलीविजन और पोस्टरोंमें दर्शित कामुक रूपों एवं कामवर्धक मद्यादि रसोंके पान और उनकी गन्धके घ्राणसे ग्रहण आदि सहायक सामग्रीकी सहायतासे पूर्ण कामकला-प्रवीण हो जाते हैं। अतः इन सभीसे अपनेको तथा बालकोंको बचाकर सात्त्विक गीतोंका ही श्रवण करना चाहिये।

चलना आदि क्रियाओंका वीर्यमें प्रभाव

पंच-ज्ञानेन्द्रियोंके विषयोंका ही नहीं, अपितु पंच-कर्मेन्द्रियोंकी गमन आदि क्रियाओंका प्रभाव भी वीर्यपर पड़ता है तथा वीर्यसे उत्पन्न सन्तानपर भी पड़ता है। यह बात सुगमतासे अति स्पष्ट उसी क्षण समझमें आ जायगी, जिस क्षण उन प्राणियोंकी क्रियाओंपर ध्यान देंगे, जिन प्राणियोंको अपने माता-पिताद्वारा या अन्य किसीके द्वारा उन क्रियाओंकी शिक्षाके लिये एक क्षण भी प्राप्त नहीं हुआ। एक

बार मैंने देखा कि मकड़ीके जालेमें हवासे उड़कर कच्चे पपीतेके सफेद बीज-जैसा पदार्थ आकर गिरा, मकड़ी दौड़ी, मैंने मकड़ीसे बचाकर एक लकड़ीसे उसे जमीनपर रख दिया। थोड़ी देर मैं उसे देखता रहा, मेरे देखते-देखते ही उसे फोड़कर अनेक पैरवाला एक अंगुल लम्बा सुई-जैसा पतला कनखजूरा नामका प्राणी निकलकर चल दिया। अब जरा यहाँ विचार कीजिये कि जिसने अपने माँ-बापके दर्शन ही नहीं किये, ऐसे इस प्राणीको अण्डा फोड़ने, अनेक पैरोंसे चलने, अपना आहार पकड़ने एवं पहचानने, मल-मूत्रका त्याग करने, सन्तान-उत्पादन करने आदि क्रियाओंकी शिक्षा किसने दी है? आजके जीव-विज्ञानके विशेषज्ञ भी ऐसे स्थलोंको देखकर यही उत्तर देते हैं, उस प्रकारकी उन क्रियाओंको करनेवाली वंश-परम्परामें उत्पन्न माता-पिताके बीजका ही यह प्रभाव है, अन्य कुछ नहीं।

शीत-उष्ण-द्वन्द्वोंका वीर्यमें प्रभाव

इसमें किसीका विवाद नहीं है कि वृक्षों तथा मैदानों एवं जंगलोंमें परम्परासे रहनेवाले—मकान न बनानेवाले कंजर आदि जातियोंकी स्त्रियाँ जैसी भयंकर सर्दी, गर्मी तथा वर्षामें बच्चेको जन्म देती हैं तथा गर्भावस्थामें अन्तिम दिनोंतक दौड़ने, वजन उठाने तथा घन चलाने-जैसा कठिन कार्य करती हैं, वैसा कार्य यदि राजा-महाराजाओंकी रानियाँ आधा-पौन घंटे भी करें तो उनके गर्भ गिर जायँगे तथा सर्दी-गर्मी और वर्षासे जच्चा (जननी) और बच्चा प्राणघातक रोगोंसे ग्रस्त हो जायँगे। इस अन्तरका एकमात्र कारण परम्परासे माता-पिताद्वारा सहन किये गये शीत-उष्ण-द्वन्द्वोंका तथा परिश्रमका प्रभाव उनके वीर्यपर पड़ना तथा उससे प्रभावित वीर्यद्वारा बालकका उत्पन्न होना ही है, अन्य कुछ भी नहीं।

भावों तथा विचारोंका वीर्यमें प्रभाव

जब मनुष्य मैथुनसम्बन्धी भावनाओंसे भावित तथा विचारोंमें निमग्न होता है तब वीर्य उत्तेजित हो जाता है, इसमें तो किसीका विवाद है ही नहीं। इसी प्रकार क्रोध आदि भावों एवं विचारोंका भी प्रभाव वीर्यतक पड़ता है; क्योंकि जब मनुष्य क्रोध करता है तब मुख और आँखें लाल हो जाती हैं। क्रोधके कारण पहले रक्तमें परिवर्तन होता है, बादमें उसका प्रभाव नेत्रों तथा मुखपर झलकता है। इसी क्रमसे भय-अभय, हिंसा-अहिंसा, हर्ष-अमर्ष तथा लोभ-अलोभ आदि भावनाओं और विचारोंद्वारा भी मुख, नेत्र आदिकी आकृति एवं आभामें परिवर्तन होता है। पहले कहा जा चुका है कि जिसका प्रभाव रक्तपर पड़ता है, उसका प्रभाव वीर्यमें पड़ता है; क्योंकि रक्तसे ही मांस, मेद आदि धातुपूर्वक वीर्य बनता है।

निष्कर्ष—उक्त विस्तृत विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य नेत्र आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियोंसे सात्त्विक, राजस, तामस—जैसे विषयोंका सेवन करता है तथा वाणी आदि पाँच कर्मेन्द्रियोंसे सात्त्विक, राजस और तामस—जैसी क्रियाओंको करता है एवं सात्त्विक, राजस तथा तामस—जैसे भावों और विचारोंसे भावित रहता है, उसका प्रभाव वीर्यमें भी पड़ता है। ऐसी दशामें उस वीर्यसे उत्पन्न सन्तानमें भी उनका प्रभाव होना अनिवार्य है।

जन्म तथा कर्ममूलक जाति

उक्त निष्कर्षपर गम्भीरतासे विचार करनेपर यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जातिमें जन्म तथा कर्म दोनों कारण होते हैं। असमान आकृतियोंको उत्पन्न करनेवाले प्रभावसे युक्त वीर्यद्वारा उत्पन्न पशु, पक्षी आदिकी पशुत्व आदि जाति जैसे जन्ममूलक ही है कर्ममूलक नहीं, वैसे ही समान आकृतियोंको उत्पन्न करनेवाला होनेपर भी

सात्त्विक गुणोंके प्रभावसे युक्त ब्राह्मणके वीर्यसे उत्पन्न सन्तानकी ब्राह्मणत्व जाति भी जन्ममूलक ही है, कर्ममूलक नहीं। इसी वैज्ञानिक आधारपर शास्त्रकारों ने जन्ममूलक जातिवादका समर्थन किया है। समान आकृतिको उत्पन्न करनेपर भी ये ब्राह्मणत्व, शूद्रत्व आदि जातियाँ मनुष्य जातिकी वैसे ही अवान्तर जन्ममूलक जातियाँ हैं, जैसे घोड़ों, बन्दरों और कुत्तोंमें अवान्तर जातियाँ होती हैं।

ऊपर जन्ममूलक जातिका वैज्ञानिक आधार बताया गया है। इतना होनेपर भी जो ब्राह्मण किसी कारण-विशेषसे अपने ब्राह्मणोचित कर्मोंका परित्याग करके सात-सात पीढ़ियोंतक जिन क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र जातिके कर्मोंको करते रहते हैं, उनकी ब्राह्मण जाति समाप्त हो जाती है। वे उन्हीं जातियोंके हो जाते हैं जिन जातियोंके कर्म करते रहते हैं, ऐसा याज्ञवल्क्यस्मृति (१।९६)-में स्पष्ट कहा है—

जात्युत्कर्षो युगे ज्ञेयः सप्तमे पञ्चमेऽपि वा।
व्यत्यये कर्मणां साम्यं पूर्ववच्चाधरोत्तरम्॥

इस श्लोकमें दो प्रकारसे जाति-परिवर्तन बताया गया है, इसे टीकाकारने इस प्रकार भावार्थमें प्रकट किया है—

(१) शूद्र जातिकी कन्यासे विवाह करके कोई ब्राह्मण उसमें गर्भाधान करे, उससे जो कन्या उत्पन्न हो उसका किसी ब्राह्मणके साथ ही विवाह हो, उससे जो कन्या पैदा हो उसका फिर किसी ब्राह्मणके साथ ही विवाह हो, इस प्रकार सातवीं पीढ़ीमें उत्पन्न सन्तान ब्राह्मण-वीर्यकी उत्कर्षताके कारण ब्राह्मण ही हो जाती है। इसकी चर्चा मनुस्मृति (१०।६४-६५)-में भी की गयी है। मनुस्मृतिमें तो इस प्रकारसे शूद्रका ब्राह्मण होना और ब्राह्मणका शूद्र होना दोनों बातें स्पष्ट स्वीकार की गयी हैं।

(२) **'व्यत्यये कर्मणां साम्यं'** इसका भावार्थ इस प्रकार

स्पष्ट किया गया है कि यदि कोई ब्राह्मण आपत्तिकालमें अपनी जीविकासे निर्वाह न हो सकनेके कारण जिस निम्न जातिके कर्मको पाँच-सात पीढ़ीतक करता रहता है, उसी जातिका ही हो जाता है।

इससे यह बात अति स्पष्ट हो जाती है कि शास्त्रकारोंको जन्ममूलक जातिवादकी तरह कर्ममूलक जातिवाद भी मान्य है। अतः जो लोग यह मानते हैं कि जन्ममूलक ही जाति होती है कर्ममूलक नहीं होती अथवा जो ऐसा मानते हैं कि कर्ममूलक ही जाति होती है, जन्ममूलक नहीं होती, उन दोनोंका ही मत ठीक नहीं है। उक्त स्मृतिवचनसे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि एक घंटा, एक दिन, एक महीना तथा एक वर्ष ही नहीं, एक जीवनके कर्मसे भी जाति नहीं बदलती; अपितु पाँच-सात पीढ़ियोंतक कर्म करते रहनेपर जब वीर्य पूरे तौरसे प्रभावित हो जाता है, तब उस प्रभावित वीर्यसे उत्पन्न सन्तानमें ही जाति-परिवर्तन होता है।

शम, दम, भक्ति आदि सात्त्विक गुणोंसे युक्त सभी वर्णके लोगोंका मनसे तथा वाणीसे ब्राह्मणकी तरह आदर अवश्य करना चाहिये। ऐसा शास्त्रमें स्पष्ट कहा भी है—

शुचिः सद्भक्तिदीप्ताग्निदग्धदुर्जातिकल्मषः।
श्वपाकोऽपि बुधैः श्लाघ्यो न वेदज्ञोऽपि ब्राह्मणः॥

जो पवित्र है, सद्भक्तिरूप प्रचण्ड अग्निसे जिसके पाप नष्ट हो गये हैं, ऐसा चाण्डाल भी प्रशंसनीय—आदरणीय है, (भक्तिहीन) वेदज्ञ ब्राह्मण नहीं।

जो लोग ब्राह्मणके वीर्यसे उत्पन्न हैं, किंतु कर्म शूद्रोंके करते हैं, उन्हें जन्ममूलक जातिवादके आधारपर जातिसे ब्राह्मण ही मानना चाहिये, किंतु न तो उनसे ब्राह्मणोचित कार्य कराना चाहिये एवं न उन्हें ब्राह्मणोचित आदर-सत्कार ही देना चाहिये। इतना ही नहीं,

किंतु धार्मिक राजाको उनसे कर लेने तथा शूद्रोंकी तरह बेगार करानेकी भी आज्ञा महाभारतके निम्न श्लोकमें दी गयी है—

अश्रोत्रियाः सर्व एव सर्वे चानाहिताग्नयः।
तान् सर्वान् धार्मिको राजा बलिं विष्टिं च कारयेत्॥

(शान्तिपर्व ७६।५)

जो श्रोत्रिय नहीं हैं एवं जिन्होंने अग्निका आधान नहीं किया, उन सब ब्राह्मणोंसे धार्मिक राजा कर ले तथा बेगार कराये। इस विषयमें महाभारत, शान्तिपर्व ७६वें अध्यायमें बहुत कुछ कहा है, उसे पढ़ना चाहिये।

तपः श्रुतञ्च योनिश्च एतद् ब्राह्मणकारकम्।
तपःश्रुताभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मण एव सः॥
जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्काराद् द्विज उच्यते।
विद्यया याति विप्रत्वं त्रिभिः श्रोत्रिय उच्यते॥
ब्राह्मणा ब्रह्मयोनिस्था ये स्वे कर्मण्यवस्थिताः।
ते सम्यगुपजीवेयुः षट्कर्माणि यथाक्रमम्॥

तप, वेदाध्ययन और योनि—ये तीन ब्राह्मणत्वके कारण हैं; अतः जो तप और वेदाध्ययनसे रहित हैं, वे केवल जन्मसे ही ब्राह्मण हैं। जन्मसे ब्राह्मण जानना चाहिये, संस्कारोंसे द्विज कहलाता है, विद्यासे विप्र और तीनोंसे श्रोत्रिय कहा जाता है। जो जन्मसे ब्राह्मण हैं तथा अपने ब्राह्मणोचित शास्त्रीय कर्ममें स्थित हैं, उन्हींको दान लेना आदि ब्राह्मणोंके छः कर्मोंसे जीनेका अधिकार है।

शास्त्रोंके इन वचनोंपर सम्यक् विचार करनेपर यह भ्रान्ति दूर हो जाती है कि ब्राह्मणोंके साथ पक्षपात किया गया है। शास्त्रोंके जन्ममूलक और कर्ममूलक जाति-सम्बन्धी इतिहासों एवं विविध वचनोंकी संगति तथा लौकिक लोगोंकी शंकाओंका समुचित समाधान

प्राप्त करनेके लिये पूज्यपाद श्रीकरपात्रीजी महाराजद्वारा लिखित 'चातुर्वर्ण्य-संस्कृतिविमर्श' नामका ग्रन्थ मनोयोगपूर्वक पढ़ना चाहिये।

शरीर-विज्ञानमूलक जातिवाद

मनुष्य-शरीरमें सिर ज्ञान-केन्द्र होनेसे सर्वोत्तम अंग है; क्योंकि किसी भी कार्यका सम्पादन या संस्थाका संचालन ज्ञानपूर्वक किये जानेपर ही होता है। दोनों हाथोंद्वारा शरीरके किसी भागमें होनेवाले प्रहारका परिहार होता है। उदरमें प्रथम खाद्य-पदार्थोंका संग्रह करके पुनः उसका यथायोग्य विभाजन किया जाता है। सिर, हाथ और उदर—इन तीनों मुख्य अंगोंका भारवहन पैर करते हैं। गुदा तथा मूत्रेन्द्रिय शरीरके अनुपयोगी मल-मूत्रको बाहर फेंकनेका कार्य करते हैं। इस प्रकार शरीरके मुख्य पाँच विभाग हैं। ये सभी विभाग यदि अपना-अपना कार्य समुचित रीतिसे करते हैं तो शरीर स्वस्थ रहता है एवं प्राणीको सुख मिलता है। यद्यपि पाँचों अंगोंमेंसे किसी एकके बिना शरीर स्वस्थ नहीं रह सकता, इसलिये सभीका महत्त्व बराबर ही है; तथापि हाथ, पैर आदि किसी अंगके कट जानेपर मनुष्य कुछ क्षण जिन्दा रह सकता है, परंतु सिर कटनेपर एक क्षण भी जिन्दा नहीं रह सकता। इस दृष्टिसे सिरको उत्तम माना जाता है। इस प्रकार अपने ही अंगोंमें उत्तम, अधम विभाग मान्य होनेपर भी तथा गुदा एवं मूत्रेन्द्रियका स्पर्श करके हाथ धोना आदि छुआछूत व्यवहारका भेद करनेपर भी सभी अंगोंके साथ सहानुभूति एक-सी ही रहती है। सिर, उदर या पैरमें कहीं भी काँटा लगे हाथोंको तुरंत निकालना पड़ता है, सिरको निकालनेका विचार करना पड़ता है तथा समान सहानुभूतिसे चिकित्सा करनी पड़ती है।

इस शरीर-विज्ञानके आधारपर समाजरूप शरीरको पाँच विभागोंमें विभाजित किया गया है। ज्ञानप्रदायक—शिक्षक ब्राह्मण। सर्वरक्षक—

क्षत्रिय, द्रव्य-वितरक (व्यापारी)—वैश्य। सर्वसेवक—शूद्र। परिमार्जक—अन्त्यज। ये पाँचों विभाग सभी देशोंमें विद्यमान हैं और रहेंगे; क्योंकि इस विभाजनके बिना समाजरूप शरीर चल ही नहीं सकता। अन्तर केवल इतना है कि अन्य देशोंमें ये विभाग केवल कर्मके आधारपर आधारित हैं, हमारे यहाँ पूर्वोक्त रीतिसे सूक्ष्मविज्ञानमूलक जन्म तथा कर्म दोनोंके आधारपर निर्धारित हैं।

मनुष्य-शरीरकी तरह समाजरूप शरीर भी तभी सुखमय बनता है, जब उक्त पाँचों विभाग अपना-अपना कार्य समुचित रीतिसे पूरा करते हैं। यद्यपि पाँचोंमेंसे किसी एकके बिना समाजका निर्वाह हो नहीं सकता, तथापि ज्ञानपूर्वक किये गये कर्म ही हितकारी होते हैं, इसलिये ज्ञानप्रदायक शिक्षक ब्राह्मणको अधिक महत्त्व देना सर्वथा उचित ही है। यही कारण है कि सभी देशोंमें ज्ञानप्रदायक शिक्षकोंका आदर अधिक किया गया है। अन्त्यज भी समाजरूप शरीरके वैसे ही अंग हैं, जैसे ब्राह्मण आदि। तो भी पूर्वोक्त रीतिसे स्वास्थ्य-विज्ञानमूलक व्यवहार समाजके उत्थानका ही कारण है, पतनका कारण नहीं। पतनका कारण तो स्वार्थ, राग, द्वेष तथा घृणामूलक व्यवहार ही होता है।

परिवार-विज्ञानमूलक जातिवाद

एक परिवारमें पन्द्रह-बीस व्यक्ति हैं। (१) कपड़ा धोना, सफाई करना, भोजन बनाना, बाजारसे सामान लाना, जूते बनाना आदि कार्य सभी अपने लिये अलग-अलग करें, यह अच्छा होगा? अथवा (२) एक व्यक्ति सभीका भोजन बना दे, एक सफाई कर दे—इस प्रकार एक-एक कार्य करना अच्छा होगा? मैं समझता हूँ कि सभी बुद्धिमान् द्वितीय पक्षको ही अच्छा कहेंगे। कारण यह है कि घरके अबोध बालक या जर्जर जरावस्था-प्राप्त असमर्थ वृद्धोंकी

तो बात ही क्या, समर्थ युवक भी अपने सारे काम अपने हाथों नहीं कर सकते; क्योंकि जीवननिर्वाहके लिये जिन-जिन वस्तुओंकी आवश्यकता होती है, उन सबके उपादानरूप कच्चे मालको खेतोंमें पैदा करना, खानोंसे खोद लाना, उनसे भोजन, वस्त्र, औजार और मशीन आदिका बनाना, इन सबके लिये सभी विद्याओंका जानना, किसी भी एक व्यक्तिद्वारा सम्भव नहीं। अतः एक-एक व्यक्तिद्वारा योग्यतानुसार एक-एक कार्य किया जाना ही उचित तथा सम्भव होगा।

वैदिक जातिवादसे समाज तथा व्यक्तिका उत्थान

समाजके सभी व्यक्ति अपने-अपने कार्योंका पूर्ण कुशलता-पूर्वक सम्पादन करनेवाले हों तभी समाजका सम्यक् उत्थान होता है, इसमें किसीको विवाद नहीं हो सकता। हानिरहित, लाभदायक, स्व-परमें संघर्षका अनुत्पादक एवं सहानुभूतिमूलक होना ही कार्यका पूर्ण कुशलतासे सम्पादन करना कहा जायगा। इन गुणोंसे युक्त कार्य-सम्पादनमें शास्त्रीय जातिवादकी अर्थात् जन्म तथा कर्म उभयमूलक जातिवादकी परम आवश्यकता है। इसका मुख्य कारण यह है कि जिस व्यक्तिमें जिस विषयकी योग्यता अप्रकटरूपसे रहती हो उस योग्यताको प्रकट करनेवाले साधन किये जायँ, उस विषयके बारेमें ही सुनने और देखनेका अवसर अबोध बाल्यावस्थासे ही प्राप्त हो, उसी विषयकी ही शिक्षा दी जाय एवं उसी विषयका प्रयोग कराया जाय। इस कार्यके द्वारा जनता-जनार्दनकी सेवारूप पूजाद्वारा साक्षात् जनार्दनकी प्राप्ति करके अपना कल्याण करना है, ऐसा उपदेश दिया जाय। तभी उक्त गुणोंसे युक्त कार्य-कुशलता आयेगी और उसके कार्यसे समाज तथा व्यक्तिका समुचित उत्थान होगा, अन्यथा नहीं। ये सभी बातें जन्म-कर्म उभयमूलक जातिवादसे ही सम्भव होंगी, अन्य प्रकारसे नहीं।

उदाहरणके लिये देखिये—जिन ब्राह्मणोंके यहाँ वंश-परम्परासे हवन, नवग्रह-पूजन, पठन-पाठन आदि कार्य होते आ रहे हैं, पूर्वकथित रीतिसे उन कार्योंका प्रभाव वीर्यतक पहुँच चुका होनेके कारण उस वीर्यसे उत्पन्न सन्तानमें उन कार्योंकी अप्रकटरूपमें योग्यता तो विद्यमान है ही। उसको प्रकट करनेके लिये ही ब्राह्मणोचित वैदिक विधिसे जातकर्म आदि संस्कार किये जाते हैं। जन्म लेनेके बाद पाँच वर्षकी अवस्थातक उन कार्योंको बालक नेत्रोंसे देखता है; स्रुवा, नवग्रह, पवित्रिका, मार्जनी आदि शब्द किन पदार्थोंके सूचक होते हैं—यह वह जान जाता है। वेद-मन्त्रोंका उच्चारण कैसे किया जाता है, प्रतिदिन सुनते रहनेके कारण वह सामान्यरूपसे जान लेता है। ऐसे बालकको जब उपनयन-संस्कारद्वारा संस्कृत करके गुरुकुलमें हवन, नवग्रह-पूजन तथा वेदोच्चारणकी शिक्षा दी जाती है तो वह उसे सहज ही ग्रहण कर लेता है। यही शिक्षा यदि ब्राह्मणबालकके साथ-साथ शूद्रबालकको दी जाती है तो वह उसे सहजमें ग्रहण नहीं कर पाता। इसका कारण अति स्पष्ट है कि न तो शूद्रबालकके उत्पादक वीर्यमें ही उन कार्योंका प्रभाव है और न जन्म लेनेके बाद उसे उन कार्योंको देखने और सुननेका ही अवसर मिला है।

गुरुकुलमें ब्राह्मणबालकोंको हवन, नवग्रह-पूजन आदि कार्योंकी शिक्षा देकर गुरुजन उन बालकोंको यज्ञादि कार्योंमें साथ ले जाते हैं, अपनी देख-रेखमें उनसे नवग्रह-रचना आदि कार्योंको प्रयोगरूपमें करवाते हैं। इस प्रकार पूर्ण कार्यकुशल हो जानेपर शिक्षा देते हैं—

'यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥'

(गीता १८।४६-४७)

जिस परमात्मासे सब मतोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह सारा जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरका अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजनकर मनुष्य सिद्धिको प्राप्त होता है। अच्छी तरह आचरणोंमें लाये हुए दूसरेके धर्मसे गुणरहित भी अपना धर्म श्रेष्ठ है; क्योंकि स्वभावसे नियत किये हुए स्वधर्मरूप कर्मको करता हुआ मनुष्य पापको नहीं प्राप्त होता।

इस प्रकारकी शिक्षा-प्राप्त व्यक्तिका कार्य अवश्य ही दूसरोंके प्रति पूर्ण सहानुभूतिमूलक होगा, अन्यथा भगवान्‌की पूजा ही न हो सकेगी। अपने गुणरहित कर्मको ही श्रेष्ठ माननेके कारण दूसरोंकी अधिक लाभदायक जीविकाको न छीननेके कारण दूसरोंके साथ अन्याय या संघर्ष न करेगा। योग्यता तथा स्वभावके अनुकूल होनेके कारण अपना कर्म करते हुए अपने शरीर या मनके साथ भी संघर्ष नहीं करना पड़ेगा। कार्य करनेकी पूर्ण कुशलता प्राप्त होनेके कारण उसके सभी कार्य समाजके लिये हानिरहित तथा लाभदायक होंगे। इसी प्रकार क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा अन्त्यज जब सभी अपने-अपने कार्योंको पूर्ण कुशलतासे करेंगे तब समाजका उत्थान अवश्य ही होगा और ईश्वर-पूजा मानकर करनेके कारण व्यक्तिका उत्थान भी अवश्य ही होगा।

वैदिक जातिवाद पतनका कारण नहीं

उक्त विवेचनसे यह अति स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक जन्मकर्म उभयमूलक जातिवाद अन्धविश्वासपर नहीं, अपितु अतिसूक्ष्म वैज्ञानिक आधारोंपर आधारित है तथा शरीर-विज्ञान और परिवार-

विज्ञानसे समर्थित है। समाज तथा व्यक्तिका घातक नहीं, किंतु उत्थापक है। स्वार्थ, राग-द्वेष या घृणामूलक नहीं, अपितु पूर्ण सहानुभूतिमूलक है। स्व-पर संघर्षका उत्पादक नहीं, अपितु स्व-पर संघर्षका विनाशक है।

ऐसे अति उपयोगी वैदिक जातिवादके पतनका मुख्य कारण है, उच्च जातिवालोंद्वारा जातिवादका दुरुपयोग करके निम्न जातिवालोंका उत्पीड़न करना। इससे दयालु महानुभावोंके हृदयोंमें महान् पीड़ा उत्पन्न होना स्वाभाविक है, किंतु इन दयालु महानुभावोंने वैदिक जातिवादके विज्ञानको जाननेका प्रयास नहीं किया। उत्पीड़नका मुख्य कारण दुरुपयोगरूप दोष है, इस सत्य तथ्यको न जानकर जातिवादको ही उत्पीड़नका कारण माना। इसलिये उन्होंने निम्न जातिके लोगोंको भड़काया, उनमें कलहका बीज बोया तथा जातिवाद मिटानेके लिये कानून बनाया। यह वैसी ही अदूरदर्शितामूलक दयालुता है, जैसे कोई रोगको दुःखका हेतु न मानकर रोगीको ही दुःखका हेतु माने और रोगीको ही विनष्ट करनेके लिये पूरा प्रयत्न करे।

कटु सत्य यह है कि जो लोग जातिवाद, सम्प्रदायवाद आदिको संघर्षका हेतु मानकर मिटाना चाहते हैं; उनको सबसे पहले पार्टीवादोंको ही मिटाना चाहिये; क्योंकि जातिवाद आदिसे तो वर्तमानमें कहीं-कहीं कभी-कभी कुछ थोड़ा-सा नुकसान होता है, किंतु पार्टीबाजीसे सर्वत्र, सर्वदा महती जन-धनकी हानि हो रही है। यदि कहें पार्टीवाद हानिकर नहीं है, कुछ स्वार्थीलोगोंद्वारा उसका जो दुरुपयोग किया जाता है, उसीसे ये सब हानियाँ हो रही हैं, अतः पार्टीवादको नहीं; अपितु दुरुपयोगको ही मिटाना चाहिये। तो हम आपके सत्य एवं उदार उद्गारका प्यारभरे हृदयसे

समादर करते हुए निवेदन करते हैं कि जातिवादको नहीं, अपितु दुरुपयोगको ही मिटानेका प्रयास कीजिये। सत्य ही नहीं, किंतु परम सत्य यह है कि किसी भी देशमें कभी भी वर्गोंका विभाग न रहे ऐसा सम्भव नहीं, अतः वर्गविभागविहीन समाजको देखना मनोराज्यमात्र है। यह बात दूसरी है कि वैदिक रीतिके वर्ग-विभागकी जगह किसी दूसरे रूपमें वर्ग-विभाग रहें या नये-नये बनाये जायँ।

इस प्रकार विस्तारसे जातिवादपर वैज्ञानिक विवेचन लिखा गया। इसे मनोयोगसे पढ़कर पाठकगण जहाँपर स्थित हैं वहींपर स्थित रह सकें और अधिक पतनसे अपनेको बचा सकें तो मेरा लेखन-श्रम इतनेमें ही सफल हो जायगा; क्योंकि इसे अधिक ऊँचा उठाकर वैदिक रीतिसे जातिवादके आधारपर समाजका पूर्ण उद्धार करना तो प्रभावशाली महानुभावोंके प्रादुर्भावके अभावमें असम्भव ही है।

उपसंहार

प्रस्तुत पुस्तकके प्रथम खण्डमें दिनचर्या, द्वितीय खण्डमें जीवनचर्या तथा तृतीय खण्डमें उपयोगी विविधचर्या-सम्बन्धी कुछ विधि-निषेधोंका यथामति वैज्ञानिक विवेचन किया गया। दिग्दर्शनके रूपमें लिखित इस संक्षिप्त विवेचनको मनोयोगपूर्वक पढ़नेवाले पाठकोंको वैदिक विधि-निषेधोंकी विविध विज्ञानमूलकताका आभास अवश्य ही प्राप्त होगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

अनादि-अपौरुषेय विधि-निषेधात्मक वेदोंका ही उपबृंहण सर्वज्ञ, समदर्शी, सर्वहितैषी ऋषियोंने धर्मशास्त्रोंमें किया है। शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक, लौकिक और अलौकिक प्रत्येक समस्यापर गम्भीर विचार किया है। प्रत्येक समस्याके स्थूलसे लेकर मूलकारणतकका प्रथम अन्वेषण किया, बादमें अन्य समस्याका अनुत्पादक तथा प्राप्त समस्याके सम्यक् समाधायक साधनका विधान किया।

सर्वज्ञ-समदर्शी दयालु ऋषियोंकी इस बहुमुखी, दूरदर्शी, वेदानुसारिणी, सर्वहितकारिणी विचारशैलीको हृदयंगम करते हुए अध्ययन करनेवाले पाठकोंके हृदयमें ऋषियोंके प्रति कृतज्ञताका सद्भाव अवश्य उदय होगा और उनके प्रति अपने अज्ञानसे कल्पित कठोरता, पक्षपात आदि असद्भावका अभाव हो जायगा। इतना ही नहीं; उनकी निदानमूला, अन्य दोषानुत्पादिका विचारशैलीका यथामति अपने कार्योंमें उपयोगकर अधिक-से-अधिक सफलता प्राप्त कर सकेंगे।

धर्मशास्त्र-प्रतिपादित लौकिक तथा अलौकिक विषयोंसे

सम्बन्धित विधि-निषेध वचन बहुत अधिक हैं; देश, काल, व्यक्ति, परिस्थिति तथा अवस्था आदिके भेदसे उनके भी अवान्तर बहुत भेद हैं। शरीर-विज्ञान, मनोविज्ञान, परिवार-विज्ञान, समाज-विज्ञान, अर्थ-विज्ञान आदि अनेक लौकिक विज्ञानों तथा आत्म-विज्ञान, परमात्म-विज्ञान, अधिदैव-विज्ञान, परलोक-विज्ञान आदि जिन अलौकिक विज्ञानोंके आधारपर उन विधि-निषेधोंका निदानपूर्वक विधान किया गया है, उन सब विधि-विज्ञानोंका सम्यक् ज्ञान अज्ञानग्रस्त असर्वज्ञ मनुष्यको न होनेके कारण सम्पूर्ण विधि-निषेधोंका वैज्ञानिक विवेचन कोई भी अतिविशाल ग्रन्थ लिखकर भी नहीं कर सकता।

यद्यपि उक्त कथन अकाट्य सत्य है, तथापि स्थाली-पुलाकन्यायसे इस ग्रन्थमें प्रतिपादित कुछ विधि-निषेधोंकी वैज्ञानिकताके आधारपर सम्पूर्ण विधि-निषेधोंकी वैज्ञानिकतापर पाठकोंको विश्वास हो सकता है, जिससे उन्हें वैदिकचर्यामय जीवन-यात्राका निर्वाह करनेमें सहायता प्राप्त हो सकती है।

परिशिष्ट

स्वभावका परिवर्तन कैसे हो?

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥

(गीता ३। ३३)

ज्ञानवान् भी अपनी प्रकृति अर्थात् स्वभावके अनुसार चेष्टा करता है। प्राणी प्रकृति अर्थात् स्वभावको प्राप्त होते हैं, अतः किसीका निग्रह क्या करेगा?

इस श्लोकको तथा अर्थको पढ़कर साधकोंके हृदयमें यह शंका होना अति स्वाभाविक है कि जब ज्ञानी सिद्ध महापुरुष भी अपने स्वभावके परवश होकर चेष्टा करते हैं, उनका भी निग्रह कुछ काम नहीं कर पाता, ऐसी दशामें अज्ञानी साधक साधनाद्वारा अपने स्वभावका परिवर्तन कैसे कर सकता है? इस शंकाका समाधान ही अगले श्लोकमें भगवान्‌ने किया है।

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥

(गीता ३। ३४)

इन्द्रियोंका अपने अर्थ अर्थात् विषयमें राग और द्वेष व्यवस्थित है, उन राग-द्वेषोंके वशमें नहीं आना चाहिये; क्योंकि राग और द्वेष ही इस साधकके महान् शत्रु हैं।

इन दोनों श्लोकोंके भावार्थका विस्तार करते हुए टीकाकार कहते हैं कि यद्यपि यह निर्विवाद सत्य है कि मनुष्य प्रकृति अर्थात् स्वभावके अनुसार ही चेष्टा अर्थात् सब प्रकारके शारीरिक, मानसिक एवं वाचिक व्यापार करता है तथापि राग-द्वेषका सहकार होनेपर ही स्वभावके

अनुसार चेष्टा या व्यापार होता है, राग-द्वेषका सहकार न होनेपर स्वभावके अनुसार व्यापार नहीं होता। जैसे सिंहका स्वभाव हिंसा करनेका है, तो भी द्वेषरूप सहकारीका अभाव होनेके कारण तथा ममतारूप बाधक विद्यमान होनेके कारण भूखा होनेपर भी वह अपने बच्चेकी हिंसा नहीं करता, वैसे ही शास्त्रीय विधि-निषेधोंके ज्ञानद्वारा सहकारी राग-द्वेषके वशमें न होनेपर स्वभाव अपने अनुसार चेष्टा अर्थात् व्यवहार न करा सकेगा, इस प्रकार स्वभावका सुधार अर्थात् परिवर्तन किया जा सकता है।

यहाँतक तो श्लोकोंका शब्दार्थ और टीकाकार आचार्योंका भावार्थ परम गम्भीरसारसे परिपूर्ण सिद्ध होता है। देखिये—सभी मनुष्य अपने स्वभावके अनुसार विचार, संकल्प एवं वचनव्यापाररूप चेष्टा करते हैं। यह जैसे सभीके अनुभवसे सिद्ध है, वैसे ही यह भी सभीके अनुभवसे सिद्ध है कि शारीरिक, मानसिक, पारिवारिक, सामाजिक, राजकीय तथा शास्त्रीय विधि-निषेधोंके ज्ञानद्वारा राग-द्वेषके वशमें न होकर शारीरिक, मानसिक एवं वाचिक-स्वाभाविक चेष्टाओंपर कभी-कभी विजय भी प्राप्त कर लेता है। इसी बातको शंका-समाधानपूर्वक विस्तारसे और अधिक समझाकर स्पष्ट किया जाता है।

शंका—ऊपर कहे गये शारीरिक, मानसिक, पारिवारिक, सामाजिक, राजकीय तथा शास्त्रीय सभी प्रकारके विधि-निषेधोंका ज्ञान रहते हुए भी तथा उनके प्रबुद्ध संस्कारोंद्वारा समयपर विरोध करते रहनेपर भी मनुष्य न चाहता हुआ भी बाह्य तथा आन्तरिक निषिद्ध चेष्टाएँ करता ही है, अतः यह कैसे माना जा सकता है कि ऊपर कहे विधि-निषेधोंके ज्ञानद्वारा राग-द्वेषरूप सहकारियोंका परिहार करके स्वभावका सुधार किया जा सकता है।

समाधान—उक्त विधिसे कभी-कभी कुछ स्थलोंमें विजय प्राप्त

हो जाती है, जबकि यह सभीके अनुभवसे सिद्ध है तब यह तो कहा ही नहीं जा सकता कि उक्त उपायसे विजय होती ही नहीं है। जैसे अतिप्रबल प्रवाह होनेपर नौका नदी-उत्तरणका साधन नहीं हो पाती, तो भी अतिप्रबल प्रवाहको छोड़कर अन्यत्र सर्वत्र नौका नदी-उत्तरणका साधन होती ही है, वैसे ही अतिप्रबल स्वभावको छोड़कर अन्यत्र सर्वत्र स्वभावका सुधार करनेमें सफलता मिलती ही है, यह बात भी तो सभीके अनुभवसे सिद्ध है।

शंका—आपका कथन सत्य है, तो भी यह बतायें कि अतिप्रबल स्वभावका सुधार कैसे होगा?

समाधान—जिन स्थलोंमें स्वभावका सुधार कर सकते हैं, उन स्थलोंमें प्रबल सुधार करना चाहिये, इससे स्वभावके सुधारकी कलामें आप चतुर हो जायेंगे, जिससे आप शनैः-शनैः अतिप्रबल स्वभावका सुधार करनेमें समर्थ हो जायेंगे। स्वभाव-सुधाररूप कार्यमें सच्चे हृदयसे की गयी ईश्वर-प्रार्थना भी बहुत सहायक होती है।

शंका—कुछ आचार्योंने तो '**निग्रहः किं करिष्यति**' इस वाक्यका यह अर्थ किया है कि 'ईश्वरका निग्रह भी क्या करेगा।' ऐसी दशामें ईश्वर-प्रार्थनासे सहायता कैसे प्राप्त होगी? यदि ईश्वर भी निग्रह नहीं कर सकता तो ईश्वर भी सर्वसमर्थ सिद्ध न होकर असमर्थ ही सिद्ध होगा।

समाधान—'ईश्वरका निग्रह भी क्या करेगा' ऐसा अर्थ जो कुछ आचार्योंने किया है, उसका तात्पर्य यह नहीं है कि ईश्वर क्रमशः शनैः-शनैः स्वभाव-सुधारमें भी सहायक नहीं हो सकता। उक्त वाक्यका तात्पर्य तो केवल इतना ही है कि ईश्वर भी एकदम हठपूर्वक नहीं रोकता। इतनेमात्रसे 'ईश्वर भी सर्वसमर्थ सिद्ध न होकर असमर्थ सिद्ध होगा' ऐसी शंका करना भी सर्वथा व्यर्थ है; क्योंकि हानिकर होनेके

कारण अतिप्रबल स्वभावका एकदम हठपूर्वक निरोध न होनेका नियम भी सर्वसमर्थ दयालु ईश्वरने ही बनाया है। अतः स्वनिर्मित नियमका पालन करनेवाले सर्वसमर्थ ईश्वरको असमर्थ कदापि नहीं कहा जा सकता।

शंका—यदि समयपर विधि और निषेधका ज्ञान उदित ही न हो तो फिर सफलता कैसे मिलेगी ?

समाधान—जहाँ-जहाँ समयपर ज्ञान उदित हो जाय, वहाँ-वहाँ सफलताप्राप्तिका प्रयास करना चाहिये। इसका फल यह होगा कि दूसरे समयमें भी ज्ञानका उदय शीघ्र होगा तथा सफलताप्राप्तिके लिये उत्साह बढ़ेगा।

शंका—जिन्हें विधि-निषेधका बिलकुल ज्ञान प्राप्त नहीं, उन्हें कैसे सफलता प्राप्त होगी ?

समाधान—मनुष्य जिस देश और कालमें उत्पन्न होता है, उस देश तथा कालमें प्रचलित शारीरिक, मानसिक, पारिवारिक, सामाजिक, राजकीय तथा शास्त्रीय विधि-निषेधोंके ज्ञानोंसे सर्वथा रहित हो—ऐसा हो ही नहीं सकता।

शंका—विपरीत स्वभावकी प्रबलताके कारण विधि-निषेधके ज्ञानोंका उदय ही कैसे होगा ?

समाधान—कभी-कभी कुछ स्थलोंको छोड़कर प्रायः विधि-निषेध-ज्ञानोंका उदय होता ही है, यह बात सबके अनुभवसे सिद्ध है, अतः अनुभवविरुद्ध होनेसे शंका बनती ही नहीं।

इस प्रकार विस्तारसे साधकोंके हृदयागारमें होनेवाली शंकाओंको उठाकर उनका परिहार करके विषयको स्पष्ट किया गया। यहाँ विशेष ध्यान देनेयोग्य बात यह है कि जैसे रोग-निवृत्तिमें औषधिकी प्रधानता होती है तो भी अचूक रामबाण औषधिद्वारा भी उसीके रोगकी निवृत्ति होती है, जो औषधिके सहायक सुपथ्यका सेवन तथा कुपथ्यका

परित्याग करता है। वैसे ही 'विधि-निषेधज्ञानद्वारा राग-द्वेषके वशमें न होना' यह गीतोक्त साधन ही स्वभाव-परिवर्तनकी एकमात्र अचूक रामबाण औषधि है तो भी इससे उसी साधकके स्वभावका परिवर्तन होता है, जो सात्त्विक आहार-विहार, रहन-सहन, सत्संग-वातावरण आदि सहायक सुपथ्यका सेवन तथा इसके विपरीत राजस और तामस आहार-विहार आदि कुपथ्यका परित्याग करता है।

उदाहरणके लिये कामुक-स्वभावका परिवर्तन करनेकी इच्छावाला साधक यदि कामवर्धक मांस-मदिरा, प्याज-लहसुन आदि राजस तथा तामस आहारका सेवन करता रहेगा, अनंग (काम)-वर्धक, अंग-प्रदर्शक, चटकीले-भड़कीले वस्त्रोंको धारण करेगा, अश्लील चलचित्र (सिनेमा, टेलीविजन) देखेगा तथा गन्दे उपन्यासोंको पढ़ेगा तो उस साधक को विधि-निषेधोंके ज्ञानमात्रसे स्वभाव-परिवर्तनमें सफलता नहीं मिलेगी।

कुछ सच्चे साधक यह प्रश्न कर सकते हैं कि जैसा आपने ऊपर लिखा है, हमने उसी प्रकार सात्त्विक आहार-विहार आदि सुपथ्यका सेवन तथा राजस-तामस कुपथ्योंका परित्याग करके स्वभाव-परिवर्तन करनेका साधन किया है तो भी अमुक स्वाभाविक दोषका दमन करनेमें कोई उल्लेखनीय उन्नति क्यों नहीं हुई? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि 'कुछ भी उन्नति नहीं हुई' ऐसा तो कोई सच्चा साधक कह ही नहीं सकता, उल्लेखनीय उन्नति न होनेका तो एकमात्र कारण स्वाभाविक दोषकी अतिशय प्रबलता ही है, जिसपर विजय निग्रहसे अर्थात् एकदम हठपूर्वक रोक लगानेसे नहीं, अपितु धैर्ययुक्त बुद्धिसे साधना करते रहनेपर शनैः-शनैः ही प्राप्त होगी, उतावली करनेसे काम नहीं होगा। गीतामें भगवान्‌ने स्पष्ट कहा है—

'शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया।'

(गीता ६। २५)

'स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा॥'

(गीता ६।२३)

अर्थात् धैर्ययुक्त बुद्धिसे शनैः-शनैः उपराम होवे। बिना उकताये निश्चययुक्त चित्तसे उस योगको करना चाहिये।

तात्पर्य यह है कि जैसे अति तीव्र वेगसे चलती हुई गाड़ीको हठपूर्वक एकदम रोकनेसे गाड़ी तो रुकती नहीं, अपितु गाड़ी तथा चालकको हानि भी पहुँचती है, वैसे ही अतिशय प्रबल स्वभावको हठपूर्वक एकदम रोकनेसे स्वभावमें परिवर्तन तो होता नहीं, अपितु शारीरिक एवं मानसिक विकृति हो जाती है, जिससे साधक की हानि ही होती है। इस हानिको ध्यानमें रखकर ही भगवान्ने शनैः-शनैः उपराम होनेको कहा है। कुछ टीकाकारोंने भी उक्त हानिको तथा भगवान्के उक्त वचनोंको भी ध्यानमें रखकर ही यह अर्थ किया है कि 'भगवान्का निग्रह (हठ) क्या करेगा।' भगवान्को असमर्थ मानकर वैसा अर्थ नहीं किया। ऊपरके विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि 'निग्रह' का अर्थ यहाँ हठपूर्वक एकदम रोकना ही है, उसीको भगवान् तथा टीकाकार व्यर्थ बता रहे हैं। शनैः-शनैः रोकना तो सम्भव ही है, इसीलिये स्वभाव-परिवर्तनका उपाय आगेके श्लोकमें बताया है। यदि स्वभावका परिवर्तन सर्वथा असम्भव है, ऐसा भगवान्को मान्य होता तो उपाय ही क्यों बताते?

यदि किसीको मन और इन्द्रियोंकी अत्यधिक प्रबलताके कारण विधि-निषेधका ज्ञान समयपर उदित होनेपर भी छोटे-छोटे स्थलोंपर भी सफलता प्राप्त नहीं होती हो तो उसे अपने ऊपर दण्ड-विधान करना चाहिये। दण्ड-विधान ऐसा करना चाहिये, जिसके कारण अपनेको ही पर्याप्त कष्ट उठाना पड़े, जैसे किसीको नमकके बिना भोजन करना कठिन पड़ता हो तो उसे दण्ड-विधान करना चाहिये कि

यदि प्रतिज्ञापालनमें सफल न हुआ तो एक दिन या एक सप्ताह नमक नहीं खाऊँगा। सफल न होनेपर नमक न खानेके कारण जो बेचैनी होगी, वह बेचैनी पुनः असफलताका अवसर आनेपर सामने आकर खड़ी हो जायेगी, जिससे सफलता प्राप्त करनेमें बहुत अधिक सहायता मिलेगी। इस प्रकार स्वभावका शनैः-शनैः सुधार हो जायगा।

यहाँ यह ध्यान दिलाना भी आवश्यक है कि मांस-मदिरा-भक्षण, चोरी, व्यभिचार, हिंसा, गाली-गलौज तथा मारपीट करा देनेवाले भयंकर क्रोधादि लोक-परलोकमें दुःखदायी दोषयुक्त स्वभावका सुधार करनेके लिये ही कठोर दण्डका विधान करना चाहिये। अधिक नमक खाने-जैसे क्षुद्र दोषयुक्त स्वभावका सुधार करनेके लिये न तो कठोर दण्डका विधान ही करना चाहिये और न अधिक संघर्ष ही करना चाहिये; क्योंकि ऐसे क्षुद्र दोषोंसे न तो कोई लौकिक या अलौकिक प्रचुर हानि ही होती है और न साधनमें ही कोई बड़ी बाधा आती है। ऐसे क्षुद्र दोष तो कालान्तरमें प्रायः अपने-आप ही नष्ट हो जाते हैं।

वात-पित्त-कफप्रधान प्रकृति होनेसे भी नमक आदि पदार्थ अधिक खानेकी रुचि होती है, ऐसी दशामें उन्हें न खाना तो हानिकर और खाना ही लाभप्रद होता है। जैसे पित्त कटु और उष्ण होता है, अतः पित्तप्रधान व्यक्तिको उसे शान्त करनेवाले मधुर और शीतल पदार्थ खानेकी इच्छा अधिक होती है, उनका खाना ही उसके लिये हितकर और न खाना अहितकर होता है। इस प्रकार विचारपूर्वक साधनद्वारा जबकि अपने स्वभावका भी शनैः-शनैः परिवर्तन किया जा सकता है, तब मन तथा इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त कर लेना तो सर्वथा सम्भव ही है।